दिव्य मानव बनने की कुंजी

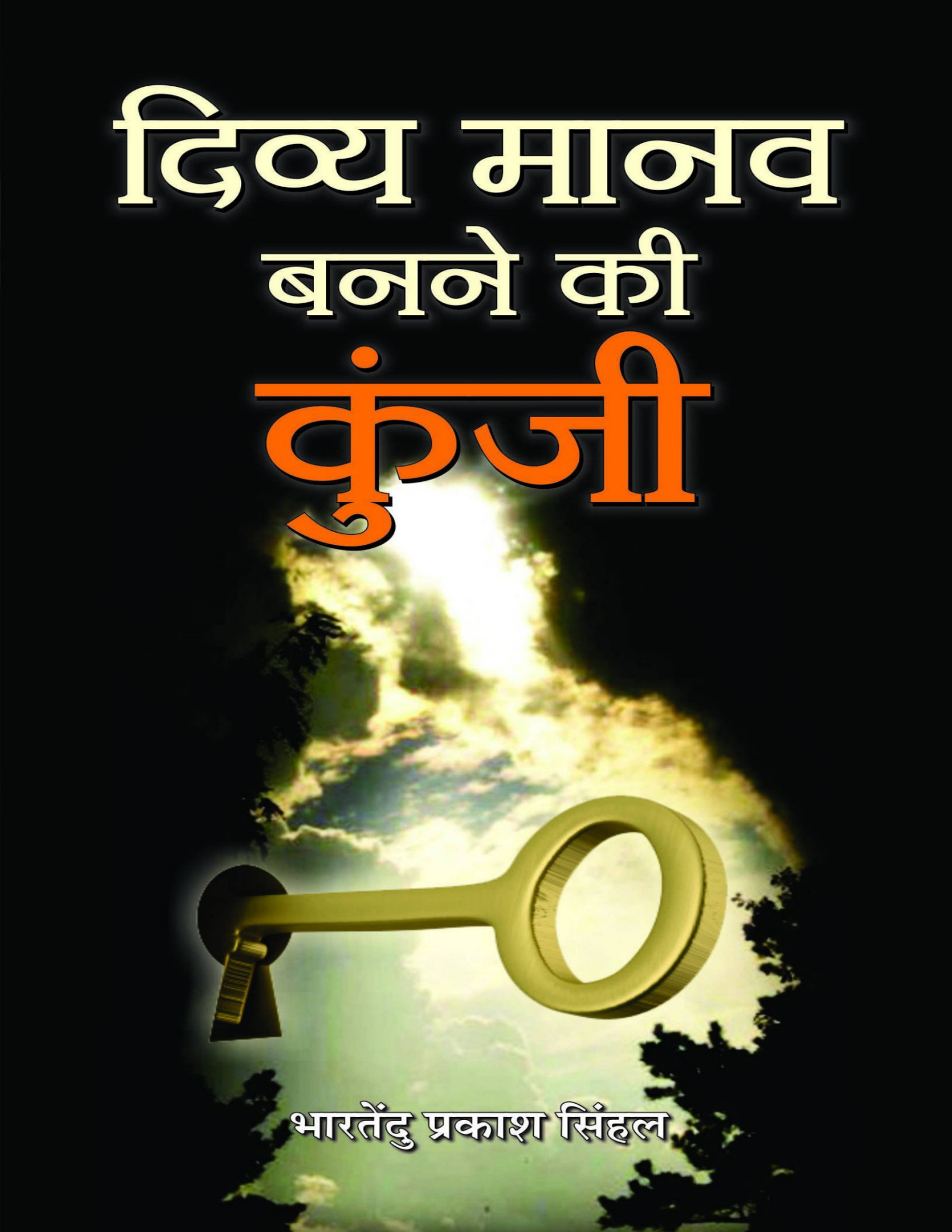

भारतेंदु प्रकाश सिंहल

दिव्य मानव बनने की कुंजी

भारतेंदु प्रकाश सिंहल

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001 : 2015 प्रकाशक

यह ग्रंथ मेरे एकमात्र पुत्र अशेष की पुण्य स्मृति
को समर्पित है। उस प्रचंड शक्तिपुंज ने अपना
21 वर्ष का संपूर्ण जीवन 'माँ की पुकार'
के वचनों को ही आधार
बनाकर जिया था।
विधाता के किसी अद्‌भुत विधान के अधीन
4 अक्तूबर, 1981 को एक सड़क-दुर्घटना
के माध्यम से उसे महाप्रभु के चरणों
में जाना पड़ा।

भूमिका

बचपन से ही कुछ ऐसे अनुभव होते गए, जिनसे जीवन के संबंध में प्रश्न-पर-प्रश्न उठते रहते। जैसे अंत:करण से दो परस्पर विपरीत आवाजों का आना। आवाज सूर्योदय से पहले उठने को कहती तो दूसरी आवाज सोते रहने का आग्रह करती। स्कूल में बताया गया कि यदि चरित्र गँवा दिया तो समझो सबकुछ लुटा दिया—पर चरित्र क्या है, यह कोई नहीं बता पाता? अपने जीवन के उद्देश्य के बारे में पूछता तो कोई उत्तर न आता। बताया जाता कि यह प्रश्न तो यक्ष ने युधिष्ठिर से भी पूछा था कि (जीवन की) 'दिशा क्या है?' और उनका उत्तर था कि जिस मार्ग पर श्रेष्ठ जन चलते हैं, उसी को अपने जीवन की दिशा बनाना—पर श्रेष्ठता की कोई परिभाषा नहीं दी गई। प्रगति करने की आकांक्षा हरएक के अंदर पाता, पर प्रगति किसे कहते हैं, यह कोई नहीं बता पाता। बताया गया कि झूठ बोलना सबसे बड़ा पाप है, पर हरदम सच बोलने से हमें क्या मिलेगा? सो कोई नहीं बता पाता, आदि कितने ही प्रश्न खड़े होते गए।

ऐसे अनेक प्रश्नों के भार को लिये मैंने कुछ प्रश्नों के उत्तर खोजने चाहे, तो देर-सवेर कुछ प्रश्नों के उत्तर अचानक अंत:करण में प्रकट हो गए। मेरे लिए यह एक चमत्कार ही था। 'यह कैसे हुआ', इसका उत्तर मेरी माँ ने दिया—''तुम्हारे अंदर परमात्मा का एक संपूर्ण अंश 'आत्मा' के रूप में वास करता है और वह आत्मा परमात्मा की तरह सर्वज्ञ है; सच्चे हृदय से अपने अंत:करण में प्रश्न भेजोगे तो हर प्रश्न का उत्तर निश्चय ही प्रकट होता चला जाएगा।'' और वास्तव में ऐसा ही होता चला गया। मेरा अपने से यह आग्रह था कि सभी उत्तर तर्क की कसौटी पर खरे उतरें। अत: सबसे अद्भुत बात यह रही कि सारे उत्तर तर्क के आधार पर ही प्रकट होते गए थे। इस तरह 'माँ की पुकार' पूर्ण रूप से मौलिक ग्रंथ बन गया, और सारे विचार तर्क की कसौटी पर कदाचित् खरे उतरेंगे।

समाज में, विशेषतया युवाओं में व्यापक रूप से दिशा विहीनता व्याप्त थी, अस्तु 1962 से मैं स्कूल-कॉलेजों में इन विचारों को प्रस्तुत करने लगा। 4 मई, 1975 को जब तपती गरमी में एस.आर.के. कॉलेज फिरोजाबाद में 3-4 हजार विद्यार्थी एवं अध्यापकों से अपनी बात कहकर बैठा तो घड़ी देखकर आश्चर्य हुआ कि मेरी वार्त्ता सवा चार घंटे चली और हॉल में सभी बड़ी तन्मयता से सुनते रहे। उस दिन मैंने उन विचारों के लिए इतनी उत्कट भूख देखी तो निर्णय किया कि इन विचारों का पुस्तक के रूप में संकलन होना ही चाहिए। अस्तु मूलग्रंथ 'माँ की पुकार' का निर्माण 1981 तक हो गया, परंतु अपनी पुलिस सेवा की व्यस्तता के कारण वह 1993 में जाकर प्रकाशित हो पाया। पर पुस्तक 656 पृष्ठों की हो गई। अनेक शिक्षाविदों ने बार-बार आग्रह किया कि इस ग्रंथ को कई भागों में बाँटकर प्रकाशित किया जाए तो यह अधिक लोगों तक पहुँचेगा।

अस्तु 'माँ की पुकार' को चार भागों में बाँटा गया है और 'दिव्य मानव बनने की कुंजी' शीर्षक से यह द्वितीय भाग आपके समक्ष प्रस्तुत है।

—भारतेंदु प्रकाश सिंहल

प्राक्कथन

वह क्या थी? कौन थी? कैसी थी?

सहस्त्रों वर्ष पूर्व की बात है, जब एक 'माँ' थी। हमारे पूर्वज बताते हैं कि उस माँ के आँचल में दूध की नदियाँ बहती थीं। उसके पुत्र होते थे तो ऐसे कि जिनके विचारों से, जिनकी वाणी से, जिनके विज्ञान से समस्त संसार ने विचार, वाणी और विज्ञान पाया। जिनका तेज, पराक्रम और पुरुषार्थ ऐसा होता था कि आज के मानव को विश्वास ही नहीं हो सकता कि किसी काल में मानव उस दिव्यता को भी प्राप्त हुआ होगा।

फिर क्रूर काल की गति ऐसी चली कि उसके पुत्र पुरुषार्थहीन हो चले। वे दूध की नदियाँ सूखने लगीं और सूख गईं। निर्दयी पुत्र फिर भी अपनी भूख मिटाने के लिए दूध की जगह उस माँ का रक्त पीने लगे। आज यह अवस्था आ गई है कि उस माँ की देह में रक्त भी नहीं बचा। पर लंबे-लंबे माँगनेवाले हाथ फिर भी उस धैर्यमयी से माँगते ही जा रहे हैं। अपने स्वार्थ के लिए उसका मांस तक नोच-नोच कर खाने लगे हैं। अब ले-देकर परम गौरवमयी, परम पुनीत, कोटि-कोटि पुत्रों के होते हुए भी पुत्र-विहीन-सी, उस माँ का केवल हाड़ बचा है। सो शायद उसको भी चबाकर ही दम लेंगे, ऐसा जान पड़ता है...

...''हमारी माँगें पूरी हों''...''हमारी माँगें पूरी हों'' इस नारे से समस्त दिशाएँ गूँज उठी हैं। आज जिधर देखें, उधर बस माँगें ही माँगें हैं। विद्यार्थी हों या अध्यापक, मज़दूर हों या किसान, कर्मचरी हों या अधिकारी, डॉक्टर हों या इंजीनियर, सब माँग ही रहे हैं। मानो यह सारा-का-सारा राष्ट्र ही भिखारी हो चला।

जब सारा राष्ट्र ही भीख माँगेगा, तो देनेवाला कौन है?

कितना घातक भ्रम है लोगों में, जो समझते हैं कि देने का काम शासन का है, सरकार का है। सब सोचते हैं कि सरकार ने हमारे लिए यह नहीं किया, वह नहीं किया। यह नहीं दिया, वह नहीं दिया। कितनी भयंकर भूल है! संभवत: इस देश के नेतृत्व ने राजनीतिक स्वार्थ में पड़कर देशवासियों से लुभावने वादे कर-करके लोगों की मानसिकता ही विकृत कर दी। वे अपने स्वाभिमान को भूलकर केवल माँगनेवाले बन बैठे।

इन अपमानित, भूले-भटके पुत्रों की दुर्दशा देखकर ही वह परम वात्सल्यमयी 'भारत माँ' पुकार उठी :

''ऐ मेरे नादान बच्चो, शासन तो केवल मेरा मुनीम है, वह क्या दे सकेगा किसी को। देनेवाली तो मैं और केवल मैं ही हूँ और मैं भी देती, तो कब तक?...''

''है कोई इन कोटि-कोटि पुत्रों में, जो इस अभागी माँ को कुछ दे सके? है कोई, जो इस अबला की लाज को ढक सके? अपने संभ्रमित स्वार्थी भाइयों से पूछ सके कि ऐ मेरे भाइयो! जब सब ही माँगेंगे तो ये माँ देगी कहाँ से?... तुम इतने निर्मम तो न थे... यह क्या हो गया तुम्हें?''...

''...क्या माँ को भी कोई भुलाता है?...कहाँ गई वह मातृ-भक्ति? कहाँ गया वह स्वाभिमान?...एक बार तो देख ले कि क्या गत है उसकी...''

चीत्कार कर उठी है माँ और पूछ रही है कि :

''है कोई वीर जो इस माँ को इस योग्य बना सके कि वह पुन: अपनी उस गरिमा, उस गौरव, उस शक्ति को पा सके जिसके तेज से सारा संसार उसे नमन करता था?... जिसके आँचल में दूध की नदियाँ बहती थीं...जिसे संसार सोने की चिड़िया के नाम से पुकारता था?... राम, कृष्ण, बुद्ध, कबीर, नानक, शिवाजी, लक्ष्मीबाई, तिलक, गांधी, सुभाष के देश में इस माँ को कुछ दे सके? ऐसा सपूत पाना क्या इतना दुर्लभ हो गया?''

मानो एकबारगी इस देश के कोटिश: युवा पुत्रों की हुँकार एक साथ निकलकर कह रही हो :

''बस! मेरी माँ! अति प्यारी माँ!! बस!! बस!! हम बनेंगे वह पुत्र!! अब तू और उलाहना मत दे। हमारी रगों में तेरा ही पवित्र रक्त है। हम अब तुझे देनेवाले ही बनेंगे। देश ने क्या दिया हमें, अब यह प्रश्न कभी न होगा। बस, एक बार हमें दिशा दिखा दे कि देनेवाला सपूत कैसे बनता है; क्या लक्षण होते हैं उसके; क्या करना है वैसा बनने के लिए, सो बता दे मेरी माँ! फिर देख कि तेरा एक-एक पूत क्या कर गुजरने की सामर्थ्य रखता है! अब तो हमें जीवन में तुझे देना ही है। तेरी सौगंध मेरी माँ, लेने के लिए अब तो केवल तेरा आशीर्वाद ही चाहिए।''

अपने जिगर के टुकड़ों के लिए उस निर्धन परंतु परम साहसी भारत माँ ने अपने बेटों की इस पुकार पर जो मार्ग दर्शाया है, उसी को लेखनी में उतारकर अपने भाइयों को भेंट करने का कर्तव्य मैंने पूरा किया है। आगामी पृष्ठों में उस परम तेजस्विनी, परम तपस्विनी माँ भारत की पुकार है, जो उसने अपने पुत्रों को संबोधित करके ही की है।

मार्टिन लूथर किंग ने कहा था—''किसी राष्ट्र की शक्ति की परख इससे नहीं होती कि उसके कोषागार में कितनी दौलत जमा है। न इस पर निर्भर करती है कि उस राष्ट्र ने अपने बचाव के लिए कितनी किलेबंदी की हुई है। और न इस पर ही निर्भर करती है कि उस देश की अट्टालिकाएँ कितनी भव्य अथवा गगनचुंबी हैं। वरन् किसी देश की शक्ति का मूल आधार है तो केवल एक कि उस देश के सपूत कितने जागृत हैं, कितने पुरुषार्थी हैं, कितने चरित्रवान हैं।''

आज हमें यह सुनने को मिलता है कि इस देश में चरित्र नाम की कोई चीज नहीं रह गई है। मौलिक मान्यताएँ तो लुप्तप्राय हो गई हैं। कहीं कोई अनुशासन नहीं रह गया। स्वार्थ, आपाधापी, पदलोलुपता, भ्रष्टाचार, कालाबाजार, तस्करी, वैमनस्य, हिंसा और प्रतिहिंसा, बस इसी का चलन रह गया है। सत्य, सौंदर्य और शक्ति—ये सब केवल पैसों में आँकी जानेवाली वस्तुएँ बनकर रह गई हैं। पैसा ही सर्वोपरि मूल्य है। जिसके पास पैसा है, वही सर्वशक्तिमान है। और गरीब? गरीब को जीने का अधिकार नहीं है। अत:, पैसेवाला बनो, चाहे चोरी करके, तस्करी करके, या चाहे लूटकर। यही आस्था आज के समाज में घर-सी करती जा रही है।

पहले कहते थे—ईमानदारी ही सर्वोत्तम मार्ग है। आजकल सुनने में आने लगा है कि केवल नादान लोग ईमानदारी बरतते हैं। और शायद वह दिन दूर नहीं, जब कहा जाएगा कि बेईमानी ही सर्वोत्तम मार्ग है। इसमें संदेह नहीं कि जहाँ पहले 'रिश्वत' और 'घूस' जैसे शब्द सुनने मात्र से एक घृणा सी मन में उठती थी, वहाँ अब इसकी चर्चा खुलेआम करने में भी लोग अघाते नहीं हैं।

किसी को एक रुपया भी यदि बगैर मेहनत के मिल जाए तो उसे लेने से बाज आनेवालों की संख्या इतनी अल्प होती जा रही है कि सत्य और ईमानदारी में विश्वास रखनेवाले व्यक्तियों के मन में रह-रहकर यही बात उठने लगी है कि कहीं वास्तव में वे ही तो नादान नहीं हैं! पवित्र संस्कारों और आचरण से पुष्ट की गई सच्चाई और ईमानदारी में अच्छे-अच्छों की आस्था डिगती सी जा रही है।

पैसा कोई पाप है, ऐसा मैं नहीं मानता। सत्य तो यह है कि पैसे से ज्यादा पुनीत और पवित्र वस्तु शायद ही कोई हो। जब हमने खेतों में, खदानों में और मिलों में खून-पसीना बहाया, तब उससे जो उपलब्ध हुआ, उसी की एवज में वह पैसा हमारे पास आया। वस्तुत: पैसा हर इंसान के खून और पसीने का प्रतीक है। और मेहनत के पसीने से पवित्र तो शायद केवल गंगाजल ही हो तो हो। पैसा पाप तभी बनता है जब हमारी मेहनत, हमारे खून और पसीने की कीमत बगैर चुकाए हमारे पास आ जाए, अन्यथा पैसा पाप नहीं पवित्रतम् वस्तु है। यह पैसे की पवित्रता का ही द्योतक है कि यदि वह किसी पापी और चरित्रहीन के हाथों में आ जाता है तो पैसा उससे तत्काल दूर हो लेता है। अत:, पाप पैसे में नहीं, उस प्रवृत्ति में है, जो बगैर पूरी मेहनत किए पैसे को अपनाने की इच्छा रखती है।

मनुष्य जाति का संभवत: सबसे दुर्भाग्यपूर्ण दिन वह था जिस दिन पहली बार पैसा टकसाल में बनना शुरू हुआ। जब एक कागज के टुकड़े पर कीमत की मुहर तो लग गई, पर उस कीमत के पीछे जो पसीना लगना चाहिए था, वह नहीं लग पाया। बिना 'श्रम की गंगा' में नहलाए किसी वस्तु पर कीमत की मुहर लगा देना, मनुष्य जाति के प्रति सबसे भयंकर अपराध हुआ। सर्वप्रथम यह अपराध राष्ट्रों की सत्ताओं ने किया। कालांतर में मानव भी बिना मेहनत के, मूल्यवान कागजों के टुकड़ों को बटोरने की कला सीख गया। आज वही प्रवृत्ति मनुष्य जाति के लिए अभिशाप बन गई।

जिस मानव-समाज में प्यार और सौहार्द की अविरल सरिता बहती थी, आज घृणा, उपेक्षा और वैमनस्य व्याप्त है। विद्यार्थी अध्यापकों से घृणा करते हैं, अध्यापक विद्यार्थियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। मजदूर मिल-मालिकों से घृणा करते हैं, मिल-मालिक मजदूरों को केवल धनोपार्जन का माध्यम समझते हैं। जनता शासनतंत्र से घृणा करती है, शासनतंत्र जनता को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। समस्त राष्ट्र को जैसे घृणा, उपेक्षा और संकीर्णता का घुन सा लग गया प्रतीत होता है। औदार्य, प्यार और बंधुत्व की भावनाएँ अजनबी सी हो चलीं।

...तो यह सब कब, क्यों हो गया? यह प्रवृत्ति बदले तो कैसे बदले? आज भारत का युवक इतना बेचैन क्यों है? पथभ्रष्ट सा, मतभ्रष्ट सा क्यों है? उसकी दिशा क्या है? उसे दिशाबोध कैसे हो? उसे चैन कैसे मिले? व्यक्ति इतना दुर्बल कैसे हो गया? इतना संकीर्ण कैसे हो गया? चरित्र इस पुनीत भूमि से कहाँ लुप्त हो गया? उस चरित्र का स्वरूप क्या है? उसकी परिभाषा क्या है? उसका निर्माण कैसे होता है? बेईमानी और पाप क्यों इतने बलवान हो गए, कैसे हो गए? उन्हें पुन: काबू में कैसे लाया जा सकता है? धर्म क्या है? विवेक क्या है? मानव कौन है? मानव जीवन का उद्देश्य क्या है? उसे कौन निर्मित करता है? वह कैसे निर्धारित होता है? विराट महामानव कहाँ चले गए? सब इतने बौने कैसे हो चले? मानव पुन: अपनी दिव्यता कैसे प्राप्त कर सकता है? प्रगति क्या है? अधोगति के लक्षण क्या हैं? अनुशासन क्या है? उसकी परिभाषा क्या है? काम क्यों किया जाए? काम की महिमा क्या है? काम करने से क्या मिलेगा? काम कैसे किया जाए? प्रत्येक व्यक्ति अपने दारिद्रय को कैसे दूर कर सकता है? कैसे सशक्त बन सकता है? जीवन कैसे जिया जाए? जीवन का वास्तविक अर्थ क्या है? उसे सार्थक कैसे बनाया जाता है? सफलता किसे कहते हैं?

इन कुछ ज्वलंत प्रश्नों को लेकर उस परम तपस्विनी माँ ने इनके उत्तर दिए हैं; अकाट्य तर्क के आधार पर उत्तर दिए हैं। ऐसे उत्तर कि जिनको जानने के उपरांत संभवत: मन में कोई संशय बाकी न रह सके।

खेल की महिमा क्या है? स्पोर्ट्समैन स्पिरिट क्या है? खेल किस नीयत से खेलें? खेल के मैदान से क्या-क्या सबक मिलने होते हैं? खेलों का जीवन से क्या नाता है?

मानव भ्रमित सा क्यों है, भयभीत क्यों है? सब सुख ही क्यों चाहते हैं? सुख, आनंद और परमानंद में वास्तविक अंतर क्या है? इसकी अनबुझ प्यास व्यक्ति में क्यों है? अंत:करण में शांति कहाँ से प्राप्त होती है, कैसे प्राप्त होती है? मानव के मौलिक मूल्यों का आधार क्या है, वे मौलिक क्यों माने जाएँ? आज के मूल्यों में बुराई है तो क्या है, क्यों है, उन्हें गलत किस आधार पर कहा जा रहा है? पुराने मूल्यों पर चलने से क्या मिलेगा, कैसे मिलेगा? जीवन में प्राप्त करनेवाले तत्त्व क्या हैं, उनको मूल्यवान किस आधार पर कहा जाता है? श्मशान की शांति और एक महात्मा के हृदय में व्याप्त शांति में क्या अंतर है? जीवन में निर्भयता कैसे आती है? प्रलोभन पर विजय कैसे प्राप्त होती है? मानसिक और नैतिक आलस्य क्या है, उसे कैसे दूर किया जाता है? चिंता, ईर्ष्या, द्वेष, ग्लानि, दैवी विपत्ति इत्यादि द्वारा अपनी शक्ति का व्यापक अपव्यय करनेवाली गतिविधियों पर विजय कैसे प्राप्त होती है? क्रोध का शमन कैसे होता है? नैतिकता क्या है? निर्मलता क्या है? हृदय की पवित्रता किस स्थिति को कहते हैं? अहंकार

क्या है, उसका स्वरूप कैसा है, वह विनाश क्यों कराता है, उसका शमन कैसे होता है? क्या प्रारब्ध भी मानव अपने पुरुषार्थ से क्षय कर सकता है? यदि हाँ, तो किस विधि से? कैसा भी प्रारब्ध हो, मानव में वह सामर्थ्य कैसे आ सकती है कि उसे दु:ख छूने में असमर्थ हो जाए? संसार में रहते क्या दु:ख से निवृत्ति संभव है? यदि हाँ, तो कैसे? क्या भगवान् है? यदि है तो उसका स्वरूप कैसे जाना जा सकता है? मानव का जीवन इतना विषम क्यों हो गया? उसकी विषमताओं का समाधान कहाँ है? इन बहुत से, अब तक न समझ में आनेवाले प्रश्नों, शब्दों तथा संबोधों के रहस्य, 'माँ' ने आज के युग के मानव के लिए उसी की भाषा में इस प्रकार खोलकर रख दिए हैं कि सब अत्यंत सरलता से हृदय में समा जाएँ।

प्राप्त उपलब्धियाँ बनी रहें, इसे कोई भी सुनिश्चित नहीं कर सकता। दुर्घटनाएँ किसी के भी जीवन में आ सकती हैं। ऐसा होने पर वह टूटने न पाए, अपितु दुर्घटनाओं के प्रभावों को हँसते-हँसते न सही, कम-से-कम मुसकराते हुए वहन कर ले जाए, यह शक्ति मानव कैसे सृजित कर सकता है? प्रियजन के जाने के बिछोह को कैसे वहन करे? जीवन किस प्रकार आधुनिक दिव्य विमानों की तरह इतना ऊपर उठाया जा सकता है कि कैसी भी आँधी, पानी और बिजली गिरे, उसकी उड़ान अवरुद्ध न होने पाए? क्या परमानंद, परम शांति हर व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है? यदि हाँ, तो कैसे? भगवान् राम का जब कोई प्रारब्ध संभव नहीं तथा जीवन में उन्होंने कभी दुष्कर्म नहीं किया, तो फिर उन्हें यातनाएँ क्यों सहनी पड़ीं? क्या 'जैसा करोगे, वैसा भरोगे' राम के लिए लागू न था? तो अच्छे कर्म करने पर भी इतने दु:ख राम ने क्यों उठाए? राम के मार्ग पर आस्था बने, तो क्यों बने, कैसे बने? क्या आध्यात्मिक शक्ति भौतिक उपलब्धियों के लिए प्रयुक्त हो सकती है? यदि हाँ, तो कैसे? मानव भौतिक जगत् में चमत्कारिक सफलताओं को कैसे सुनिश्चित कर सकता है? क्या भाग्य अथवा नक्षत्रों के अधीन कुछ होता है? यदि नहीं, तो कैसे? जीवन में क्या सफलता को अनवर्य बनाया जा सकता है? यदि हाँ, तो कैसे? क्या जीवन का प्रत्येक दिन, प्रत्येक क्षण परम आनंद में बिताना सामान्य-से-सामान्य मनुष्य के लिए संभव है? यदि हाँ, तो कैसे?

देखने में असाध्य से प्रश्न, असंभव से संबोधों के रहस्य, जिस सहजता से उस परम करुणामयी ने अपने अत्यंत प्यारे बेटों के लिए प्रस्तुत किए हैं, संभवत: उन्हें समझने के उपरांत अपने जीवन को सार्थक बनाने की कुंजी प्रत्येक भारतवासी को प्राप्त हो जाना दुर्लभ न रह जाएगा।

ऐसी अनुपम कृपा करके परम ममतामयी माँ भारत ने अपने पुत्रों को एक शक्तिपुंज, शक्ति सम्राट् बन जाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। जो प्रार्थना उसके पुत्रों ने की थी—''हे माँ, तू मार्ग भर दिखा दे तो आजीवन केवल देनेवाला ही बनूँगा।'' उस परम कल्याणमयी ने उस मार्ग की संभवत: कोई दिशा नहीं छोड़ी, जिस पर प्रकाश न डाला हो।

इसके बाद तो वह अब केवल टकटकी लगाए अपने अतिशय प्यारे, परम वीर, परम साहसी, तेजपुंज पुत्रों के स्वरूपों के उदय होने की ही राह देख रही है। संकल्प-विकल्प का समय नहीं रहा...यदि सपूतों ने अब किंचित् भी विलंब किया, तो वे तरसती आँखें कहीं ऐसे ही पथरा न जाएँ...

इस देश का शायद ही कोई नेतृत्व बचा होगा जिसने राष्ट्र की गरीबी को दूर करने, उसके दारिद्र्य को मिटाने का दावा न किया हो। वे सोर दावे केवल उनकी उस कामना के प्रतीक हैं जो इस राष्ट्र को दरिद्रता से मुक्त हुआ देखना चाहती है। पर वे दरिद्रता मिटा सकेंगे, यह नितांत असंभव है। यथार्थ तो यह है कि व्यक्ति की दरिद्रता उस व्यक्ति के अलावा अन्य कोई भी दूर नहीं कर सकता। फिर आर्थिक संपन्नता दिला भी दी जाए, पर यदि वैयक्तिक रूप से चरित्र तथा पुरुषार्थ का दारिद्र्य है तो वह आर्थिक संपन्नता दो दिन उसके पास न टिक सकेगी। संपन्नता पुरुषार्थ के अधीन है। पुरुषार्थ सामर्थ्य के अधीन है। सामर्थ्य शक्ति के अधीन है और शक्ति चरित्र तथा जीवन के केंद्रीकरण में

निहित है। जब व्यक्ति चारित्रिक शक्ति का सृजन करके अपने जीवन के उद्देश्य को स्पष्ट रूप से जानने के उपरांत उसी दिशा में मन, वचन और कर्म से चल पड़ता है, तो उसका जीवन केंद्रीभूत होकर चलता है। ऐसी निर्दिष्ट दिशा में केंद्रीभूत होकर चलती हुई जीवन-शक्ति, बादलों में पाई जानेवाली अपार किंतु नितांत वृथा विद्युत् की तरह नहीं होती, अपितु बिजली के तार में पाई जानेवाली नियंत्रित विद्युत् की तरह उपयोगी बन जाती है, जो जहाँ जाती है सृजनात्मक कृत्य करती है, अंधकार को स्थायी प्रकाश में परिणत करती हुई चलती है।

इसके विपरीत, जिसमें चरित्र और पुरुषार्थ का दारिद्र्य है, जो व्यक्तिगत रूप से निर्बल है, वह व्यक्ति अपनी निर्बलता के अनुपात में अशांत और बेचैन रहेगा। जो जितना बेचैन और चिंतित रहेगा, वह उतना ही अधिक शक्तिहीन होता जाएगा। और शक्तिहीन होने पर उसकी निर्बलता और अधिक बढ़ती जाएगी। इस तरह वह प्रकृति के इस कुचक्र में फँसकर अपनी निर्बलता से जनित निराशा, उत्साहविहीनता और दरिद्रता के दलदल में फँसता ही चला जाता है। एक असहनीय मानसिक भारीपन उसके जीवन का अंग बन जाता है। और ऐसा जीवन फिर केवल दु:खों की एक शृंखला बनकर रह जाए, तो विस्मय की बात न होगी।

अत: शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं कलात्मक शक्तियों को सृजित करने का अद्भुत अधिकार जो प्रकृति ने प्रत्येक मनुष्य को दिया है, उस दिव्य अधिकार का प्रयोग करके अब प्रत्येक भारत-पुत्र अपने निर्बल, उत्साहविहीन जीवन को कैसे पुरुषार्थयुक्त, उत्साह और उल्लासपूर्ण जीवन में परिणत कर सकता है, उसका पूरा रहस्य माँ भारत ने इस ग्रंथ के द्वारा अपने पुत्रों को भेंट कर दिया है।

मानव-कल्याण के विषय पर विचार करनेवालों में भारत ही क्या, संपूर्ण विश्व में शायद ही कोई विचारक होगा, जो यह स्वीकार न करे कि 'मनुष्य जाति' आज जिस घोर संकट से गुजर रही है, वैसा संकट मानव-इतिहास में इससे पहले कभी प्रस्तुत नहीं हुआ। यह संकट नाभिकीय अस्त्रों अथवा पर्यावरण प्रदूषण संबंधी नहीं, अपितु आधुनिक मनुष्य के जीवन में बढ़ते हुए मानसिक तनावों, मनुष्य की अपनी दिशाविहीन जीवनशैली तथा नैतिक दौर्बल्य से है।

एक अत्यंत विचित्र स्थिति है। शारीरिक क्षेत्र में, हर ओलिंपिक में नए कीर्तिमानों के अंबार लगते जाते हैं। मानसिक क्षेत्र—अर्थात् ज्ञान और विज्ञान की प्रत्येक शाखा में अभूतपूर्व प्रगतियाँ हो रही हैं। तकनीकी जगत् में चमत्कारिक आविष्कारों की झड़ी सी लगी है तथा आध्यात्मिक जगत् में भी हर संप्रदाय के जितने संत, महात्मा, पीर, पादरी, मौलवी इस युग में सक्रिय हैं, उतने किसी भी शताब्दी में रहे हों, मानव-इतिहास में इसका उल्लेख नहीं मिलता। परंतु श्रापित सी मनुष्य जाति फिर भी भयंकर गति से अपने पतन की ओर ही जाती हुई मालूम पड़ती है। अजीब विडंबना है : शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक क्षेत्रों में नए कीर्तिमानों, नवीन क्षितिजों का निर्माण करनेवाला मानव वास्तव में अपने दु:खों की भी नई सीमाएँ निर्मित कर रहा है। मानसिक रोगियों की संख्या लाखों में नहीं, करोड़ों में पहुँच चुकी है।

इस भयंकर अनहोनी के संभवत: चार प्रमुख कारण हैं—

1. पहला यह कि अभागा मनुष्य अपने जीवन के मौलिक उद्देश्य से पूर्णतया विमुख होकर जी रहा है।

कोई भी यदि थोड़ी सी दृष्टि अपने चारों ओर डाले, तो पाएगा कि एक गली का कुत्ता, जिसे नहीं मालूम कि उसका अगला खाना कहाँ से आनेवाला है, मस्त घूमता है। वह चिड़िया, जिसे नहीं मालूम कि उसका अगला दाना

कहाँ से मिलना है, इधर-से-उधर मस्ती में फुदकती है, चहकती है और हर समय मौज में चहचहाती है। परंतु अनेक सुविधाओं और साधनों से युक्त मनुष्य संसार का सर्वाधिक दु:खी प्राणी है।

आखिर ऐसा क्यों है?

इस बिडंबना के भेद को जानने के लिए कहीं बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं। अपने ही बचपन की उन दो अवस्थाओं पर थोड़ा सा मनन करने पर इसका रहस्य खुल जाएगा। एक मन की उस दिन की अवस्था, जब हम अपना 'होम-वर्क' पूरा करके स्कूल गए थे और दूसरी वह कि जिस दिन 'होम-वर्क' बिना किए स्कूल गए थे। पहली अवस्था में मन में था उत्साह, उमंग और उल्लास, जबकि दूसरी अवस्था में था भय, आशंका और एक असहनीय मानसिक भारीपन। यथार्थ यह है कि संसार में अन्य सारे जीव प्रकृति के विधान से बँधे, बिना किसी भय, प्रलोभन, अथवा आलस्य के, अपने-अपने जीवन के उद्देश्य—अर्थात् अपने मौलिक धर्म को निभाते हुए जीते हैं, जबकि मनुष्य अपने मौलिक उद्देश्य को निभाना तो दूर, यह भी भुला बैठा है कि उसके जीवन का कोई मौलिक उद्देश्य था भी कि नहीं। दूसरे शब्दों में—संसार के सारे अन्य जीव नित्य अपना 'होम-वर्क' करते हैं, और मनुष्य अपने 'होम-वर्क' से पूरी तरह अनभिज्ञ है। जीवन के जिन उद्देश्यों की पूर्ति के मार्ग पर चलकर, मनुष्य को भी अंतहीन आनंद और मस्ती-भरा जीवन बिताने का जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त था, जब वह उन उद्देश्यों से पूरी तरह विमुख होकर जिएगा, तो स्वाभाविक है कि उसे अंतहीन दु:ख ही हाथ लगेगा।

2. दूसरा कारण है अपने विवेक और अपने अहंकार की आवाजों को पहचानने में असमर्थता।

जो लोग परम विश्वास से अपने विवेक के अनुकूल ही चल रहे हैं, उन्होंने दो क्षण रुककर यह सोचने की जरूरत ही नहीं समझी कि अपने तथाकथित विवेक की परख तो कर लें। आखिर विवेक का प्रत्येक निर्णय हर व्यक्ति के मन में स्थापित कुछ मौलिक मान्यताओं, मूल्यों और आस्थाओं के आधार पर ही तो होता है, और यदि वे मान्यताएँ, मूल्य अथवा आस्थाएँ ही विकृत निकल जाएँ, तो स्वाभाविक है कि ऐसे विवेक के निर्णय, बजाय व्यक्ति के कल्याण के, वास्तव में उसके पतन का ही कारण बनेंगे। इसमें किंचित् भी संदेह नहीं कि सतत विवेकानुकूल आचरण करने में ही मनुष्य का परम कल्याण निहित है, परंतु यह तभी हो पाएगा जब यह विवेक सही मान्यताओं और मूल्यों के ही आधार पर अपना निर्णय करता हो। अत:, आवश्यकता इस बात की है कि हर मनुष्य यह जाने कि मूल्यों और मान्यताओं की परख करने की मौलिक कसौटी क्या है। अपने पुत्रों की इस विषमता को देखकर, माँ भारत ने इस ग्रंथ में वह कसौटी बहुत सरल शब्दों में प्रस्तुत कर दी है।

3. तीसरा कारण यह है कि मूल्यों की विकृति के कारण मानव जीवन के लिए जो 'साधन' निर्मित किए गए थे, उन्हें प्राय: लोगों ने 'साध्य' का दर्जा दे डाला, और जो जीवन का एकमात्र 'साध्य' था, उसे 'साधन' बना डाला।

रुपया विनिमय का 'साधन' था, पर आज लाखों-करोड़ों लोगों ने धन को ही 'साध्य' मान रखा है। कितने ही लोगों के जीवन का उद्देश्य लखपति, करोड़पति बनना हो गया है। मनुष्य-शरीर पूर्णता प्राप्त करने का साधन था।

पर आज मनुष्य ने उस शरीर को अधिकाधिक सुख, सुविधाओं और विलास की सामग्रियाँ देकर उसके पालने को ही जीवन का साध्य मान रखा है। पद चाहे प्रशासनिक हो अथवा राजनीतिक, सभी पद केवल मानव-सेवा के 'साधन' थे। पर आज लोग उन्हें ही 'साध्य' मान बैठे हैं। कितने ही युवाओं के जीवन का साध्य है आई.ए.एस., आई.पी.एस. में आना, मुख्यमंत्री अथवा प्रधानमंत्री पद कितने ही राजनीतिज्ञों के जीवन का 'साध्य' बना हुआ है। इम्तहान और डिग्रियाँ 'साधन' थीं यह जानकारी करने की कि वर्ष भर में जो पढ़ाया गया, उसका कितना अंश व्यक्ति ने अपनाया। पर डिग्रियाँ अब 'साध्य' बन गई हैं—चाहे नकल करके हासिल की जाएँ या पैसा देकर। 'ख्याति' समाज की बनाई हुई वह 'साधन' थी कि जिसके कारण अन्य जन उस सुमार्ग को अपनाएँ जिसे अपनाकर समाज ने अमुक व्यक्ति को सराहा तथा जिससे उसे ख्याति मिली। कितने ही लोगों ने 'ख्याति' को ही अपनी सफलता का मापदंड मान लिया—उसे 'साध्य' का दर्जा दे डाला। उसके विपरीत 'पूर्णता' प्राप्त करना अथवा परम पिता परमेश्वर, जो मानव जीवन का एकमात्र 'साध्य' था, उसे आज के इनसान ने 'साधन' का रूप दे डाला। हर मंदिर, मसजिद, गुरुद्वारे, गिरजे में करोड़ों लोग मिन्नतें करते पाए जाते हैं कि भगवान् तू मुझे संतान दे दे, इलेक्शन जिता दे, इम्तहान पास करा दे, आदि-आदि; और एवज में खैरात और प्रसाद चढ़ाने का वचन देते रहते हैं। मानो भगवान् का काम मनुष्यों के लिए ये सब मुहैया करना ही रह गया हो। जो 'साध्य' था, वह अनेकानेक भौतिक उपलब्धियों को प्राप्त करने के लिए 'साधन' के रूप में इस्तेमाल हो रहा है और जो 'साधन' थे, वे 'साध्य' बन बैठे। इस घोर विकृति के कारण आम मनुष्यों के सारे प्रयासों की दिशा ही उलटकर रह गई है। वह मनुष्य, जो अन्य जीवों की तरह निरंतर सुख और आनंद में जीवन बिताने का बराबर का अधिकारी था, अपनी जीवन-शैली को पूरी तरह उलट देने के कारण केवल दु:ख, चिंता और भययुक्त जीवन को प्राप्त हो रहा है।

4. चौथा कारण है नैतिकता की व्यापक अवहेलना।

भले ही मनुष्य अन्य क्षेत्रों में अभूतपूर्व शक्तियाँ और तकनीकी उपलब्धियाँ अर्जित कर ले, भले ही वह शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक क्षेत्रों में नए कीर्तिमान स्थापित कर ले, जब तक वह चरित्र की महाशक्ति से विमुख रहेगा, अर्थात् जब तक वह अपने परखे हुए सद्विवेक के अनुरूप आचरण करने के लिए निरंतर प्रयासशील नहीं होगा, वह अपने को हर समय संकटग्रस्त होता पाएगा। इसका कोई विकल्प है ही नहीं। उसे समझना पड़ेगा कि नैतिक शक्ति क्या है, उसका निर्माण कैसे किया जाता है। नैतिक शक्ति को सृजित किए बिना, क्या मानव और क्या मानव-समाज, दोनों का वास्तविक कल्याण संभव ही नहीं है।

विस्मय तो तब होता है जब आधुनिक मानव ईश्वर, अल्लाह अथवा आत्मा की सत्ता को ही नहीं, उसके अस्तित्व को नकारना वैज्ञानिकता का लक्षण मानता है। यथार्थ तो यह है कि ऐसी धारणा रखना स्वयं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सबसे बड़ा उपहास है। ऐसा कहना तो वैसा ही होगा जैसे पाइथागोरस से पहले होनेवाले गणितज्ञ यह कहते कि एक त्रिभुज के तीन कोणों का योग 180^0 हो ही नहीं सकता। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का तकाजा है कि कोई बात तब तक न मानी जाए जब तक वह सिद्ध न कर दी जाए। ईश्वर या आत्मा का न होना, कब, कहाँ, किसने सिद्ध किया, इसका संसार भर में कहीं भी प्रमाण नहीं मिलता, फिर भी अपने को वैज्ञानिक कहनेवाला जिस अधिकार से यह कह लेता है कि ईश्वर अथवा आत्मा नाम की कोई चीज नहीं होती, वैज्ञानिक प्रवृत्ति का उपहास नहीं तो और क्या है?

इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक जगत् ने संसार को बहुत कुछ दिया, पर इसमें भी किंचित् संदेह नहीं है कि आधुनिकता की प्रवृत्ति ने मानव का बहुत कुछ छीन भी लिया। विडंबना यही है कि जो छीना गया, वह पाई जानेवाली उपलब्धियों से कोटिश: गुना अधिक कीमती था। इसी विडंबना के समाधान हेतु माँ भारत ने इस ग्रंथ के

माध्यम से अपने पुत्रों को वही छीनी गई संपत्ति पुन: वापस देने का प्रयास किया है, जिससे उसके पुत्र झूठी वैज्ञानिकता को परख सकें तथा वास्तविक वैज्ञानिक उपलब्धियों के साथ-साथ अपने को भी पूर्ण बनाने में सफल हो सकें।

सन् 1974-78 के बीच डेढ़ लाख से भी अधिक विद्यार्थियों को संबोधित करने का अवसर मिला। एक-एक वार्त्ता ढाई घंटे, तीन घंटे चलती। एक बार फिरोजाबाद के एक महाविद्यालय में मेरी वार्त्ता पौने चार घंटे चली। खचाखच भरे हॉल में बैठा प्रत्येक विद्यार्थी एक ही आसन से बैठा माँ के दिए विचारों को मंत्रमुग्ध-सा सुनता रहा था। घड़ी देखकर मैं भी आश्चर्यचकित था। आज के वातावरण में युवा वर्ग इतनी अवधि तक मंत्रमुग्ध हो बातें सुनता-सुनता थका या नहीं, इसे जानने की उत्सुकता मन में हुई। वार्त्ता के उपरांत जब प्रधानाचार्य महोदय 'धन्यवाद ज्ञापन' की औपचारिकता पूरी कर रहे थे, तभी बीच में उन्हें रोककर मैंने कहा, ''एक बात कहने से रह गई,'' और इतना कहकर मैंने उनसे माइक माँगा। मेरा माइक माँगना था कि सारे युवकों ने करतल ध्वनि से ताली बजाकर व्यक्त किया कि वे अभी और भी सुनने को आतुर हैं। जब मैं हॉल से बाहर आया, तो यह देखकर स्तंभित रह गया कि अप्रैल की तपती गरमी में सात-आठ सौ युवक बाहर लगे दो लाउडस्पीकरों से, भरी धूप को सहते हुए, उन विचारों को सुनते रहे थे। तभी मुझे प्रमाण मिला कि मेरी अद्‌भुत माँ के सपूतों में दिशा प्राप्त करने—मार्गदर्शन प्राप्त करने—की भूख कितनी विराट है। यह प्रमाण पाते ही मैंने संकल्प किया कि उन सारे विचारों को लिपिबद्‌ध किया जाए और तभी 'माँ की पुकार' के कुछ अध्याय प्रथम बार लिपिबद्‌ध हुए।

मैंने विद्यार्थियों तक अपने को सीमित नहीं रखा। मंडलीय स्तर की रैलियों में बरेली तथा आगरा मंडल के सैकड़ों अध्यापकों एवं प्रधानाचार्यों के समक्ष भी इन्हीं समस्त विचारों को प्रस्तुत किया और जब उन्होंने भी यही कहा कि ''आज का इनसान इसी दिशा-निर्देशन के लिए लालायित है'' तब मेरे इस आभास को और बल मिला कि 'माँ की पुकार' एक ग्रंथ के रूप में पूरे राष्ट्र को पहुँचाने का पुनीत दायित्व माँ ने संभवत: मेरे कंधों पर ही रखने का निर्णय किया है। अपने सेवाकाल से कुछ समय निकालकर कालांतर में कुछ और अध्याय रूप लेते रहे।

इस ग्रंथ में कोई भी विचार ऐसा नहीं है जिसे व्यावहारिक जीवन की कसौटी पर न परखा गया हो। समय-समय पर जो परम ज्ञान माँ भारत अपनी अनंत कृपा में देती गईं, उसे व्यवहार की कसौटी पर परखते रहने में ही मेरा इतना जीवन बीता। जब मैंने देखा कि बाल्यकाल का अत्यंत सामान्य 'मैं' अपने कर्तव्यों में असाधारण सफलता सहज ही में पाता चला गया, तो विश्वास करना पड़ा कि जो दिव्य ज्ञान माँ ने दिया, उसी के अनुरूप जीवन चलाने से यह संभव हुआ। मेरा संकेत मुझे प्राप्त हुए वीरता के दो पदकों की ओर नहीं है और न ही राष्ट्रपति द्‌वारा दिए गए अन्य पदकों की ओर है। न ही उस अद्‌भुत बात से है, जब झाँसी में सन् 1965 में सैकड़ों अपराधों में लिप्त जरायमपेशा आदिवासियों के परिवारों ने केवल एक बार के उद्‌बोधन के उपरांत, तैंतालीस के तैंतालीस अत्यंत दुर्दांत नट कबूतरी जात के दस्युओं का मेरे समक्ष बिना किसी शर्त के आत्म-समर्पण कराकर आगे अपराध न करने का व्रत लिया था। इसका पूर्ण प्रमाण तब मिला, जब सन् 1980 में उत्तर प्रदेश में दस्यु-समस्या अत्यंत भयंकर रूप ले चुकी थी और गृह राज्यमंत्री ने जनवरी 1981 में मुझे बुलाकर कहा कि ''इस समस्या के समाधान के लिए, क्या हमारी पार्टी के सदस्य, क्या विपक्ष के नेता, क्या अवकाशप्राप्त पुलिस महानिरीक्षणगण, क्या शासन के उच्चतम अधिकारी, सभी एकमत से एक ही नाम ले रहे हैं, जो यदि तीन माह के लिए भी दस्यु-उन्मूलन अभियान की कमान सँभाल ले तो समस्या का समाधान हो जाएगा।'' इतना कहने के बाद उन्होंने वह नाम मेरा बताया।

उनके वचनों को सुनकर मेरा मन एकाएक आतंकित हुआ था। इतने सारे लोगों का ऐसा विश्वास मेरे ऊपर—मैं इसके योग्य कैसे माना जाने लगा? कई वर्षों से जो गिरोह काबू में न आ सके हों, उन्हें केवल तीन माह में कोई भी

साफ कर सकेगा, यह बात कैसे किसी के मन में बैठी?

मेरा सेवा-इतिहास अच्छा था—बहुत अच्छा था, पर ऐसा कदापि न था कि लोगों में इस स्तर का विश्वास मेरे प्रति बनता। मेरे प्रति इस स्तर की आस्था पर मैं जहाँ किंचित् सा रोमांचित हुआ, उससे कहीं अधिक आतंकित। आतंकित इसलिए कि इतने लोग मुझसे जो अपेक्षा कर रहे हैं, वह बिलकुल ही असंभव था। और जब मैं उस असंभव को पूरा न कर पाऊँगा, तब क्या होगा? अत्यंत सहमी अवस्था में मैंने उनसे यही कहा, ''मैं तो शासन का नौकर हूँ, जहाँ आदेश मिलेगा वहाँ जाऊँगा, पर जो विश्वास आपने व्यक्त किया है, वह सत्य पर कतई आधारित नहीं है।'' तब मैं और भी आश्चर्यचकित हुआ, जब उन्होंने कहा कि ''मेरा विश्वास गलत नहीं है।'' इस पर मैं इतना ही कह पाया कि ''फिर आप जहाँ चाहें, मुझे नियुक्त कर दें। मेरा काम तो कर्तव्य करना है, परिणाम तो प्रभु के हाथ में है।''

समस्या की गंभीरता को जानते हुए मुझे उनकी बातों पर रंचमात्र भी विश्वास नहीं बन पा रहा था। परंतु प्रभु की कृपा तथा माँ का आशीर्वाद ऐसा हुआ कि ठीक तीन माह में ही अठारह बड़े-बड़े गिरोहों में से दस गिरोहों का पूरी तरह सफाया हो गया और बाकी आठ गिरोहों के साथ भी कई मुठभेड़ें हुईं, जिनमें उनके 15-16 सदस्य हताहत हुए। तीन महीनों में 98 इनामिया दस्यु विभिन्न जनपदों में मारे गए और एक बार फिर पुलिस का मनोबल आसमान चूमने लगा। हमारे भी 15 अधिकारी व जवान शहीद हुए और बीसियों जख्मी भी, पर पुलिस-मनोबल क्या था उसकी झाँकी का एक रूप वह भी था, जब गोलियों से अत्यंत गंभीर रूप से जख्मी एक सब-इन्स्पेक्टर रामायण सिंह ने अस्पताल में भीगी आँखों से कहा कि ''क्षमा करें, सर! मुझे बहुत ग्लानि हो रही है कि जहाँ आप डाकुओं के विरुद्ध इतना बड़ा यज्ञ कर रहे हैं, वहाँ मैं उसमें भाग लेने में असमर्थ हो गया।''

जो कुछ हो रहा था, चमत्कार ही था। तत्कालीन मुख्यमंत्री ने स्वयं कहा कि ''आपकी सफलता आशातीत है। ऐसी अभूतपूर्व सफलता की मिसाल इस प्रदेश के कई दशकों के इतिहास में नहीं मिलेगी।''

मेरे जैसे अत्यंत सामान्य प्राणी में ऐसी असामान्य क्षमता कैसे आई? निश्चयात्मक रूप से यह सिद्ध हो गया कि परम गौरवमयी, परम स्नेहमयी माँ भारत द्वारा जो मार्ग दर्शाया गया था, केवल उसी मार्ग पर चलने से यह सब प्राप्त हो गया था।

तभी विश्वास हो गया कि यदि एक व्यक्ति ऐसा बन सकता है, तो सारा राष्ट्र भी ऐसा ही बन सकता है। माँ द्वारा बताए उस मार्ग को लिपिबद्ध करके सारे राष्ट्र को समर्पित करने का मेरा संकल्प और भी दृढ़ हो गया।

इस ग्रंथ में समाहित सारे ही विचार माँ भारत की ही देन हैं, अत: उसी योगिनी के पुत्र एवं पुत्रियों को समर्पित हैं। इस ग्रंथ का नाम 'माँ की पुकार' भी इसी कारण रखा गया, क्योंकि इसमें जो कुछ लिखा है, वह मेरे रोम-रोम की अधिकारी 'माँ भारत' की ही पुकार है।

इस पुनीत भूमि का जो सपूत पराक्रमी एवं शक्तिशाली बनना चाहता है—अपनी इस माँ के प्रति हो रहे अन्याय को रोकना चाहता है, घृणा, संकीर्णता और वैमनस्य से दूषित वातावरण को प्यार, उदारता और बंधुत्व की भावना में परिणत करना चाहता है—यदि वह इस माँ का ऐसा सपूत बनना चाहता है जो इसे कुछ देनेवाला बने, तो 'माँ की पुकार' के अगले पृष्ठ केवल उसी वीर के लिए लिखे गए हैं।

दिनांक : 7-6-1993

—भारतेंदु प्रकाश सिंहल, 'भारत'

मूल्यों का मूल्यांकन

यदि जीवन को सार्थक बनाना है, तो जीना सीखना होगा। जब हमें जीना है, तो हमें कर्मशील होना होगा। जब हमें कर्म करना अनिवार्य है, तो हमें हर क्षण अपना रास्ता चुनना होगा। रास्ता कौन सा चुना जाए, उसे आँकने के लिए हमारे पास, हमारे अंत:करण में कुछ मापदंडों का होना अनिवार्य है कि किन-किन बातों को, किन-किन चीजों को, किन-किन लोगों को हम महत्त्व देते हैं और किनको हम कम महत्त्व देते हैं अथवा कौन हमारे लिए बिल्कुल ही महत्त्वहीन है। अपने मापदंडों को सही रूप से बनाने के लिए आवश्यक है कि हम यह जानें कि हमारे लिए क्या मूल्यवान है और क्या नहीं।

कुछ मौलिक मूल्यों का अंकन करके, उनको अपने जीवन का अभिन्न अंग बनाना ही पड़ेगा। उन मूल्यों को रखने से ही जीवन रसमय बनेगा, परम सुख का अनुभव होगा तथा सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह होगी कि उन मूल्यों को निर्धारित करने के उपरांत अपने दैनिक जीवन में कब, कहाँ, कैसे, क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, इसका तत्काल निर्णय लेने की एक अद्‌भुत क्षमता अपने अंदर निर्मित हो जाएगी। यदि उन मूल्यों को, प्रलोभन, भय अथवा आलस्य के कारण छोड़ देते हैं, तो सारा जीवन ही सारहीन, निर्मूल सा बनकर रह जाता है, एक बोझ सा हो जाता है, जिसे ढोना स्वयं में एक अजीब समस्या बन जाती है।

पुरुषार्थी जन इन मूल्यों का निर्धारण अपने ही विवेक से करते हैं और उन पर दृढ़ रहते हैं। प्रारंभ में उनका विवेक अल्प ही क्यों न रहा हो, इससे उनके भावी विकास में तनिक भी अंतर नहीं आता। जैसे-जैसे उनका आचरण अपने विवेक के अनुकूल होता जाता है, वैसे-वैसे ही उनका विवेक स्वयं ही विकसित होता चला जाता है और इस प्रकार विवेक के विकास के असीम स्तरों को वे सहज में ही छूने लगते हैं और अपने निर्मित मार्ग पर दृढ़ता से चलते देखे जाते हैं।

पुरुषार्थहीन जन उन मूल्यों का निर्धारण स्वयं नहीं करते। या तो उनमें विचार करने की शक्ति ही नहीं होती या फिर वे इस दिशा में विचार करने की रुचि ही नहीं रखते। वे अन्य लोगों के मूल्यांकन को ही अपनाकर इस समस्या से छुटकारा पा लेने की कोशिश करते हैं। यह कितनी भयंकर भूल होती है, इसे वे कभी-कभी तो अपने जीवन के अंत तक भी पहचानने में सफल नहीं हो पाते, और कभी वे केवल इतना पहचान पाते हैं कि उनका जीवन एक उलझी हुई गुत्थी बन गया है जिसे अपना सर्वस्व देकर भी सुलझा पाने में वे अपने को असमर्थ पाते हैं।

जीवन एक समस्या क्यों बन जाता है?

हर प्राणी अपना जीवन नितांत आनंद और सुख से बिताए यह प्रकृति का विधान है, परंतु फिर भी अनेकानेक लोगों के लिए जीवन ही एक गंभीर समस्या का रूप धारण कर लेता है। इसका कारण यह है कि संसार में ऐसे-ऐसे तर्क प्रस्तुत किए जा चुके हैं जो चोरी, लूट, हत्या तथा किसी भी कुकृत्य को गौरवपूर्ण सिद्‌ध कर सकते हैं। ऐसे तर्क, जो बड़ी-से-बड़ी अनुशासनहीनता, अनैतिकता तथा देशद्रोह तक को अत्यंत न्यायिक और सही सिद्‌ध कर सकते हैं। फिर जब कोई उन विकृत मूल्यों पर आधारित तर्कों को अंगीकार करके उनके अनुसार जीना शुरू कर देता है, तो उसका जीवन एक समस्या बन जाए तो विस्मय कैसा? इसी तरह कुछ लोग अपने मानसिक आलस्य के कारण दूसरे के लिए हुए मूल्यों को अपनाकर, उन्हीं के आधार पर जीवन चलाते हैं, ऐसी दशा में भी फिर उनका जीवन समस्याओं का भंडार बनकर रह जाता है। ऐसे लोग फिर सुख और संतोष हेतु हर रास्ते को पकड़ने पर उद्यत हो जाते हैं, पर सुख और संतोष उनसे सदा दूर, सुदूर होते चले जाते हैं। स्वाभाविक है कि जिस व्यक्ति ने

अपना जीवन अपने स्वयं के विवेक से परखे हुए मूल्यों पर नहीं चलाया या फिर अपने जीवन रूपी घोड़े की लगाम हर आने-जानेवाले को सौंपने की आदत बना ली, वह व्यक्ति फिर अपने गंतव्य पर पहुँचने में सर्वथा असमर्थ रहेगा, और जो भी अपने गंतव्य की ओर नहीं जा रहा है, सुख और संतोष उससे सदा दूर ही बने रहेंगे। इतना ही नहीं, जब कोई अपने गंतव्य की विपरीत दिशा में जाता है, तो अंतहीन दु:ख, उलझनें तथा चिंताएँ उसका साथ कभी नहीं छोड़ सकेंगी। इस गतिविधि की सबसे गंभीर त्रासदी यह है कि वह व्यक्ति जीवनपर्यंत अपने दु:खों का उत्तरदायी अपने अलावा किसी अन्य व्यक्ति को ठहराता रहता है, मानो ऐसा करने से उसका दु:ख कुछ हलका हो जाता हो। यथार्थ यह है कि दायित्व किसी का भी हो, यदि जीवन हमारा बरबाद हुआ तो उसमें नुकसान केवल हमारा ही होता है।

हमें बिना किसी संशय अथवा संकोच के यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यदि हमारा जीवन सुंदर, सार्थक तथा रसमय नहीं है, तो उसका मूल कारण यही है कि हमने स्वयं अपने जीवन के मूल्यों को निर्धारित नहीं किया और न ही अपने विवेक अथवा आदर्शों को अपने आचरण में ढाला। हर दृष्टि से हमारी दु:खद स्थिति का उत्तरदायित्व हमारा और केवल हमारा ही होगा। किसी भी अन्य को उसका उत्तरदायी मान लेना भूल होगी।

यदि तर्क के लिए मान भी लिया जाए कि हमारी बर्बादी का कारण कोई अमुक है और उस अमुक को इस अपराध के लिए फाँसी पर भी लटका दिया जाए, तो क्या फिर हमारा जीवन सँवर जाएगा? विदित है कि हमारा जितना जीवन बर्बाद हो चुका है, वह तो वापस मिलनेवाला नहीं है, अत:, अंतत: अपनी बर्बादी के लिए जिम्मेदार व्यक्ति को भरपूर सजा दिला देने के उपरांत भी हमारी निर्बलताओं का, हमारी दरिद्रता का, हमारे दु:खों का अंत नहीं हो सकेगा और हमारा वह बर्बाद जीवन धीरे-धीरे उसी दशा में समाप्त हो लेगा। अत: अपने दु:खों का दायित्व किसी और पर रखने से हम अन्य किसी को नहीं, केवल अपने को ही धोखा देते हैं। और जो स्वयं को ही धोखा देता है, उसे शांति और सुख मिल जाए, यह असंभव है।

एक अजीब विडंबना है। बचपन में माता-पिता अपने बच्चों में स्वस्थ मान्यताएँ एवं आस्थाएँ स्थापित करते हैं, पर वही बालक बड़ा होते-होते उन मान्यताओं को ठुकरा देता है और नई मान्यताएँ, नए मूल्यों को अपनाने लगता है। संसार में शायद ही कोई माँ होगी, जिसने अपने बच्चों को बेईमानी का पाठ पढ़ाया हो, पर सैकड़ों-हजारों लोग अपनी माँ के बताए ईमानदारी के पाठ को भूलकर बेईमानी की राह पर चलते देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति का मूल कारण यह है कि जिस समय उन्होंने प्रथम बार ईमानदारी को मन में मान्यता दी थी, तो वह केवल माता-पिता के कहने पर दी थी। उस मान्यता में उनका अपने निज का विश्वास नहीं था, क्योंकि उन्होंने उसे स्वयं अपने विवेक के प्रकाश में कभी ठोक-बजाकर नहीं परखा था। बचपन में माता-पिता ही हमें मूल्यों का ज्ञान देते हैं इसमें संदेह नहीं; उनके बताए मार्ग पर चलने में अकल्याण संभव हो, ऐसा भी नहीं है, पर जब हम सोचने की शक्ति स्वयं अर्जित कर चुकते हैं, तब भी यदि हर उस मूल्य को, जिस पर हमारा अब तक का जीवन चला है, स्वयं न परखें, तो हमें उन मूल्यों पर दृढ़ता से स्थिर रहने की शक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। किसी भी व्यक्ति के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वह जिन भी मौलिक मूल्यों, मौलिक मान्यताओं, मौलिक आस्थाओं को अपनाना चाहता है, उनके महत्त्व को अपने विवेक के प्रकाश में अच्छी तरह परखने के उपरांत ही उन्हें अंगीकार करे। ऐसा करने पर ही उसके अंदर से वह शक्ति भी उपजेगी, जो उसे उन आस्थाओं पर डटे रहने के लिए पर्याप्त बल प्रदान करे।

दूसरी ओर सर्वत्र सुनने को मिल रहा है कि समाज में मूल्यों का ह्रस बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। अधिकांश लोग पुराने मूल्यों को त्यागकर आधुनिक मूल्यों को अपनाते चले जा रहे हैं। सत्य, न्याय, प्यार, बड़ों का आदर, वफादारी आदि सारे मूल्यों का स्थान धन, ख्याति, सत्ता, ऐश्वर्य सरीखे आधुनिक मूल्य बड़ी गति से लेते जा रहे हैं। आधुनिक मूल्यों के पक्षवालों के पास दलीलें भी कम सशक्त नहीं हैं। उनका कहना है कि—

'' 'प्राण जाएँ पर वचन न जाई'—त्रेता युग का मूल्य था। हजारों वर्ष में समाज कहाँ से कहाँ पहुँच गया। हजारों वर्ष पुराना मूल्य आज भला कैसे चलाया जा सकता है? ऐसा करना तो काल को पीछे ले जाना होगा। परिवर्तन सृष्टि का अभिन्न अंग है। मनुष्य की मनोवृत्तियाँ, मानसिकताएँ, आकांक्षाएँ सभी तो परिवर्तनशील हैं। ऐसे में मूल्य वही पुराने बने रहें यह अप्राकृतिक है, रूढ़िवाद है, प्रतिक्रियावाद है। निरंतर परिवर्तनशील संसार में शाश्वत मूल्यों की बातें करना तर्कहीन है, परस्पर विरोधी बात है। नए जमाने के साथ, नए मूल्यों का आना स्वाभाविक और प्राकृतिक क्रिया है। आखिर कुदरत की चाल को कौन रोक सकता है। विज्ञान ने इतनी प्रगति की है, समाज के सारे ढाँचे को इतना बदल डाला है, उसके साथ मान्यताओं और मूल्यों का बदलना अनिवार्य है। यह दुनिया इतनी छोटी हो गई है कि विभिन्न देशों की संस्कृतियों का परस्पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। नई पीढ़ी के लोग उतने जाहिल, उतने नासमझ नहीं, जितने पिछली पीढ़ियों में होते थे। नई पीढ़ी की नई पुकार होना स्वाभाविक है। हर पीढ़ी अपने मूल्यों, अपनी मान्यताओं के साथ पैदा होती है। पुरानी पीढ़ी के लोग जब अपनी मान्यताओं को उन पर जबरदस्ती थोपने की बात करते हैं, तो बहुत बड़ा अन्याय करते हैं। आज जो मूल्यों और मान्यताओं का संकट आया हुआ है, उसका केवल यही कारण है कि आज हम दो सभ्यताओं के चौराहे पर खड़े हैं। नई पीढ़ी को अपनी दुनिया में रहने का हक होना चाहिए, उन्हें अपने रास्ते खुद बनाने का अधिकार है। और फिर, किस आधार पर कोई यह दावा करता है कि पुरानी मान्यताएँ, पुराने मूल्य ही सही थे, नई मान्यताओं को गलत घोषित करने का आधार भी तो कोई नहीं दे पाया। क्या कहीं कोई मौलिक मापदंड है, जिसकी तुलना में किसी भी मूल्य को, किसी मान्यता को परखा जा सके? यदि नहीं, तो किसी भी पीढ़ी को, किसी भी अन्य पीढ़ी की मान्यताओं को गलत या सही घोषित करने का अधिकार ही कैसे बनता है? जो यह कहते हैं कि वे पुरानी मान्यताएँ काल की कसौटी पर खरी उतरी हैं इसलिए वे मान्य होनी चाहिए, तो नई मान्यताओं को अपने खरेपन को साबित करने के लिए भी तो कुछ समय मिलना चाहिए। इतनी बेसब्री से उन्हें बिना आधार के गलत करार देना सरासर अन्याय है। दया, उदारता, परोपकार, दूसरे की मदद करना एक जमाने से चला आ रहा ढोंग है। जीवन का यथार्थ यह है कि कोई किसी के लिए नहीं जीता, सब अपने स्वार्थ से ही प्रेरित होते हैं। इस असलियत को कब तक छुपाया जाएगा। नई पीढ़ी निर्भीकता से इन ढोंगों की पोल खोलकर सच्चाई को सामने लाने की हिम्मत करती है, तो इसके लिए उनकी सराहना करनी चाहिए न कि आलोचना, आदि-आदि।''

बड़ी सशक्त दलीलें हैं सारी। कौन इनकार कर सकता है कि त्रेता युग और आज के बीच हजारों सालों का फासला आ चुका है। इस अकाट्य सत्य को कौन अनदेखा कर सकता है कि सृष्टि सतत परिवर्तनशील है, प्रकृति में एक पल भी कहीं ठहराव नहीं है। किसमें दम है कि कुदरत की चाल को रोक सके? निरंतर परिवर्तनशील संसार में शाश्वत मूल्यों की बातें करना तर्कहीन, परस्पर विरोधी बात नहीं तो और क्या है? किसमें सामर्थ्य है जो इस दावे को चुनौती दे सके कि हर आनेवाली पीढ़ी, पिछली पीढ़ी से कहीं अधिक चैतन्य, कहीं अधिक समझदार और कहीं अधिक प्रज्ञावान है? कौन इनकार कर सकता है कि आज तक विश्व में कोई ऐसी कसौटी नहीं दे पाया कि जिस कसौटी पर कसकर मूल्यों एवं मान्यताओं की प्रामाणिकता सिद्ध की जा सके। इससे कौन इनकार कर सकता है कि समाज में व्याप्त ढोंग, स्वार्थपरायणता, आपाधापी एक ऐसा यथार्थ है कि जिसके आगे दया, उदारता, परोपकार, लोकसेवा आदि की बातें करना बहुत खोखला सा लगता है।

निस्संदेह सभी दलीलों में सच-ही-सच झाँक रहा है।

परंतु सत्य केवल इतना ही है, इसमें बहुत बड़ा संशय है। वास्तविकता क्या है, इसे पहचानना आवश्यक है।

नि:संदेह, त्रेता युग से आज तक हजारों साल बीत गए, पर मनुष्य तब भी सुख चाहता था और दु:ख से भागता

था, सो, आज का मनुष्य भी सुख ही सुख चाहता है और दु:ख से भागता है। इसमें संशय नहीं कि परिवर्तन सृष्टि का अभिन्न अंग है, पर मनुष्य को जो भूख और प्यास हजारों साल पहले सताती थी, वही भूख और प्यास आज भी सताती है। बेशक कुदरत की चाल को रोकने की सामर्थ्य किसी में नहीं, पर प्यार पाना हजारों वर्ष पहले भी अच्छा लगता था और आज भी अच्छा लगता है। मार खाना सहस्त्रों वर्ष पहले भी अप्रिय लगता था, सो आज भी अप्रिय लगता है। नि:संदेह हर आनेवाली पीढ़ी अधिक बुद्धिमान है, अधिक चैतन्य है, फिर भी अन्याय देखकर मनुष्य में प्रतिशोध की भावना हजारों वर्ष पूर्व भी उठती थी, आज भी उठती है। कितना ही ढोंग क्यों न हो, पर हजारों वर्ष के अंतराल के बावजूद दया, करुणा और क्षमा के दृष्टांतों को सम्मान तब भी मिलता था, आज भी मिलता है। क्रूरता, निर्दयता और पाशविकता के प्रति घृणा तब भी थी, आज भी है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, पदलोलुपता, धन की तृष्णा, लोकेषणा, संतान की चाह हजारों वर्ष पहले भी थी और आज भी मनुष्य जाति में उतनी ही विद्यमान है। एक शिशु की मुसकान हजारों वर्ष पहले भी पिता के हृदय को पुलकित करती थी, आज भी करती है। मनुष्य में विचारशीलता हजारों वर्ष पहले भी मौजूद थी, आज भी यथावत् मौजूद है। आनंद, शांति, ज्ञान, प्रकाश, दिव्यता, शक्ति, प्यार, स्वतंत्रता, स्वच्छता आदि तत्त्वों की मौलिक प्यास हजारों वर्ष पूर्व के मनुष्य के हृदय में उतनी ही होती थी, जितनी आज के मनुष्य में है। काल इन तत्त्वों के प्रति प्यास के स्तर में किंचित् भी अंतर नहीं ला पाया। ये समस्त प्यासें यथावत् अपरिवर्तनीय बनी रही हैं।

नि:संदेह, परिवर्तनशीलता संसार का अभिन्न अंग है, पर इस सृष्टि में भावनाओं का जगत्, अनुभूतियों का जगत्, महसूस करने की सामर्थ्य, मानसिक तथा शारीरिक क्रियाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ सतत अपरिवर्तनीय बनी रही हैं और बनी रहेंगी। इतना ही नहीं, बीस वर्ष पुराने रेडियो, मोटर अथवा मशीन के अतिरिक्त कल-पुर्जे (स्पेयर पार्ट्स) भले ही आज न मिल पाएँ, पर मनुष्य की रगों में खून, मांस और हड्डी जैसी पहले थी, वैसी ही आज भी है। पाँच वर्ष पुराने कंप्यूटर का आपरेटिंग मैनुअल नए कंप्यूटर के लिए भले ही आउट-ऑफ-डेट हो जाए पर मनुष्यों की बीमारियों में जो दवाएँ वैद्य धन्वंतरि के जमाने में कारगर होती थीं, आज भी उतनी ही कारगर हैं। किसी प्रियजन की मृत्यु पर जितना शोक हजारों वर्ष पहले होता था, आज के युग में मनुष्य को उतना ही शोक होता है। और यह अपरिवर्तनशीलता तथा भावनाओं में समानता का लक्षण केवल भारत में पाए जानेवाले मनुष्यों में ही नहीं, विश्व भर के समस्त देशों और प्रदेशों के मनुष्यों में समान रूप से आदिकाल से आज तक यथावत् है।

जब भावनाओं के जगत् में, मनुष्य की सोच में, उसकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं में, उसकी मौलिक प्यासों में, उसकी आखिरी पहुँच में परिवर्तन नहीं आ पाया, तो वे मूल्य और मान्यताएँ, जो हर भावना, हर प्रतिक्रिया के मूल में विद्यमान हैं, उनमें परिवर्तन लाना अनर्थकारी तर्कहीनता नहीं तो और क्या है? विदित है कि मनुष्य जाति के मौलिक मूल्यों में परिवर्तन आना अनिवार्य कदापि नहीं हो सकता।

इतना ही नहीं, 'परिवर्तनशीलता' जिस प्रकृति का मौलिक लक्षण है, उसमें भी परिवर्तनशील क्या है, उसे भी अच्छी तरह पहचान लेना आवश्यक है। सूर्य के तेज में बादल की बिजली या उसके द्वारा लाए गए जल में, सागर के पानी में, प्रत्येक तत्त्वों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं में निरंतर नवीनतम होते हुए भी उनके गुण-धर्म में किंचित् भी अंतर नहीं आया है। जो नमक हजारों वर्ष पहले नमकीन था वह आज भी नमकीन है। नीम तब भी कड़वा था, आज भी है। जो सोना, चाँदी, चंदन हजारों वर्ष पहले मूल्यवान माने जाते थे, आज भी मूल्यवान माने जाते हैं, क्योंकि उनके गुणों में कोई अंतर नहीं आया। यदि तत्त्वों के गुणों में परिवर्तन होने लगता, तो सारा रसायनशास्त्र नित्य ही उलटता-पलटता रहता। एक इनसान दूसरे इनसान से सर्वथा भिन्न होते हुए भी सबकी मौलिक बनावट, उनके अंग-प्रत्यंगों की क्रियाएँ हजारों वर्ष पहले जो थीं, वही आज भी हैं। संसार में परिवर्तनशील हैं तात्कालिक

रूप, रस और गंध, और वह भी केवल सापेक्ष, न कि उनका मौलिक अस्तित्व, अर्थात् व्यक्ति और काल के संदर्भ में ही परिवर्तनशीलता अनुभव में आ सकनेवाली गतिविधि है, विद्युत् चुंबक, ध्वनि, ताप, प्रकाश, अणुओं और परमाणुओं के मौलिक गुणों में हजारों वर्ष के अंतराल के बावजूद किंचित भी अंतर नहीं आया है। रसायनशास्त्री तथा भौतिक विज्ञान के अनेकानेक सिद्धांत सैकड़ों वर्षों के बीत जाने के बाद भी यथावत् ही बने हुए हैं। प्रकृति के सिद्धांत तो नितांत अपवादरहित हैं।

''संसार निरंतर परिवर्तनशील है तथा इसलिए मूल्यों और मान्यताओं में परिवर्तन होना एक प्राकृतिक अनिवार्यता है'' का सिद्धांत एक अत्यंत ही भ्रामक तर्क है जो संभवत: उन लोगों ने प्रतिपादित किया जो अल्प सामर्थ्यवान होने के नाते वास्तविक मौलिक मूल्यों और मान्यताओं के अनुरूप अपने जीवन को चलाने में असमर्थ रहे, पर फिर भी दुनिया की तथा अपनी निगाह में गिरना नहीं चाहते थे। यह तो वही बात है कि एक बार जब गोमती में बाढ़ आई और नदी का जल-स्तर खतरे के निशान से दो फुट ऊपर चल रहा था, तो लखनऊ के नवाब साहब ने घबराकर शहर कोतवाल को बुलाकर अपनी गंभीर चिंता व्यक्त की। कोतवाल ने उस समस्या को तत्काल सुलझाने का वचन दिया और आधे घंटे में लौटकर नवाब साहब को खुशखबरी सुनाई कि गोमती का जल अब खतरे के निशान से दो फुट नीचे बह रहा है। राहत की साँस लेते हुए नवाब साहब ने जब जानना चाहा कि शहर कोतवाल ने यह चमत्कार कैसे कर दिखाया, तो पता चला कि कोतवाल साहब ने खतरे के निशान को ही चार फुट ऊपर उठा दिया था। आधुनिकतावाद के तर्क से शहर कोतवाल का यह बंदोबस्त नितांत सैद्धांतिक ही माना जाएगा—''परिवर्तनशील संसार में जब गोमती का जल-स्तर परिवर्तन कर रहा है तो खतरे के निशान को अपरिवर्तित रखना समय की आवाज को अनसुना करना होगा, अप्राकृतिक होगा, तर्क के विरुद्ध होगा।''

परिवर्तनशीलता के पिछले तर्क को लेकर जिस तरह संसार में मौलिक मूल्यों और मान्यताओं को तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है, उससे मनुष्य केवल उस बाढ़ से आँख मूँद रहा है, जो खतरे के निशान को बदल देने से लुप्त सी हो गई जताई जा रही है। उससे नुकसान कौन उठानेवाला है, इसे बताना शायद आवश्यक न होगा।

फिर भी, कुछ विराट तथा अत्यंत जटिल प्रश्न-चिह्नों को अनदेखा भी नहीं किया जा सकता। प्रश्न कई हैं और उनका सामना निर्भीकता से करना अनिवार्य है। उनका हल बिना निकाले मूल्यों की महिमा, मूल्यों का मूल्य आँक पाना असंभव है। जो स्वाभाविक प्रश्न उठते हैं पहले उनका उल्लेख करना आवश्यक है—

प्रश्न

1. मनुष्य के जीवन में मूल्यों एवं मान्यताओं का महत्त्व क्या है?

2. मूल्यों और मान्यताओं का व्यक्ति के अभ्युदय तथा पराभव, समाज के उत्थान तथा पतन से क्या नाता है?

3. जीवन के सही मूल्य एवं मान्यताएँ कैसे निर्धारित किए जाएँ? क्या सभी मूल्य शाश्वत हैं? परिवर्तनीय हैं, तो उनके परिवर्तन का आधार क्या होगा?

4. मूल्यों की शाश्वतता पर प्रश्न-चिह्न क्यों व कैसे लगा? उन्हें परिवर्तनशील क्यों माना जाने लगा है? मूल्यों का बदलना कब आवश्यक होता है?

5. क्या कोई ऐसी कसौटी है, जिस पर प्रत्येक व्यक्ति नए-पुराने समस्त मूल्यों तथा मान्यताओं को परखकर स्वयं निर्णय ले सके कि कौन-कौन से सही हैं तथा कौन-कौन से गलत?

6. सही और गलत आचरण का त्रुटिरहित निर्णय किस आधार पर लिया जा सकता है?

7. समाज में कोई आचरण अच्छा, कोई गलत तथा कोई पापमय घोषित किया जाता है। इन तीन प्रकार के

आचरणों को किस आधार पर आँका गया है? क्या वह आधार शाश्वत है, अपरिवर्तनीय है?

8. किसी मूल्य के लिए कितनी कीमत चुकाना उपयुक्त होगा, इसका निर्णय कैसे किया जाए?

9. क्या विभिन्न मूल्यों के महत्त्व में अंतर है? यदि हाँ, तो उसका कारण क्या है तथा उनकी कोटियों का क्रम किस आधार पर निर्धारित किया जाएगा?

एक-एक करके उपर्युक्त सभी प्रश्नों के उत्तर पाना आवश्यक है—

प्रश्न 1. मनुष्य के जीवन में मूल्यों एवं मान्यताओं का महत्त्व क्या है?

उत्तर : मनुष्य के जीवन में मूल्यों का वही महत्त्व है, जो किसी जहाज में 'रडार' का होता है। मूल्य ही व्यक्ति के जीवन की दिशा निर्धारित करते हैं। बिना मूल्यों के स्थापित किए, दैनिक जीवन में, क्या छोटे, क्या बड़े, कैसे भी निर्णय लेने में हम सदा असमर्थ रहेंगे। एक संशयात्मक वृत्ति हमारी मानसिकता का अंग बन जाएगी। परंतु जिसने अपने मूल्य निर्धारित कर रखे हैं, वह व्यक्ति कैसा भी निर्णय लेने में किंचित् भी विलंब नहीं करेगा। वे निर्णय चाहे उसके निजी जीवन से संबंधित हों अथवा उसके काम से अथवा राष्ट्र से।

प्रश्न 2. मूल्यों और मान्यताओं का व्यक्ति के अभ्युदय तथा पराभव, समाज के उत्थान तथा पतन से क्या नाता है?

उत्तर : कब, कहाँ और क्यों हमें क्या करना चाहिए, इसका निर्णय व्यक्ति अपने मूल्यों तथा मान्यताओं के आधार पर ही करता है। हर व्यक्ति अपने मूल्य, अपनी मान्यताएँ सदा अपने हृदय में धारण करता है। मूल्य, व्यक्ति के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग होते हैं। यही कारण है कि मूल्यों का, मान्यताओं का हमारे जीवन से एक ऐसा नाता बन जाता है जिसका प्रभाव हमारे संपूर्ण व्यक्तित्व, हमारे भावी स्वरूप तथा संपूर्ण जीवन पर पड़ता है। जिस दिव्यता के हमारे मूल्य होंगे, हमारा जीवन भी उसी दिव्यता का बनेगा। हर व्यक्ति के जीवन की गति वही होगी, जो उसके मूल्यों की है, क्योंकि प्रकृति का यह विधान है कि व्यक्ति जिसे भी सतत अपने हृदय में धारण करता है, उस तत्त्व के, उस व्यक्ति के, उस इष्ट के गुण उस व्यक्ति में स्वत: ही प्रस्फुटित होने लगते हैं।

एक दृष्टांत से इस सिद्धांत का निरूपण संभवत: अधिक स्पष्ट हो सकेगा—

यदि मान लें कि किसी ने धन को सर्वोपरि मूल्य स्वीकार किया हुआ है, तो इसी विधान के अधीन पैसे के उपासक के नाते उसके अंदर वही गुण पाए जाएँगे जो क्रमश: धन में हैं। जैसे—

(1) पैसे में बड़ी शक्ति होती है, किंतु वह शक्ति होती अत्यंत छिछली है। ठीक उसी के अनुरूप उसका उपासक भी अपने अंदर बड़ी शक्ति की अनुभूति करेगा, परंतु वह व्यक्ति, लोगों के दिल तो दूर, उनके दिमाग पर भी राज नहीं कर पाएगा। ऐसा व्यक्ति तो केवल लोगों के मन के लोभ पर ही राज कर पाएगा। उस धनवान की शक्ति कितनी छिछली होगी, इसी से इसका अंदाजा लगाया जा सकता है।

(2) पैसे की तरफ दुनिया दौड़ती है, अत: पैसे के भक्त के इर्द-गिर्द भी लोगों की कमी नहीं रहेगी।

(3) पैसा जहाँ भी रखा जाएगा, उसे बहुत सुरक्षा दी जाती है। पैसे का भक्त भी अपनी सुरक्षा के लिए निरंतर यत्नशील तथा चिंतित रहेगा।

(4) पैसा किसी का सगा नहीं होता। पैसे का भक्त भी किसी का सगा नहीं रह जाएगा। ऐसा व्यक्ति जब यह पाए कि असली प्यार करनेवाला उसके आस-पास कोई नहीं है, तो उसे आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

(5) पैसे में महसूस करने की शक्ति नहीं होती। पैसे के भक्त के अंदर भी संवेदनशीलता लुप्त होती जाएगी। पैसे के प्रति उसकी भक्ति जिस स्तर की होगी, संवेदनशीलता का अभाव भी उसके अंदर उसी स्तर का होगा।

(6) पैसा अर्थात् लक्ष्मी चंचल है, कहीं स्थिर रह ही नहीं पाती। पैसे का भक्त भी चैन या शांति नहीं प्राप्त कर पाएगा। वह पैसे का जिस स्तर का उपासक है, उसमें बेचैनी और अशांति भी उसी स्तर की व्याप्त रहेगी।

(7) पैसे का महत्त्व तभी तक है, जब तक उससे वस्तु उपलब्ध हो सकती है। पैसे के भक्त का महत्त्व भी तभी तक रहेगा, जब तक उसके पास पैसा है। पैसा न होने पर उसे कोई पूछनेवाला नहीं मिलेगा।

(8) कितना ही असीम क्यों न हो, अंततः पैसा वास्तव में केवल मानव का दास है। पैसे के भक्त में भी दास-प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होना अनिवार्य है। अंततः वह अनगिनत वस्तुओं का दास बनकर रह जाए, तो विस्मय की बात नहीं।

अतः हम जो भी मूल्य अपने हृदय में धारण करें, हमें यह सोचकर धारण करने होंगे कि जैसी दिव्यता अथवा निकृष्टता, जैसी शाश्वतता अथवा नश्वरता, जैसी सद्गति अथवा अधोगति उन मूल्यों में निहित है, वही सबकुछ जीवन में हमें भी प्राप्त होकर रहेगी।

मूल्यों का हर व्यक्ति के ऊपर एक और भी प्रभाव पड़ता है। जब तक हम जागृत अवस्था में हैं, हम या तो कुछ सोच रहे होंगे, या बोल रहे होंगे या कुछ कर रहे होंगे। इन गतिविधियों में हम तभी लग सकते हैं, जब हम पहले मन में निर्णय कर लें कि हमें यह सोचना है, यह बोलना है अथवा यह करना है। यह निर्णय हम तभी ले सकते हैं, जब अपने मूल्यों, अपनी मान्यताओं के आधार पर हमारे पास कुछ मापदंड हों, जिनकी कसौटी पर कसकर हम मन-ही-मन परख चुके हों कि हमें यह तो सोचना है और यह नहीं सोचना, यह बोलना है, यह नहीं बोलना है अथवा यह करना है और यह नहीं करना है। ये मापदंड दो प्रकार के होते हैं। एक वे, जिन्हें हमने स्वतः विचार करके, अपने सद्विवेक से परख कर अपनाया है। दूसरे वे, जो समाज में अन्य लोगों ने निर्धारित कर रखे थे और जाने-अनजाने में हम उन्हें अपनाए हुए हैं। अब जैसे ही हम दूसरों के बनाए मानदंडों के आधार पर अपना जीवन चलाना स्वीकार करते हैं, उसी क्षण से उस जीवन का दूसरों के अधीन हो जाना अनिवार्य है। अर्थात्—यदि हम स्वयं अपनी बुद्धि तथा विवेक का प्रयोग करने के लिए तैयार नहीं हैं, तो हम पराधीन हो लेंगे। इसमें संशय नहीं है। अब हमने जिनकी अधीनता स्वीकार कर ली, वे यदि संयोग से स्वस्थ प्रवृत्तियों के समर्थक थे, तब तो फिर भी हम बच सकते हैं, परंतु यदि वे किन्हीं दूषित प्रवृत्तियों के समर्थक रहे, तो हमारा भावी जीवन भी उतना ही दोषयुक्त बनकर रह जाएगा।

बावजूद अभूतपूर्व वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति के, पाश्चात्य सभ्यताएँ आज कितनी अस्वस्थ हैं, यह सभी देख रहे हैं। उन सभ्यताओं के सैकड़ों-हजारों लोग बेचैन होकर भारतीय मनीषियों की शरण जिस गति से ले रहे हैं उसी से विदित हो रहा है कि वहाँ का समाज कितना बीमार है। स्पष्ट है कि उनकी लाखों की दौलत उन्हें वह दे पाने में असमर्थ हो रही है, जिसके बिना उन्हें अपना सारा धन, सारा वैभव, सारा ऐश्वर्य सारहीन और खोखला नजर आता है। आखिर सम्राट सोलोमन पहला व्यक्ति तो न था, जिसने अभूतपूर्व यश, ऐश्वर्य और भौतिक सुख पाए, फिर भी जीवन की संध्या में उसे अपना जीवन सारहीन सा जान पड़ा। यह अनुभव सैकड़ों-हजारों का रहा है।

कैसी विडंबना है कि जिन मूल्यों, मान्यताओं तथा आस्थाओं को परखने के उपरांत उन्हें खोखला पाकर, पाश्चात्य सभ्यताएँ उन्हें त्याग रही हैं, उन्हीं मूल्यों को सहस्रों भारतीय स्वयं धारण करने के लिए आतुर दिखते हैं। अपने शाश्वत मूल्यों को त्यागकर, मानवीय गुणों से विहीन बना देनेवाले पश्चिम के मूल्यों को अपनाकर न जाने उन्हें कौन सी निधि मिलने की संभावनाएँ नजर आती हैं। धन और पैसा जो अपनी उत्कृष्टतम गति में मात्र एक

'साधन' था, वही आज आधुनिक मानव के जीवन का 'साध्य' बनने लगा है। जिस समाज में किसी उत्कृष्ट ग्रंथ को ठुकराकर केवल उस 'कलम' का पूजन होने लगे जो उस ग्रंथ को लिखने का साधन था, तो ऐसे समाज का क्या भविष्य हो सकता है यह कोई भी आँक सकता है। जहाँ साधन 'मौलिक मूल्यों' की वस्तु बने और मौलिक मूल्यों को 'साधन' बना डाला जाए, तो ऐसे समाज का जो अंजाम होना है, वही तो पश्चिम की सभ्यताएँ आज भुगत रही हैं। वहाँ 'धन' मानवता का विकास करने के लिए 'साधन' नहीं बनता वरन् मानव को धनोपार्जन के लिए 'साधन' बनाया जाता है। वहाँ धन को व्यय करके बंधु-बांधव का प्यार अर्जित नहीं किया जाता, अपितु बंधु-बांधव के प्यार को धन के तराजू में तोला जाता है। वहाँ वृद्ध माता-पिता, श्रद्धा और पूजा के पात्र न रहकर एक त्याज्य बोझ हैं, जिनको कुछ पैसे खर्च करके एक जगह रख दिया जाता है। मानो, माता-पिता का प्यार भी पैसों में तोली जानेवाली कोई वस्तु हो।

जिस पैसे की गुलामी ने पश्चिम के समाज को वही गति दे डाली है, जो पैसे की गति होती है, उसी पैसे के प्रवाह में न जाने किस अनिष्टकारक शक्ति के वशीभूत होकर आज परम पवित्र माँ भारत के पुत्र भी उसी पैसे की गुलामी के सागर में आकंठ डूबने के लिए उद्यत होने लगे हैं।

पैसा महत्त्वहीन है, ऐसा नहीं है। पैसे का जीवन में एक निश्चित महत्त्व है। वस्तुत: जैसे किसी घर में बहुत से नौकर विभिन्न काम करते हैं, मानव के लिए पैसा भी एक ऐसा ही अकेला नौकर है, जो बहुत से काम करता है। उसका धर्म मानव की दासता करना है। न जाने काल के किस कुचक्र से मानव स्वयं पैसे का दास बनने पर उद्यत हो चला है। यह तो सुना था कि नौकर मालिक बनने के सपने देखा करते हैं, पर यहाँ तो स्वामी ही दास बनने पर आमादा हो रहा है।

जब मूल्य उलटने लगे, तो मानव भी उलटने लग जाए तो विस्मय कैसा? अर्थात् जो मनुष्य प्रकृति के विधानानुकूल अंतहीन सुख से जीवन बिताने के लिए जन्मा था, वह अपने मूल्यों को उलटने के कारण एक अंतहीन दु:ख में फँसकर रह जाए, तो यह नितांत स्वाभाविक है।

पश्चिम में सबकुछ बुरा-ही-बुरा है, ऐसा कदापि नहीं है। उनके यहाँ बहुत सी बातें हैं, बहुत से मूल्य हैं, बहुत सी मान्यताएँ हैं, जिनको अपनाने से हमारा जीवन सार्थक बन सकता है, परंतु कुछ मान्यताएँ अवश्य ऐसी भी हैं जिन्होंने उन राष्ट्रवासियों की मानवता को खोखला सा कर डाला है।

विकृत मूल्यों को धारण करने से कैसा अनर्थ हो सकता है उसे एक दृष्टांत संभवत: और अधिक स्पष्ट कर सकेगा। आज से 50-60 वर्ष पूर्व सर्वांगीण विकास एवं ज्ञानार्जन विद्यार्थी का उद्देश्य होता था। अर्थात्—ज्ञानार्जन शिक्षा का 'साध्य' था। वही सर्वाधिक महत्त्व का मूल्य होता था। परीक्षाएँ केवल एक 'साधन' थीं जिनके माध्यम से जाना जाता था कि छात्र का ज्ञानार्जन किस स्तर का हुआ। किंतु काल के कुचक्र से 'साध्य' साधन बन गया और 'साधन' साध्य बन गया। ज्ञानार्जन मूल्यवान न रहकर परीक्षाफल मूल्यवान हो चला। अत: परीक्षाफल कैसे-कैसे तरीकों से सुनिश्चित किया जा सकता था, उसके अनेक मार्ग तैयार हो लिए। शिक्षा संस्थाओं में ही ज्ञानार्जन पर महत्त्व कम, परीक्षाफलों पर महत्त्व अधिक दिया जाने लगा, क्योंकि शिक्षा संस्था की 'ख्याति' उसी पर निर्भर थी। इस तरह, शिक्षा जगत् का एक 'मूल्य' विकृत हो गया। फलस्वरूप आज सैकड़ों की तादाद में स्नातक और स्नातकोत्तर फर्स्ट क्लास फर्स्ट की डिग्री तो प्राप्त करने में सफल हो गए, पर वे ही जब नौकरी के लिए साक्षात्कार में प्रस्तुत होते हैं, तो अपने विषय के ज्ञान में बहुत कमजोर मिलते हैं और अनुपयुक्त घोषित हो तिरस्कृत होते हैं। उस समय वे समझ नहीं पाते कि उनके जीवन में गड़बड़ी कहाँ, कैसे व कब हो गई। मेरे एक साक्षात्कार-बोर्ड में उप-निरीक्षक पद के लिए एक फर्स्ट क्लास फर्स्ट एम.ए. (भूगोल) आए थे। पूछने पर उन्होंने अमेरिका की

राजधानी न्यूयॉर्क और रूस की स्टालिनग्राड बताई थी। एक एम.ए. (इंगलिश) में फर्स्ट क्लास में उत्तीर्ण होनेवाले परीक्षार्थी, शेक्सपियर के नाम के हिज्जे तक सही नहीं बता सके।

स्पष्ट था कि जब छात्रों ने 'सर्वांगीण विकास तथा ज्ञानार्जन' के वास्तविक मूल्यों को तिलांजलि देकर समाज के बनाए 'परीक्षाफल' सरीखे विकृत मूल्य को अपनाया, तो दुर्गति को प्राप्त होना अनिवार्य हो गया। वे स्वयं अपने विवेक से यह आँक पाने में असफल रहे कि विद्यार्थी काल में उनके लिए क्या चीज वास्तविक महत्त्व की थी। यदि उन्होंने अपने विवेक की कसौटी पर यह परख लिया होता कि भले ही नब्बे नहीं, निन्यानबे प्रतिशत विद्यार्थियों के लिए फर्स्ट डिवीजन मूल्यवान हो, भले ही प्रधानाचार्य तक के लिए अधिक-से-अधिक फर्स्ट डिवीजनर्स का आना सर्वोपरि मूल्य हो, फिर भी सच्चे विद्यार्थियों के लिए सर्वोपरि मूल्य की बात यही है कि वे अपना सर्वांगीण विकास करें तथा अपने विषयों का ज्ञान पूरी तरह अर्जित करें, तो शायद वे इस दुर्दशा से बच जाते।

विकृत मूल्यों को धारण करके उनका जीवन ही दिशाविहीन हो गया। जो इने-गिने विद्यार्थी अपने विवेक का प्रयोग करके सही मूल्यों पर ही दृढ़ रहते हैं, वे आज भी उसी तथाकथित निकृष्ट शिक्षा जगत् से विभूतियाँ बनकर निकल रहे हैं। अमेरिका और ब्रिटेन की यूनिवर्सिटियों में भारतीय छात्रों की जो छवि है, वह किसी भी राष्ट्र के लिए एक गौरव की बात है।

मूल्यों का, मान्यताओं का व्यक्ति के अभ्युदय तथा पराभव से कैसा अकाट्य नाता है, संभवत: अब स्पष्ट हो गया होगा। फिर, जब समाज के अधिकांश लोग उन विकृत मूल्यों को ही अपनाना शुरू कर देते हैं, तो सारे समाज का ही पतन अवश्यंभावी हो जाता है।

विकृत मूल्य तो विष के समान है। जितने अधिक लोग उसका सेवन करते जाएँगे, समाज में विनाश भी उतना व्यापक होता जाएगा। केवल इस आधार पर कि अमुक विष का पान समाज के 90-95 प्रतिशत लोग करने लगे हैं, कोई विष अमृत में परिणत नहीं हो सकता। किसी निकृष्ट मूल्य की व्यापकता बढ़ने से उसकी निकृष्टता नहीं घट सकती। बेशक उस विकृत मूल्य को अपनाने में लोगों की झिझक घट सकती है, संकोच घट सकता है; परंतु कोई बहुत संकोच करता हुआ विष पिए या धड़ल्ले से खुलेआम पिए, उससे विष के विषैलेपन में अंतर नहीं आता। विष तो विष ही रहेगा। ऐसा सोचना कि अमुक बात अब समाज में व्यापक रूप से प्रचलित है, अत: उसे करना पाप नहीं रह गया, बहुत भयंकर भूल है। भ्रष्टाचार कितना भी व्यापक रूप क्यों न ले ले, वह व्यक्ति के वास्तविक हित अथवा राष्ट्रहित में कभी नहीं हो सकेगा। अछूत प्रथा तो इस पूरे देश में बहुत व्यापक रूप में विद्यमान थी, तो क्या कोई भी इसे स्वीकार कर सकेगा कि यह प्रथा इतनी व्यापक होने के नाते एक सही प्रथा थी? जो प्रथा मानवीयता के मूल्यों एवं सिद्धांतों के विरुद्ध है उसे कितना ही व्यापक समर्थन क्यों न प्राप्त हो जाए, फिर भी वह घोर पाप की ही सूचक रहेगी। जबर्दस्ती किसी अबला विधवा को उसके मृतक पति की चिता पर जलाने के समर्थन में हजारों नहीं, करोड़ों लोगों का जुलूस ही क्यों न निकले, वह जघन्य कृत्य एक निर्मम हत्या के अलावा कुछ नहीं बन सकता।

यह एक अकाट्य सत्य है कि 'मूल्य' जनसमर्थन के मोहताज न कभी थे, न हैं, और न हो सकते हैं। 'सत्य' को एक भी अनुयायी न मिले, तो भी वह 'असत्य' नहीं कहला सकता और 'असत्य' का चलन सारी दुनिया करने लगे, फिर भी वह 'सत्य' नहीं बन सकता। जिस कसौटी पर मूल्यों का मूल्यांकन होता है, वह कसौटी न समाज के अधीन है, न काल के और न देश के। यह कसौटी एक अपरिवर्तनीय शाश्वत सिद्धांत पर आधारित है। अत: किसी देश, काल अथवा समाज में अमुक मूल्य सर्वमान्य हो चला है इसीलिए वह सही होगा, यह कदापि जरूरी नहीं है।

सही मूल्यों पर चलने पर ही समाज का अभ्युदय होगा। विकृत मूल्यों पर चलने पर समाज का पतन अवश्यंभावी

है। विश्व के इतिहास में फिनीशियंस, एथिनियंस, मैसीडोनियंस, स्पार्टन्स्, रोमन्स, ग्रीक आदि अनेकानेक सभ्यताएँ अपने जमाने में दिव्यता के शिखर पर पहुँचीं, पर सभी काल के गर्भ में विलीन हो गईं। इसका मूल कारण यही था कि जो सभ्यता शाश्वत मूल्यों पर आधारित नहीं है, वह शाश्वत नहीं हो सकती। किसी भी देश, सभ्यता अथवा समाज के उत्थान अथवा पतन का उसमें व्याप्त मूल्यों एवं मान्यताओं से सीधा रिश्ता है। यदि मूल्य विकृत हैं, तो उस समाज, देश अथवा सभ्यता को विनाश से कोई नहीं रोक सकता। दूसरी ओर, यदि वह शाश्वत मूल्यों पर आधारित है, तो संसार की कोई शक्ति उस समाज, देश अथवा सभ्यता को नष्ट नहीं कर सकती।

तभी अल्लमाँ इकबाल सरीखा शायर अपने देश के लिए कह उठता है कि :

''कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहाँ हमारा।''

प्रश्न 3. जीवन के सही मूल्य एवं मान्यताएँ कैसे निर्धारित किए जाएँ? क्या सभी मूल्य शाश्वत हैं? परिवर्तनीय हैं, तो उनके परिवर्तन का आधार क्या होगा?

उत्तर : आधुनिक मनुष्य भ्रमित सा अनुभव करता है। तनाव और उलझन उसके जीवन का अंग ही बन गए हैं। अधिकांश लोग यही निर्णय नहीं कर पा रहे हैं कि वे चाहते क्या हैं? सामान्यतया प्रत्येक व्यक्ति अपने अंत:करण में दो परस्पर विरोधी शक्तियों की खींचातानी अनुभव करता रहता है। अंतर्जगत् में एक आवाज एक दिशा की ओर प्रेरित करती है, तो दूसरी आवाज उससे ठीक विपरीत दिशा में चलने की सलाह देती है। व्यक्ति इसी ऊहापोह में बैठा विचार करता है कि कौन सी दिशा पकड़ी जाए, क्योंकि जहाँ पहली दिशा में ले जानेवाली आवाज दस दलीलें अपने पक्ष में प्रस्तुत करती है, वहीं उसके ठीक विपरीत दिशावाली आवाज उन सारी दलीलों को काटते हुए अपने पक्ष की चार अतिरिक्त दलीलें रख देती है। और तब मनुष्य अपने को एक गंभीर उलझन में फँसा पाता है। समस्या के समाधान हेतु जब वह समाज में जाता है, तो वहाँ भी चार आदमी पहली दिशा की सलाह देते हैं, तो चार विपरीत दिशा की। फिर जब उसे कुछ नहीं सूझता, तो वह उसी मार्ग पर चल पड़ता है जिधर अधिकांश मनुष्य जा रहे हैं। अकेले पड़ जाने का प्रबल भय होने के कारण वह स्वयं सोचने की प्रक्रिया को स्थगित करके सबके साथ ही हो लेता है।

वह स्वयं चाहता क्या है? उसे चाहना क्या चाहिए? क्यों चाहना चाहिए? ये सारे ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तर बहुधा उसे न अपने से, न समाज से, न गुरुजनों से, कहीं से भी तो नहीं मिल पाते।

यह तो गति है उस असामान्य व्यक्ति की, जिसे किंचित् सोचने का अवसर मिलता रहा हो। अधिकांश तो अपने जीवन के निर्णय माता-पिता, गुरुजनों, प्रचलित मान्यताओं तथा कभी-कभी अपने अनुभवों के आधार पर, बिना अधिक सोचे-विचारे लेते रहते हैं, पर उन्हें भी यह निश्चयात्मक रूप से पता नहीं होता कि जो मार्ग उन्होंने पकड़ा है, वास्तव में वही मार्ग उनके लिए सर्वश्रेष्ठ है कि नहीं। अत: जीवन में त्रुटिविहीन निर्णयों को करने की सामर्थ्य अर्जित करना प्रत्येक मनुष्य के लिए मौलिक समस्या है। त्रुटिविहीन निर्णय केवल त्रुटिरहित मूल्यों एवं मान्यताओं के धारण करने से ही संभव हो सकते हैं। अत: प्रश्न यह आता है कि त्रुटिरहित मूल्य तथा मान्यताओं का निर्धारण किस आधार पर किया जाए?

मूल्यों और मान्यताओं का निर्धारण वास्तव में जिंदा रहने से भी अधिक महत्त्व का है, क्योंकि किसी भी व्यक्ति

की कीमत केवल उसमें स्थापित मूल्यों के आधार पर ही होती है। जिसमें कोई मूल्य ही न होंगे, उस व्यक्ति का जीवन निरर्थक तथा वह स्वयं के लिए, समाज के लिए तथा राष्ट्र के लिए एक बोझ ही बनकर रह जाएगा। वास्तव में वह तो एक मृत व्यक्ति से भी बुरा होता है, क्योंकि एक मृतक कम-से-कम स्वयं के लिए या समाज अथवा राष्ट्र के लिए बोझ तो नहीं होता। इसीलिए सही मूल्यों एवं मान्यताओं का निर्धारण वास्तव में जिंदा रहने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

मूल्यों के निर्धारण में सर्वोपरि महत्त्व की बात यह है कि जो भी मूल्य निर्धारित हों, वे ऐसे होने चाहिए जिनसे हमारी निगाह में हमारा जीवन अर्थपूर्ण हो जाए, सार्थक हो जाए। वे, जिन्हें धारण करके तथा जिनके अनुकूल जीवन को चलाने पर जीवन अत्यंत रसमय तथा सतत सुखदायी हो जाए। इतना ही नहीं, उन मूल्यों को इतनी दृढ़ता से स्थापित होना होगा कि उनके रहते, उनके विपरीत सभी मूल्य अर्थात् उनके विलोम, हमें इतने हीन नजर आने लगें कि हम स्वेच्छा से उन्हें सर्वथा त्याज्य स्वीकार कर सकें। इसके अतिरिक्त वे ऐसे भी हों कि जिनके आधार पर किए हुए समस्त आचरणों का स्मरण करके हमें हरदम संतोष ही हो तथा जीवनपर्यंत कभी भी पछतावा न करना पड़े।

जब कोई किसी यात्रा पर निकलता है, तो इसके बावजूद कि उसके घर में अनगिनत सामान हैं, वह अपीन यात्रा के लिए जो कपड़े इत्यादि वस्तुएँ महत्त्वपूर्ण हैं, केवल उन्हीं को साथ लेकर निकलता है। बाकी का सारा सामान जो उस यात्रा के लिए महत्त्वहीन है, उसे घर पर बिना किसी मोह के छोड़कर चल पड़ता है। यदि पहाड़ों पर जाना है, तो ऊनी कपड़े मूल्यवान हो जाएँगे, पर बंबई या कलकत्ते जाना है, तो ऊनी कपड़े उस यात्रा के लिए एक महत्त्वहीन बोझ हो जाएँगे।

ठीक इसी तरह जीवन भी एक यात्रा है। कौन सी वस्तुएँ, कौन से व्यक्ति, कौन सी परिस्थितियाँ, कौन सी गतिविधियाँ, कैसे विचार, कैसी बातें तथा कैसे कर्म हमारी जीवन-यात्रा के लिए मूल्यवान हैं तथा कौन से मूल्यहीन हैं, इसका निर्णय तभी संभव है, जब हम अपनी जीवन-यात्रा का उद्देश्य निर्मित कर लें। जब तक जीवन-यात्रा के उद्देश्यों से ही कोई अनभिज्ञ रहेगा, तब तक वह किसी हालत में अपने जीवन के मूल्यों एवं मान्यताओं को निर्मित ही नहीं कर सकता। ऐसा न होने पर मनुष्य उसी संभ्रमित गति को प्राप्त होता है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

अत: जीवन के उद्देश्यों के निर्धारण की सर्वोपरि आवश्यकता है।

जब हम जीवन के उद्देश्यों का विश्लेषण करने चलते हैं, तो पाते हैं कि मनुष्य योनि में जन्म लेने के उपरांत हमारा सर्वप्रथम दायित्व बनता है कि हम मनुष्य बनें। मनुष्य हम तब बनते हैं, जब हम उन दसों अधिकारों का प्रयोग नित्य करते रहें जो प्रकृति ने मनुष्य को दिए।

(1) अत: सर्वप्रथम हमारी मूल्यावली में वे सारे तत्त्व, वस्तुएँ, गतिविधियाँ, विचार, वचन तथा कर्म अंकित होने होंगे, जो हमें मनुष्य बनाने में सहयोगी हों।

सुविधा के लिए उन दसों अधिकारों का यहाँ पुन: उल्लेख करना उपयुक्त होगा, जिनका नित्य प्रयोग करना मनुष्य बनने के लिए अनिवार्य है। वे हैं—

(1) स्वेच्छा से अपनी निम्नांकित छह शक्तियों को विकसित करते जाना—1. शारीरिक, 2. मानसिक, 3. नैतिक, 4. आध्यात्मिक, 5. कलात्मक एवं 6. संवेदनशीलता।

(2) अपने मौलिक कल्याण, अपनी सामर्थ्य तथा अभिरुचियों को निगाह में रखते हुए अपना भौतिक कर्तव्य-क्षेत्र

निर्धारित करना।

(3) अपने विवेक का विकास करना।

(4) अपने अहंकार का शमन करते रहना।

(5) स्वेच्छा से दूसरों के दु:खों को बाँटना।

(6) स्वेच्छा से दूसरों को सुख पहुँचाना।

(7) अपने कार्यक्षेत्र में, कार्य प्रणाली में, सतत नए मार्गों का सृजन करना अथवा किसी भी वस्तु, कला, विचार आदि का सृजन करना। अर्थात्—कैसी भी सर्जनात्मक गतिविधि में लगना।

(8) अपने विभिन्न कार्यों को करने के लिए नित्य अपनी संकल्प शक्ति का प्रयोग करना।

(9) ऐसे व्यक्तियों, ऐसी पुस्तकों, ऐसे विचारों का समागम करना, जिससे स्वयं का व्यक्तित्व विराट अनुभव हो।

(10) पूर्णता प्राप्त करने हेतु जो भी मार्ग अपनाया है, कर्म का, ज्ञान का, भक्ति का, उस मार्ग पर नित्य कुछ मिनट ही चलने का अभ्यास करना।

इसी के साथ-साथ अपने को 'अमानुषिक' बनने से बचाने के लिए इन दसों अधिकारों के विलोमों का सर्वथा त्याग करना, अर्थात्—

(1) कोई ऐसी क्रिया न करना, जिससे स्वयं की शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक, कलात्मक तथा संवेदनशीलता की शक्तियों को क्षति पहुँचे।

(2) अपने मौलिक कल्याण को अवरुद्ध करने अथवा अपना अकल्याण करनेवाली किसी गतिविधि में न लगना।

(3) कोई ऐसा विचार, वचन अथवा कर्म न करना जो विवेक के प्रतिकूल हो, अर्थात् अपने विवेक को कुंठित न करना।

(4) इसी तरह अपने किसी भी आचरण से अहंकार को संरक्षण अथवा प्रोत्साहन न देना।

(5) जानकर किसी को अकारण दु:ख न पहुँचाना।

(6) जानकर, अकारण किसी के सुख में विघ्न न डालना।

(7) किसी वस्तु, विचार, कला आदि को अकारण नष्ट न करना।

(8) संकल्पों का निरादर अथवा उनकी अवहेलना न करना।

(9) ऐसे व्यक्ति, विचार अथवा पुस्तकों का समागम न करना जिनसे व्यक्तित्व का लघु होना, सीमित होना अनुभव करने लगे।

(10) स्वयं विघटित करनेवाली किसी भी क्रिया को न करना अर्थात् कर्मक्षेत्र में काम-चलाऊ कर्म न करने का अभ्यास करना।

अस्तु, उपर्युक्त आधार पर, 'मनुष्य' बनने तथा अपने को 'अमानुषिक' बनने से बचाने के लिए, की जानेवाली सारी गतिविधियों के लिए कौन-कौन से तत्त्व, व्यक्ति, परिस्थितियाँ, विचार, वाणी तथा कर्म प्रासंगिक एवं मूल्यवान हैं, वे सभी हमें अपनी मूल्यावली में शामिल करने पड़ेंगे।

आदिकाल से मनुष्य योनि में जन्म लेनेवाले का एकमात्र परम दायित्व 'वास्तविक मनुष्य' बनना है। साथ ही अनंतकाल तक इस परम दायित्व का अपरिवर्तित बना रहना अनिवार्य है। अत: यह मूल्यावली हर काल में, हर

स्थान में, विश्व भर के मनुष्यों के लिए एक ही होगी। सार्वकालिक, सार्वभौमिक तथा सार्वजनिक होने के कारण इस मूल्यावली के सारे ही विषय 'शाश्वत' मूल्य बनेंगे।

(2) इसके बाद मूल्यावली के दूसरे भाग के विषयों को अंकित करना होगा। अपने जीवन का मौलिक उद्देश्य क्या है, उसे पहचानना होगा। हम यह जान चुके हैं कि समस्त मनुष्यों के जीवन का एक ही उद्देश्य है—

(1) आत्मा को असीमता में विलीन कराना अर्थात्—पूर्णता प्राप्त करना।

(2) दूसरों के दु:खों को बाँटना।

(3) दूसरों को सुख पहुँचाना।

अत: इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति में जो भी तत्त्व, व्यक्ति, परिस्थिति, विचार, वाणी तथा कर्म सहयोगी होंगे, वे हमारी मूल्यावली के दूसरे भाग में अंकित होंगे। अपने जीवन में, अन्य मनुष्य तथा जीव न हों, तो दूसरों के दुखों को बाँटने तथा उन्हें सुख पहुँचाने के अपने प्रमुखतम कर्तव्य से मानव वंचित ही रह जाएगा। जिस तरह संपूर्ण चर, अचर जगत के प्रत्येक जीव, प्रत्येक तत्त्व का उद्देश्य आदिकाल से आज तक अपरिवर्तित बना रहा है, उसी तरह मनुष्य जीवन के उपर्युक्त तीनों उद्देश्य आदिकाल से आज तक अपरिवर्तित बने रहे हैं और आगे भी बने रहेंगे। अत: ये तीनों उद्देश्य तथा इन उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक समस्त तत्त्व, व्यक्ति, परिस्थितियाँ, विचार, वाणी तथा कर्म सार्वकालिक, सार्वभौमिक तथा सार्वजनिक रूप से सदा मूल्यवान रहे हैं और सतत मूल्यवान बने रहेंगे। अपनी मूल्यावली में अंकित ये सारे ही विषय भी शाश्वत मूल्य होंगे।

(3) उपर्युक्त तीनों उद्देश्यों को पूरा करने के लिए जीवित रहना अनिवार्य है। अत: मूल्यावली का तीसरा भाग बनाना होगा, जिसमें वे सारे विषय रखने होंगे जो हमारे प्राणों को सुरक्षित एवं शरीर को स्वस्थ रखते हैं।

इस दृष्टि से हवा, पानी, अन्न आदि मनुष्य के लिए कितने मूल्यवान हैं, संभवत: स्पष्ट हो सकेगा। उल्लेखनीय है कि हवा नि:संदेह मनुष्य के लिए परम मूल्य की वस्तु है। किंतु वातानुकूलित हवा मूल्यवान नहीं है। पानी अवश्य ही एक परम मूल्य का तत्त्व है, पर 'रेफ्रिजरेटेड' ठंडा पानी मूल्य का नहीं हो सकता। अन्न परम मूल्य की चीज है, पर भोजन की स्वादिष्टता का मूल्य गौण होगा। इस अंतर को स्पष्ट करना आवश्यक है, क्योंकि जब तक इस अंतर को व्यक्ति नहीं समझ पाता है, वह मूल्यविहीन चीजों के लिए अकसर अमूल्य तत्त्वों को दाँव पर लगाता देखा जाता है। ऐसा होने पर वह कितना बड़ा अनर्थ कर बैठता है, यह उसे अंत तक नहीं पता चल पाता। पैसे और धन का मोह इन्हीं बहुत से महत्त्वहीन तत्त्वों को अपनाने का हेतु बनता है। उसे प्राप्त करने के लिए कोई भाई का हक मारता है और भाई के प्यार जैसे अनमोल मूल्य को खोता है तो कोई अपनी अनमोल इज्जत को ही दाँव पर लगाकर भ्रष्ट तरीके से पैसे बटोरने की कोशिश करता है। आखिर भ्रष्टाचार के आरोप में जब वह निलंबित होगा, तो उसकी इज्जत मिट्टी में कभी भी मिल सकती है।

मैंने सैकड़ों-हजारों कर्मचारियों से यह प्रश्न किया है कि उनकी कौन सी चीज चली जाए, तो वे उसके जाने से पहले मृत्यु अधिक पसंद करेंगे। एक मत से सभी लोगों का एक ही उत्तर आता रहा कि यदि इज्जत चली जाए, तो व्यक्ति मौत पसंद करता है। अपने सेवा काल में तीन-चार अवसर ऐसे आए, जब किसी की अविवाहित कन्या गर्भवती हो गई, तो वह कहता पाया गया कि ''यह दिन देखने से पहले भगवान् मुझे उठा लेता, तो कहीं अच्छा होता।'' ठीक इसी तरह जब कोई भ्रष्ट अधिकारी पकड़ा जाता है, तो उसकी पत्नी तथा उसके बच्चों के उद्गार प्राय: यही होते हैं। कुछ लोग जब पकड़े जाते हैं, तो वास्तव में अपने प्राण ले भी लेते हैं। आत्म-हत्या कर बैठते हैं, क्योंकि इज्जत वास्तव में प्राणों से भी अधिक मूल्य की चीज है, पर कैसी विडंबना है कि इसके बावजूद न जाने कितने लोग विलासिता की वस्तुओं को, यानी मूल्यहीन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए, प्राणों से भी अधिक

मूल्यवाली 'इज्जत' को नित्य दाँव पर लगाए चले जाते हैं।

जीवन के वास्तविक रहस्य को जो जानते हैं, वे अच्छी तरह समझते हैं कि जीवन को यदि सार्थक बनाना है, सुख और आनंदमय बनाना है, अनंत रसमय बनाना है, तो भले ही तात्कालिकता के आधार पर कोई निर्णय कितना ही अरुचिकर लेना पड़े, पर जीवन के निर्णयों को अपने सद्विवेक की कसौटी पर परखे हुए मूल्यों के आधार पर ही लेना एक ऐसी अनिवार्यता है जिससे विमुख होना संभव नहीं है। फिर भी यदि कोई उससे विमुख होता है, तो वह न सिर्फ अपने साथ अनर्थ करता है, अपितु वह अनंत सुख, आनंद तथा अप्रतिम रस प्राप्ति के स्रोतों को अपने हाथ से बंद कर देता है, एवज में उसे चंद मुहरें, चाँदी के सिक्के अथवा कोई पद या ओछी ख्याति सरीखी जो दौलत हाथ लगती है, वह कितनी मूल्यरहित है, इसका अनुमान संभवत: अब लग गया होगा।

(4) मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जीवन में उसे अनेक दायित्वों को निभाना अनिवार्य होता है। मूल्यावली के चौथे भाग में वे सारे विषय आएँगे जो मनुष्य के विभिन्न दायित्वों अथवा कर्तव्यों से जुड़े हैं। उन दायित्वों की संपूर्ण तालिका दे पाना भले ही संभव न हो, क्योंकि वे तो हर मनुष्य की परिस्थति पर निर्भर करेंगे, फिर भी कुछ प्रमुख दायित्वों की ओर संकेत करना वांछनीय होगा।

(1) आदि ऋण से मुक्त होना सर्वोपरि दायित्व है।

संसार में जो भी वस्तु निर्मित होती है, उसमें अनगिनत लोगों का योगदान होता है। केवल एक टेरीकॉट की कमीज में, जो हम और आप सौ रुपए में खरीद लाते हैं, कितने लोगों का श्रम लगा है उसका थोड़ा सा ही जायजा लेने बैठेंगे, तो पाएँगे कि किसी ने कपास बोई, तो किसी ने उसकी धुनाई की, किसी ने धागा बनाया और वह धागा मिल को गया, इसी तरह खनिज तेल से उत्पन्न होनेवाली टेरीन को अनेक प्रक्रियाओं से किसी-न-किसी ने गुजारा होगा, तो टेरीन के धागे उपलब्ध होकर मिल में पहुँचे होंगे। मिल में उन्हें किसी ने रँगा होगा और किसी ने कपास तथा टेरीन धागों का मिश्रण करके टेरीकॉट का कपड़ा निर्मित किया होगा। फिर उस कपड़े को किसी ने लिया, काटा तथा कमीज की सिलाई की। इन सभी शृंखलाओं को जोड़नेवाले अनेकानेक लोग जो वाणिज्य में लगे, उन सब लोगों के योगदान के उपरांत वह कमीज उस रूप को पा सकी जिस रूप में हमें उपलब्ध हुई। यह शृंखला तो केवल उन लोगों की बनी जो संभवत: आज भी जीवित हैं, पर यदि हम इससे भी पीछे विचार करें कि किसने लोहा ईजाद किया, किसने बिजली ईजाद की, किसने कैसे-कैसे कल-पुर्जे, ईजाद किए, किसने खनिज तेल को ढूँढ़ा और किन वैज्ञानिकों द्वारा उसमें से टेरीन जैसी चीज बन सकी, तो उस एक कमीज की पृष्ठभूमि में कई हजार लोगों का योगदान किया गया सिद्ध होगा। सोचने की बात यह है कि सौ रुपए देकर जब हमने उस कमीज पर अधिकार जमाया, तो क्या हम उन सभी लोगों के ऋण से मुक्त हो सकते हैं जिनके श्रम से हमें वह कमीज उपलब्ध हो पाई, बहुत बलपूर्वक कहा जा सकता है कि इस शृंखला के दिवंगत लोगों के ऋण की तो बात ही क्या है, सौ रुपए में तो उनके ऋण से भी मुक्त नहीं हो सकेंगे जो आज भी जीवित हैं तथा जिन्होंने किसी-न-किसी स्तर पर अपना योगदान किया है। तिस पर जब यह सोचें कि एक कमीज ही नहीं है, जन्म से लेकर आज तक हम न जाने कितनी हजारों वस्तुओं पर अधिकार जमाते चले आए हैं और आज भी जमाते चले आ रहे हैं तो विदित होता है कि कठोर न्याय की इस कसौटी पर परखने से प्रमाणित होगा कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति बहुत गंभीर ऋण से ग्रस्त है। इसी ऋण को 'आदि-ऋण' की संज्ञा दी गई है। प्रत्येक व्यक्ति का यह परम दायित्व है कि वह इस आदि-ऋण से अपने को मुक्त करे।

आदि-ऋण से मुक्त होने की प्रक्रिया बहुत स्पष्ट है : प्रत्येक व्यक्ति संसार में उपलब्ध अनेकानेक वस्तुओं,

कलाओं तथा विचारों का जिस स्तर का उपभोग स्वयं कर रहा है, उसे उसी अनुपात में कोई वस्तु, कला, ज्ञान या विचार संसार को देना होगा जिससे आनेवाली पीढ़ियाँ उसका उपभोग कर सकें। अब यदि कोई ऐसा है जो न तो वस्तु, न कला और न कोई विचार संसार को दे पाए, तो इस ऋण से मुक्ति के लिए उसे जीवनपर्यंत साथी मनुष्यों की सेवा में निरंतर योगदान करना होगा।

इस संदर्भ में पाश्चात्य देशों में बढ़ते हुए उपभोक्तावाद (कंज्यूमरिज्म) के संबंध में एक चेतावनी देना वांछनीय होगा, क्योंकि उपभोक्तावाद की यह बीमारी धीरे-धीरे भारत में भी फैलती दिख रही है। विदित है कि इस संदर्भ में अपनी आवश्यकताओं से अधिक लोभ अनर्थकारी सिद्ध होगा। अस्तु, संसार में सदियों से प्रचलित, 'रहने में सादगी और विचारों में दिव्यता' का सिद्धांत जितना प्रासंगिक तब था, उससे कहीं अधिक आज है। वस्तुत: जिस क्षण व्यक्ति इस सत्य को स्वीकार कर लेगा कि वस्तु के उपभोग का अर्थ अपने ही ऋण-भार को बढ़ाना है, वह स्वयं सचेत होकर उतना ही भोगना उचित समझेगा, जितना वह एवज में समाज को दे सके। दायित्वपूर्ण जीवन-शैली का यह तकाजा भी है।

यथार्थ यह है कि इस 'आदि-ऋण' से मुक्त होना प्रत्येक व्यक्ति का सर्वोपरि दायित्व है। जिस समाज में इस ऋण से मुक्त होने के गंभीर दायित्व की अवहेलना होने लगती है, उस समाज का पतन अवश्यंभावी हो जाता है। संसार में अनेकानेक सभ्यताएँ जन्मीं और लुप्त हो गईं। उनके लोप होने के मूल में इस ऋण की अवहेलना दृष्टिगोचर होती है।

(2) अब जीवन की अवस्था के अनुरूप दायित्वों की गणना करनी होगी।

(क) बाल्य काल तथा किशोरावस्था का दायित्व है अपना सर्वतोन्मुखी विकास करना। अपनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक, कलात्मक, संवेदनाशील तथा विवेक की शक्तियों का भरपूर विकास करें तथा ज्ञानार्जन करें। इसी के साथ-साथ माता-पिता तथा गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना तथा अपने सामर्थ्य भर उनकी सेवा करना ही उसका दायित्व होता है।

(ख) युवावस्था में अपने जीवन के भौतिक उद्देश्य को निर्मित कर उसमें पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए सतत प्रयासशील रहें। अर्थात् स्वधर्म के प्रति दायित्व।

(ग) यदि कोई गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है, तो अपनी संतानों का पालन-पोषण करना तथा उसमें स्वस्थ संस्कारों को डालना, जिससे वे समाज को, राष्ट्र को देनेवाले बनें, न कि उससे केवल लेनेवाले। यह एक बड़ा दायित्व माता-पिता का बनता है।

(घ) संबंधियों और प्रियजनों एवं मित्रों के प्रति दायित्व।

(ङ) सत्य के प्रति दायित्व : सत्य का सम्मान करके।

(च) न्याय के प्रति दायित्व : न्याय की मर्यादा के आगे किसी की मर्यादा नहीं, ऐसा स्वीकार करके।

(छ) वृद्धजनों एवं गुरुजनों के प्रति दायित्व : उनकी सेवा करके।

(ज) राष्ट्र के प्रति दायित्व : देनेवाला बनकर न कि केवल लेनेवाला बने।

(झ) मानवता के प्रति दायित्व : मानवीय गुणों का सम्मान करके।

(ट) स्वतंत्रता के प्रति दायित्व : दूसरों के अधिकारों की सुरक्षा करके।

आदि, आदि।

उपर्युक्त समस्त दायित्वों को निभाना केवल अपनी सामर्थ्य के अनुरूप ही अपेक्षित है, अत: उन्हें निभाने के लिए जो भी विषय आवश्यक है, उनकी जो भी सूची बनती है, वे समस्त विषय तदनुसार 'मूल्य' के हो जाएँगे और हमारी मूल्यावली के चौथे भाग में स्थान पाएँगे।

(5) अपनी मूल्यावली के पाँचवें भाग में उन विषयों को रखना होगा, जिनका 'मूल्य' इतना नितांत मौलिक है कि जो आदिकाल से आज तक यथावत मूल्यवान बने रहे हैं। भले ही आधुनिक समाज उनकी अवहेलना कितने ही व्यापक स्तर पर करता रहे, पर उनकी मौलिकता में तथा उनके महत्त्व में किंचित् भी अंतर नहीं आ पाया है। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य आज चारों ओर अनेक दुखों से, चिंताओं से, संशयों से इसीलिए ग्रस्त है, क्योंकि कुछ दर्शनकारों ने उन मूल्यों की शाश्वतता अस्वीकार करते हुए भोले-भाले मनुष्यों को यह समझाने में सफलता प्राप्त कर ली कि संसार में किसी भी मूल्य की शाश्वतता संभव ही नहीं है। ''जब सभी कुछ नश्वर है, तो कोई भी मूल्य शाश्वत कैसे हो सकता है?'' ''जब सारी सृष्टि सतत परिवर्तनशील है, तो कोई भी मूल्य अपरिवर्तनीय कैसे हो सकते हैं?'' इस तरह की अज्ञानपूर्ण दलीलों द्वारा उन अत्यंत मौलिक मूल्यों पर मनुष्यों की आस्था उठती गई। मनुष्य की अत्यंत दयनीय स्थिति का मूल कारण उन समस्त मौलिक मूल्यों की अवहेलना में ही निहित है।

उपर्युक्त प्रथम चारों भाग उन विषयों से संबंधित हैं, जो मनुष्य के दायित्व के आधार पर निर्मित किए गए हैं। समाज का सदस्य होने के नाते मनुष्य उनसे विमुख हो ही नहीं सकता।

परंतु यह पाँचवाँ भाग तो उन विषयों की सूची है, जो मनुष्य की सार्वकालिक, सार्वभौमिक, सार्वजनिक 'प्यासों' से संबंधित है। अर्थात् यदि एक मनुष्य अकेला ही इस विश्व में जीवित रह जाए, तो भी ये विषय उसके लिए उतने ही मूल्यवान बने रहेंगे।

इन सारे विषयों का संबंध अनुभूति जगत् से है, भावनाओं की सत्ता से है। अनुभूतियाँ एवं भावनाएँ आत्मा से प्रेरित होती हैं। और आत्मा वह तत्त्व है, जो अपरिवर्तनीय है, जो परम शाश्वत है, जिस पर न तो देश का, न संस्कृति का, न काल का, न परिस्थिति का, किसी का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

महर्षि वाल्मीकि की राम-कथा ने मनुष्यों के हृदयों को जिस गहराई से हजारों वर्ष पहले छुआ था, उसी गहराई से वह आज भी छू जाती है। मिर्जा गालिब, सूर, तुलसी, मीरा, शेक्सपियर आदि की रचनाओं ने मनुष्यों के मर्मस्थलों पर जो प्रभाव सैकड़ों वर्ष पहले डाला था, वह आज भी डालती हैं। रंचमात्र भी तो अंतर नहीं आया। कारण, कि अनुभूति करना आत्मा का लक्षण है और आत्मा अपरिवर्तनीय तत्त्व है, इसीलिए अनुभूति जन्य समस्त तत्त्व आज भी उतने ही मूल्य के हैं, जितने हजारों-लाखों वर्ष पहले थे।

हम देखते हैं कि मनुष्य चाहे किसी काल में जन्मा हो, चाहे जिस देश में जन्मा हो, चाहे जिस संस्कृति में जिया हो, कुछ 'प्यासें' ऐसी हैं जो संपूर्ण मनुष्य जाति में सर्वत्र विद्यमान रही हैं। उन समस्त प्यासों की संपूर्ण तालिका बना पाना तो शायद संभव न हो, पर इस सत्य को समझने के लिए उनमें से कुछ का उल्लेख करना आवश्यक है। सामान्यतया मनुष्य की मौलिक प्यासें हैं—

(1) अमर होने की प्यास। मरने से डरता है।

(2) सुख की प्यास। दु:ख असह्य लगता है।

(3) प्यार की प्यास। घृणा से घबराता है।

(4) धन और ऐश्वर्य की प्यास। गरीबी असह्य लगती है।

(5) ख्याति की प्यास। गुमनाम रहना पसंद नहीं करता।

(6) स्वतंत्रता की प्यास। जेल से डरता है।

(7) शक्तिशाली बनने की प्यास। कमजोरी बुरी लगती है।

(8) दिव्य बनने की प्यास। कोई छोटा नहीं रहना चाहता।

(9) ज्ञान की प्यास। अज्ञानता असहनीय लगती है।

(10) शांति की प्यास। शोरगुल असहनीय लगता है।

(11) अभिव्यक्ति की प्यास। अस्तित्व का पता भी न चले, यह असहनीय लगता है।

(12) प्रकाश की प्यास। अँधेरे से डर लगता है।

(13) स्वच्छता की प्यास। गंदगी बुरी लगती है।

(14) सतत प्यासा रहने की अनुभूति। संतोष कभी नहीं हो पाता।

आदि, आदि।

वैसे कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने इन मौलिक प्यासों को 'मौलिक इन्स्टिंक्ट्स्' अर्थात् 'जन्मजात कारण रहित प्रवृत्ति' की संज्ञा से संबोधित कर डाला। फ्रॉइड ने तो मनुष्य के समस्त आचरणों के लिए 'सेक्स' अर्थात् 'काम' को ही मूल प्रेरक मानकर अपना सारा दर्शन तैयार कर लिया।

संभवत: वे सभी इन समस्त प्यासों के मूल में पहुँचने में असमर्थ रहे, क्योंकि मस्तिष्क और शरीर की जो क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ वे देख पाए, उन्हीं तक सीमित रह गए।

उपर्युक्त दरशाई 'प्यासें' सभी मनुष्यों में विद्यमान हैं, इससे शायद ही कोई मतभेद हो। हाँ, किन्हीं मनुष्यों में इनमें से कुछ प्यासें अत्यंत तीव्र रूप से प्रकट होती हैं, तो किन्हीं में वे कम रहती हैं। यह अंतर क्यों है, इसका भी एक विशेष कारण है। पर पहले इन 'प्यासों' के मूल को समझना आवश्यक होगा। सच तो यह है कि ये प्यासें भी वास्तव में कृत्रिम ही हैं। वास्तविक प्यासें क्या हैं और क्यों हैं, इसे पहचानने पर ही मनुष्य अपनी वास्तविक आवश्यकताओं का पता पा सकता है। जब वास्तविक आवश्यकताओं का ज्ञान अच्छी तरह हो जाएगा, तो अनावश्यक विषयों में अपना समय अथवा शक्ति का अपव्यय रोकने में सफल हो सकेगा। उसके लिए मूल्यवान क्या है और मूल्यरहित क्या, इसका निर्णय लेने में फिर जरा भी देर नहीं लगेगी।

इन मौलिक 'प्यासों' का रहस्य जिस तरह से उद्घाटित हुआ, इसे संभवत: उसी तरह से प्रस्तुत करना ज्यादा उपयुक्त होगा।

आधुनिक मूल्यों के आलोचकों का कहना है कि इस युग के प्रमुख मूल्य मुख्यत: तीन कहे जा सकते हैं—(1) धन, (2) ख्याति और (3) प्रभुसत्ता।

और इन तीनों को प्राप्त करने के लिए आज का मनुष्य उन सबको तिलांजलि देने को तैयार है, जो हमारे बुजुर्गवार आज से केवल पचास-सौ वर्ष पहले तक बहुत कीमती मानते थे। 'प्राण जाएँ पर वचन न जाई'—यह हजारों वर्षों से चली आ रही एक अमूल्य मान्यता थी। पर आज नेतागण केवल सत्ता के मोह में वायदों पर वायदे करते चले जाते हैं, जबकि वे अच्छी तरह जानते हैं कि उन वायदों को वे कभी पूरा नहीं कर पाएँगे। सत्यवादिता जमाने से चली आ रही मूल्यवान मान्यता रही। आज चंद रुपयों के लिए असंख्य लोग झूठ बोलना पाप नहीं मानते। लोग पत्रकारों को हर प्रकार से प्रसन्न करके अपना नाम सुर्खियों में देखना गलत नहीं मानते।

दूसरी ओर आधुनिक मूल्य के पक्षधरों का कहना है कि ''दुनिया में पूछ ही धनवान की, सत्ताधारी की, विख्यात लोगों की है। कितना ही चरित्रहीन क्यों न रहा हो, सत्ता में आने के बाद लोग उसके गुणगान करते थकते नहीं। और

ख्याति किसको प्रिय नहीं लगती। धन, सत्ता और ख्याति प्राप्त करने में ऐसा कौन सा दोष है? विशेष तौर पर तब, जब संसार में इन्हीं लोगों का बोलबाला हो। जो संसार के साथ नहीं चलेगा, वह कहीं का नहीं रहेगा। जमाना बदल रहा है। और परिवर्तन के साथ अपने मूल्यों का बदलना ही बुद्धिमानी है। धन, सत्ता अथवा ख्याति प्राप्त करने के लिए यदि आत्मा को गिरवी रखना पड़े, तो इसमें दोष क्या है? आत्मा भी तो हमारी ही चीज है, हम उसका जो प्रयोग करना चाहें कर सकते हैं। फिर आखिर 'प्राय जाएँ पर वचन न जाई' वाली मान्यता किस आधार पर सही घोषित करते हैं? और सत्ता के लिए जरा-सा झूठ, जो सभी बोल रहे हैं, उसे बुरा किस आधार पर कहते हैं। यदि कोई मूल्य वास्तव में मौलिक हैं, तो उनकी मौलिकता का आधार भी तो अवश्य होता। अत: जब तक मूल्यों का हृदयग्राही आधार कोई नहीं स्थापित होता, उनकी मौलिकता में आस्था कैसे बन सकती है? और जहाँ तक यह तर्क दिया जाता है कि पुरानी मान्यताएँ हजारों वर्षों की परखी हुई प्रमाणित मान्यताएँ थीं, तो, आधुनिक मान्यताएँ तो अभी मुश्किल से पचास साल पुरानी भी नहीं हुईं, इन्हें भी तो प्रयोग के लिए दो-चार शताब्दियाँ मिलनी ही चाहिए।''

अत: प्रश्न यह बना कि शाश्वत मूल्यों का, मान्यताओं का आधार क्या है? अथवा शाश्वत मूल्यों का क्या कोई विवाद-रहित मौलिक आधार हो सकता है?

सोचने पर पता चलता है कि सामान्य जन अपने मूल्यों एवं मान्यताओं का निर्धारण नीचे दिए चार आधारों पर ही करते हैं—

(1) जन्म से जो संस्कार लेकर पैदा हुए उनके आधार पर।

(2) माता, पिता, बंधु-बांधव, गुरुजनों और मित्रों के बताने के आधार पर।

(3) स्वयं अपने अनुभवों के, अथवा पठन-पाठन के आधार पर।

(4) संगति के प्रभाव से।

अब यदि किसी विधि से इन चारों आधारों से प्राप्त मूल्यों एवं मान्यताओं से मस्तिष्क को पूरी तरह शून्य कर दिया जाए और उसके उपरांत किसी भी प्रसंग में कोई स्वेच्छा से आचरण करे, तो उस आचरण का निर्णय किस आधार पर किया जाएगा? विदित है कि ऐसी स्थिति में वह निर्णय व्यक्ति के आंतरिक जगत से, उसके मौलिक स्वभाव से ही प्रेरित हो पाएगा। अर्थात्—अब उपर्युक्त चारों प्रभावों को निरस्त कर दिया जाए, तो उसके उपरांत होनेवाले प्रत्येक आचरण की प्रेरणा का स्रोत अत्यंत मौलिक होगा तथा उस स्रोत का सीधा संबंध मनुष्य की मौलिकता से होगा। जब आधार, मूल रूप से मौलिक होगा, तो उसके आधार पर स्थापित होनेवाली मान्यताएँ एवं मूल्य भी अनिवार्य रूप से मौलिक ही होंगे।

अब सबसे जटिल प्रश्न यह बना कि उपर्युक्त चारों प्राप्त स्रोतों से मान्यताओं एवं मूल्यों को शून्य करने के उपरांत स्वेच्छा से किसी प्रसंग पर आचरण का निर्णय लिया जाए, तो कैसे लिया जाए? और उस निर्णय का आधार कैसे पहचाना जाए?

तभी इस प्रश्न का चमत्कारिक रूप से सरल हल मिला।

जब हम दो महीने के शिशु थे, तो स्वेच्छा से अनेकानेक आचरण करते थे। उस काल में, भले ही कितने दिव्य संस्कार हम जन्मजात लाए, पर बुद्धि परिपक्व न होने के कारण उन संस्कारों के आधार पर कोई कर्म कर पाना संभव ही नहीं था। अन्य तीनों बाह्य स्रोतों से मूल्यों को प्राप्त करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अत: जिस भी आधार पर दो महीने का एक शिशु आचरण करता है, वह मनुष्य की मौलिक प्रकृति से प्रेरित होकर ही हो सकता

है। और यदि उन आधारों का हम विश्लेषण करने में सफल हो जाएँ, तो मौलिक मूल्यों का आधार हमें मिल जाएगा। अब देखना है कि दो माह के शिशु का आचरण क्या होता है?

(1) उसे जब भूख लगती है, तो संभवत: ऐसा लगता होगा कि भूख के मारे प्राण ही निकल जाएँगे, अत: बहुत जोर से रोकर वह अपने मरने के भय को प्रकट करता है। अर्थात्, वह मरना नहीं चाहता।

निष्कर्ष : उसमें जिंदा रहने की एक मौलिक 'प्यास' है।

(2) पेट में दर्द हुआ नहीं कि उसने रोना शुरू किया। ग्राइप वॉटर देने से उपचार होने पर वह पुन: शांत हो जाता है। अर्थात्, वह कष्ट नहीं पसंद करता।

निष्कर्ष : उसमें सुख की एक मौलिक 'प्यास' है।

(3) भूख के मारे शिशु रो रहा है, और दूध अभी तैयार किया जा रहा है। इतने में माँ ने उसे गोदी में उठाकर छाती से लगाकर दुलार करना शुरू किया। वह तत्काल चुप हो जाता है। विदित है कि उसकी कोई ऐसी प्यास तृप्त हुई जो भूख की तड़प को भी भुला बैठी। वह प्यास थी प्यार की।

निष्कर्ष : उसमें प्यार की एक मौलिक 'प्यास' है।

(4) जिस कमरे में शिशु शांत लेटा पड़ा है, एकाएक पटाखे आदि की आवाजों का शोर होने लगे, तो शिशु तत्काल जोरों से रो पड़ता है। अर्थात्—शोर पसंद नहीं करता।

निष्कर्ष : उसमें शांति की एक मौलिक 'प्यास' है।

(5) शिशु रात्रि में जगा हुआ है और एकाएक लाइट चली जाए तो वह रोने लगता है। अर्थात् अंधकार उसे अच्छा नहीं लगता।

निष्कर्ष : उसमें प्रकाश की एक मौलिक 'प्यास' है।

(6) शिशु लेटा हो और कोई अँगूठे और पहली उँगली से गोल लूप बनाकर उसकी दोनों बाँहों को हिलने न दे। बाँहें अपनी जगह पर फँस जाने पर पहले तो वह कसमसाएगा और जब वे फिर भी नहीं मुक्त होती हैं, तो जोरों से रोना शुरू करता है। अर्थात् उसे बंधन पसंद नहीं है।

निष्कर्ष : उसमें स्वतंत्रता की एक मौलिक 'प्यास' है।

इस प्रयोग से प्रमाणित हुआ कि जब पूर्वजन्म के संस्कारों से प्राप्त मान्यताएँ एवं मूल्य करीब-करीब निष्क्रिय थे, तथा बाह्य स्रोतों से प्राप्त होनेवाली मान्यताएँ एवं मूल्य पूरी तरह शून्य थे उस काल में भी दो माह का एक मानव-पुत्र स्वेच्छा से आचरण करता रहा। स्पष्ट है कि उस शिशु के सारे आचरणों की प्रेरणाएँ केवल उसकी अपनी मूलभूत चेतना से ही आईं। अर्थात् यह प्रमाणित होता है कि उन प्रेरणाओं का सीधा रिश्ता उस शिशु की चेतना में व्याप्त मूलभूत प्यासों से ही है। वस्तुत: शिशु ही क्या, प्रत्येक मनुष्य, जीवनपर्यंत, केवल अपनी मूलभूत 'प्यासों' से ही प्रेरित होकर समस्त कर्म करता है। वे हर मनुष्य में जन्मजात हैं और वह निरंतर उन्हीं प्यासों को तृप्त करने के लिए प्रत्येक आचरण करता है। सत्य तो यह है कि पाश्चात्य दार्शनिकों ने जिसे 'प्रवृत्ति' अर्थात् 'इन्स्टिंक्ट्स्' की संज्ञा दी है, तो 'इन्स्टिंक्ट्स्' जैसी कोई भी चीज किसी प्राणी में नहीं होती। सभी में कुछ मूलभूत प्यासें हैं जो हर काल में वही रहीं, आज भी वही हैं और आगे भी वही बनी रहेंगी। इन प्यासों पर देश, जाति अथवा संस्कृति का भी कोई प्रभाव नहीं है, क्योंकि सभी देशों में, सभी जातियों में, सभी सभ्यताओं में आदिकाल से आज तक दो-ढाई माह के शिशुओं का आचरण सर्वत्र करीब-करीब एक सा ही पाया जाता है।

स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि आखिर ये प्यासें कहाँ से उत्पन्न हो रही हैं? इनका उद्‌गम क्या है? तथा इन प्यासों का कारण क्या है?

उद्‌गम की खोज के लिए इनमें से एक ऐसी प्यास का चयन किया, जो शिशुओं में ही नहीं अपितु हर उम्र के प्रत्येक मनुष्य में समान रूप से विश्व भर में विद्यमान है।

वह प्यास है : सुख की प्यास।

मनुष्य में सुख ही सुख की यह अनबुझ प्यास क्यों है?

लोग अपना घर छोड़कर परदेश में दूसरे स्थानों में प्रवास करते हैं। बहुधा, प्रवास के स्थान पर घर से भी अधिक सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं, फिर भी, प्रत्येक मनुष्य को निरंतर अपने घर की ही साध लगी रहती है। 'जल्दी से काम निपटे और घर पहुँचें' बस यही साध सी लगी रहती है। छात्रावास में रहनेवाले विद्यार्थी घर वापिस जाने के लिए परीक्षा समाप्त होने के दिन का किस बेकरारी से इंतजार करते हैं, यह तो वे ही जानते हैं जो छात्रावास में रहे हैं।

जिस तरह प्रवास में हर मनुष्य को अपने घर की साध लगी रहती है, ठीक उसी तरह हमारे अंदर व्याप्त 'आत्म-तत्त्व' जो हमारे शरीर में 'प्रवास' पर है, को भी अपने घर की साध लगी रहती है।

'आत्म-तत्त्व' का धाम है 'परम तत्त्व' और 'परम तत्त्व' के धाम में परम आनंद की अविरल धारा सतत बहती रहती है; इसीलिए प्रत्येक प्राणी में स्थित आत्म-तत्त्व को 'परमानंद' की कभी न बुझनेवाली प्यास सतत लगी रहती है। उसकी यह प्यास शरीर बुझाए, यही आशा 'आत्म-तत्त्व' इस शरीर से सदा करता रहता है। कोई कह सकता है

कि 'इस तर्क से तो हर मनुष्य में केवल परमानंद की ही प्यास होनी चाहिए, पर ऐसा तो देखने को नहीं मिलता, हाँ, सुख की प्यास अवश्य हर मनुष्य में पाई जाती है। आखिर परमानंद और सुख में तो बहुत अंतर है।'

इसमें शक नहीं कि मनुष्य के अंतर्जगत् में यदि अनुभूति करनेवाला तत्त्व केवल आत्म-तत्त्व ही होता तो निश्चय ही प्रत्येक मनुष्य में केवल परमानंद की ही प्यास पाई जाती। पर दुर्भाग्य से वहाँ चेतनामय अहंकार भी विद्यमान है जिसमें अनुभूति करने की सामर्थ्य है। सामान्य मनुष्य की लाचारी यह है कि अंतर्जगत् से आनेवाली प्रेरणाएँ केवल चेतनामय अहंकार के माध्यम से ही आ सकती हैं, और अहंकार का यह स्वभाव है कि वह आत्मा से उदय होनेवाली प्रत्येक प्यास का भौतिकीकरण करके बुद्धि को केवल उसके भौतिकीकृत रूप से ही प्रेरित करता है। इस तरह सुख की प्यास आत्मा से उदय होनेवाली 'परमानंद' की प्यास का भौतिकीकृत रूप ही है। इस प्रक्रिया में आत्मा की परमानंद की प्यास ऊपर प्रकट ही नहीं हो पाती।

'परमानंद कैसा होता है, शरीरधारी को इसका अनुभव नहीं होता, अत: जहाँ भी थोड़ा सा सुख मिला नहीं कि वह उसे ही 'परमानंद' समझकर उसमें आसक्त होने लगता है। इंद्रियों द्वारा अपने विषयों को भोगने में सुख की अनुभूति होती है, अत: उसी में रमे रहने के लिए उद्यत हो जाता है। कभी जब इंद्रियजन्य सुखों से ऊबने लगता है, तो और बड़े सुख अर्थात्—आनंद की खोज में निकल पड़ता है। कभी जब खुद भूखा रहकर अपना भोजन किसी दो दिन के भूखे को खिलाया, तो पता चला कि जिस भोजन से वह स्वयं केवल कुछ मिनटों का ही सुख पाया करता था, एक भूखे को खिलाने पर, उसी खुराक द्वारा एक विचित्र आनंद, कई घंटों ही नहीं, कुछ दिनों तक बराबर मिलता रहा। इसी तरह विवेक द्वारा विश्लेषण होने पर वह अन्य इससे बड़े आनंदों की खोज में जुटा पाया जाता है। अपने से हीनों पर करुणा करके, दूसरों की सेवा करके, दूसरों को सुख पहुँचाकर अथवा समाज में व्याप्त कुरीतियों का उन्मूलन करके वह जिस आनंद की अनुभूति करता है, वे इंद्रियजन्य सुखों से दिव्य प्रतीत होने लगते हैं। इस तरह वह अनेक सुखों और आनंदों की प्राप्ति के लिए निरंतर प्रयत्नशील बना रहता है और जब वे मिल जाते हैं, तो उन्हीं में रमा रहना चाहता है।'

प्रश्न उठता है कि जब मौलिक प्यास परमानंद की है, तो व्यक्ति फिर केवल सुख और आनंद को ही पाकर, उसी में कैसे व क्यों रमा रहना चाहता है? वास्तविकता यह है कि 'आत्म-तत्त्व' की प्रत्येक प्यास को बुझाने का शरीर ही एकमात्र साधन है। पर जहाँ शरीर होगा, वहाँ अहंकार का होना अनिवार्य है। शरीर में 'आत्म-तत्त्व' की उपस्थिति के कारण उस शरीर का अहंकार भी चेतनायुक्त हो जाता है। यह अहंकार फिर 'आत्म-तत्त्व' की नैसर्गिक प्यास का भौतिकीकरण कर डालता है, और वह परमानंद की प्यास सुख और आनंद की प्यास में परिणत हो जाती है। अहंकार इसी सुख और आनंद को ही परमानंद की संज्ञा दिलाकर, व्यक्ति को उसी में आजीवन आसक्त रखना चाहता है। जैसे-जैसे विवेक बढ़ता है, अहंकार घटता है, और जैसे-जैसे अहंकार घटता है, उसी के अनुरूप व्यक्ति को सुखों के छिछलेपन का, फिर आगे चलकर 'आनंद' के भी छिछलेपन का बोध होता जाता है। व्यक्ति किस स्तर का सुख या आनंद पाकर उसी में रमे रहना चाहता है, यह व्यक्ति के 'अहंकार' के स्तर पर निर्भर करता है। जिसमें घोर तामसिक अहंकार व्याप्त है, वह दूसरों को तड़पता देखकर ही सुख की अनुभूति करता है। जिसमें अहंकार राजसिक स्तर का है, वह इंद्रियजन्य सुखों में रमा रहना चाहता है। जिसमें अहंकार सात्विक स्तर का है, वह दूसरों को सुख पहुँचाकर जिस आनंद को प्राप्त करता है, उसी में रमा रहना चाहता है। इतना ही नहीं, घोर तामसिक से लेकर परम सात्विक वृत्तिवाले अहंकार के असंख्य स्तर मनुष्यों में संभव हैं, इसलिए अनेकानेक प्रकार के तथा अनेकानेक स्तरों के सुखों और आनंदों को प्राप्त करने की उधेड़बुन में सभी मनुष्य लगे पाए जाते हैं। यही कारण है कि सुख की प्यास तो सार्वजनिक, सार्वकालिक और सार्वभौमिक है पर 'सुख' की परिभाषाएँ हर मनुष्य की अपनी

ही अनोखी हैं। वास्तविकता यह है कि जब तक परमानंद की अनुभूति उसे नहीं हो पाती, वह आनंद तथा सुखों के छिछलेपन से पूरी तरह अनभिज्ञ रहता है और सुख और आनंद की अनेकानेक प्यासों को बुझाने के बाद भी सदा प्यासा का प्यासा बना रहता है।

तृप्ति हो भी तो क्यों? प्यास तो 'परमानंद' की है। उससे कम श्रेणी के आनंदों से उसकी प्यास बुझे भी तो कैसे? इस तरह वह अपनी मौलिक परमानंद की प्यास के वशीभूत होकर सतत प्यासा ही बना रहता है।

एक दृष्टांत से संभवत: इस स्थिति को पूरी तरह समझ पाना आसान हो जाएगा—

एक बार छात्रावास में, शाम को मैं बिना खाना खाए सो गया।

रात में स्वप्न देखा कि भूख से व्याकुल मैं खाना खाने मैस को जा रहा हूँ। राह में दो अन्य साथी भी आ मिले। मुझे भूख इतनी जोर की लगी थी कि मैं चाहता था कि जो रोटी बने, वह मुझे ही मिले, तभी भूख मिट पाएगी। दो साथियों के आने से तो हर तीसरी रोटी ही मुझे मिल पाएगी। ऐसा होना असहनीय सा लगा, अत: मैंने प्रस्ताव रखा कि ''आज तो इतनी भूख लगी है कि मैं मैस का सारा खाना अकेले ही खा जाऊँगा।'' दोनों साथियों ने इसे परिहास में लेना चाहा, तो सौ-सौ रुपए की शर्त लग गई। रसोई बत्तीस छात्रों के लिए बनी थी। साथी सोच रहे थे कि वे शर्तिया मुझसे सौ रुपए जीत लेंगे। अत: बहुत खुशी से वे तो दर्शक बन गए और मेरा काम बन गया। एक के बाद एक रोटी, दाल, सब्जी, चावल सब आता चला गया और मैं खाता ही गया। बीस-पच्चीस मिनट में महाराज ने खबर दी कि रसोई में अब कुछ नहीं बचा। मुझे भी आश्चर्य कम नहीं हो रहा था, क्योंकि सारी रसोई खा लेने के उपरांत भी मेरी भूख यथावत् ही बनी हुई थी। लेकिन सौ रुपए तो जीत ही लिए थे। शर्त जीतने की खुशी में आँख खुल गई। आँख खुली, तो पता चला कि स्वप्न के ही नहीं, मेरे तो वास्तविक पेट में भूख बला की लगी हुई थी।

विदित है कि जब तक शरीर के पेट में भूख करारी लगी हुई है, तो स्वप्न की एक नहीं, चार-चार रसोइयाँ साफ कर देता, तो भी भूख तो यथावत् ही बनी रहती है। ठीक इसी तरह 'आत्म-तत्त्व' में परमानंद की प्यास जब तक बनी है, तब तक शरीर का अहंकार एक नहीं हजार सुखों और आनंदों को भोगता रहे, तो भी उसकी मौलिक प्यास की तुष्टि संभव ही नहीं।

यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य में व्याप्त तो रहती है 'परमानंद' की प्यास, और उसी से प्रेरित होकर अहंकार और शरीर के जाल में फँसकर वह सैकड़ों-हजारों सुख और आनंद प्राप्त करने की योजनाएँ बनाता चला जाता है, फिर भी उसकी तृप्ति तो उस क्षण में भी पूरी तरह नहीं हो पाती जिस क्षण वह उसे भोग रहा होता है। भोगने के तुरंत बाद तो वह फिर यथावत् उसी तरह प्यासा ही बना रहता है, जैसे स्वप्न की भूख में फँसा मैं बेहिसाब खाना खाने के उपरांत भी भूखा ही अनुभव करता रहा।

'सुख', 'आनंद' और 'परमानंद' के अंतर को समझने पर संभवत: स्थिति और स्पष्ट हो सकेगी।

'सुख' की अनुभूति तब होती है, जब इंद्रियाँ अपने विषय का भोग करती हैं अर्थात्—इंद्रियजन्य सुख को सुख कहा जाएगा।

'आनंद' इंद्रियजन्य सुख नहीं होता, परंतु फिर भी मन में आनंद की अनुभूति हो। जैसे किसी का लड़का आई.ए.एस. में आ जाए या बी.ए., एम.ए. में प्रथम स्थान प्राप्त कर ले, तो पिता को आनंद की अनुभूति होगी। किसी भूखे को अपना भोजन देने पर जो अनुभूति होगी, वह भी आनंद होगा। अर्थात् आनंद वह सुख है जो इंद्रियजन्य तो नहीं है, परंतु जिसका 'कारण' इंगित किया जा सके। पर जब हृदय में उल्लास हो, आनंद हो, मन में एक मौज सी हो और व्यक्ति यह बताने में असमर्थ रहे कि वह आनंदित क्यों है, तो उस 'अकारण' आनंदपूर्ण

अवस्था को 'परमानंद' कहा जाएगा। वैसे परमानंद की अन्य कोटियाँ भी संभव हैं।

हमारे अंतर्जगत् में सुख और आनंद दोनों को ही जो भोगता है, वह हमारा चेतनामय अहंकार है। 'परमानंद' केवल आत्मा का ही रस है। इसीलिए जब तक परमानंद के कुछ क्षणों की अनुभूति नहीं हो लेती, आनंद और सुख की नीरसता को पहचान पाना संभव नहीं।

सुख की प्यास के इस रहस्य को जानने के उपरांत मनुष्य की समस्त प्यासों का रहस्य स्वत: खुल जाता है।

सुख की प्यास 'परमानंद' की भौतिकीकृत प्यास का रूप है और आनंद उसका विवेक द्वारा संशोधित रूप है। इसी तरह आत्मा की मौलिक प्यास है 'मोक्ष' की। भौतिकीकरण होने पर वही प्यास शारीरिक स्वतंत्रता बनी रहने से तृप्त होती है। यही कारण है कि हर मनुष्य को जेल के नाम से डर लगता है। उसी का विवेक द्वारा एक संशोधित रूप है मानसिक स्वतंत्रता की प्यास।

वास्तविक प्यास है अमरत्व की। उसी प्यास का जब अहंकार द्वारा भौतिकीकरण हो जाता है, तो वह केवल शरीर को सतत जीवित बनाए रखने की प्यास में परिणत हो जाती है। फिर, जब विवेक द्वारा उसका संशोधन होता है, तो वही प्यास मनुष्य के उस आचरण में परिलक्षित होती है, जिसके अधीन व्यक्ति चाहता है कि वह कुछ ऐसा कर जाए, कुछ ऐसा छोड़ जाए, जिससे संसार में उसका नाम ही अमर हो जाए। अर्थात्—ख्याति की प्यास, वस्तुत: अमरत्व की मौलिक प्यास का भौतिकीकृत रूप है।

संभवत: अब स्पष्ट हो गया होगा कि जिंदा रहने की इच्छा अथवा मौत से भय कोई मौलिक 'इन्स्टिंक्ट ऑफ सेल्फ प्रिजर्वेशन' नहीं है, कोई कारण विहीन 'जन्मजात प्रवृत्ति' नहीं है। इस प्रवृत्ति का एक बहुत ठोस कारण है और वह कारण है आत्मा के अंदर विद्यमान 'अमरत्व' की प्यास। उस प्यास का कारण ब्रह्मांड का वह विधान है, जो प्रत्येक तत्त्व को अपने उद्गम में विलीन होने के लिए प्रेरित करता है, क्योंकि अपने उद्गम में विलयन होने पर ही चिर शांति उपलब्ध होती है। चिर शांति ही मूल रूप से आत्म-तत्त्व की स्थायी और अंतिम पहुँच है, क्योंकि चिर शांति में ही निहित है परम आनंद, चिन्मयता तथा असीम, अनंत शाश्वत स्थायित्व।

निम्न दृष्टांतों की तालिका संभवत: विभिन्न प्यासों के रूपों को और भी स्पष्ट कर सके—

नोट 1 : स्तंभ 3 एवं 4 में जिन भौतिकीकृत रूपों का उल्लेख किया गया है, वे केवल दृष्टांत मात्र हैं। वास्तव में अहंकार तीन प्रकार का हो सकता है। पहला तामसिक, दूसरा राजसिक तथा तीसरा सात्विक। इतना ही नहीं, अहंकार के घनत्व के आधार पर घोर तामसिक से लेकर परम सात्विक तक इसके असंख्य रूप संभव हैं। यही कारण है कि प्यास तो सुख की प्रत्येक प्राणी में पाई जाती है, पर अपने-अपने अहंकार के स्तर तथा गुण के आधार पर व्यक्तियों की अपने सुखों की परिकल्पना सर्वथा भिन्न हो सकती है। घोर तामसिक सुख की प्यासवाला दूसरों को तड़पता, बिलबिलाता देखकर अपूर्व सुख का अनुभव कर सकता है। घोर राजसिक सुख की प्यासवाला मधुर संगीत पर नर्तकियों के नृत्य के साथ शराब के दौर में परम सुख अनुभव कर सकता है तथा परम सात्विक सुख की प्यासवाला दूसरों के कल्याण हेतु अपने प्राणों की बाजी लगाने में परम सुख का अनुभव कर सकता है। इस तरह प्यास तो सुख की ही हर एक को होती है, पर सुख की परिभाषाएँ प्रत्येक की अपनी अनोखी ही बन बैठती हैं।

नोट 2 : आत्मा से उदय होनेवाली प्यासें केवल 10 ही हैं ऐसा नहीं है। इन दस का उल्लेख केवल दृष्टांतों को रखने के लिए किया गया है। वस्तुत: वे और भी हो सकती हैं। पर समस्त प्यासों में एक बात अवश्य मिलेगी; जिस अवस्था की प्यास है, वह अवस्था उस परम तत्त्व अर्थात् परम आत्मा के किसी-न-किसी गुण का परिचायक अवश्य होगी।

नोट 3 : उल्लेखनीय है कि इससे पहले, सपने में पूरी रसोई स्वयं अकेले ही खाने के दृष्टांत में जो भूख मेरे शरीर के पेट में लगी थी; ठीक वही भूख मुझे स्वप्न में भी लगी थी, परंतु आत्मा की मौलिक प्यासों का जब अहंकार द्वारा भौतिकीकरण होता है, तो प्रत्येक मौलिक प्यास इस तरह से रूपांतरित हो जाती है कि जो कृत्रिम प्यास प्रकट होती है, उसके माध्यम से आत्मा की मौलिक प्यास से कैसा भी रिश्ता ढूँढ़ पाना सामान्यतया आसान नहीं होता। वस्तुत: जिस तरह पूर्ण चंद्रमा के पीले तथा शीतल प्रकाश को देखकर कोई सामान्यतया इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता कि यह प्रकाश चंद्रमा से नहीं, अपितु सूर्य के तेजोमय सफेद तथा अत्यंत तापयुक्त प्रकाश का रूपांतर है, इसी तरह अहंकार की छलनी से छनकर आने पर आत्मा की मौलिक प्यासों का ऐसा रूपांतर हो जाता है कि सामान्य जन उन कृत्रिम प्यासों का कैसा भी नाता आत्मा से उदय होनेवाली मौलिक प्यासों से जोड़ने में प्राय: असमर्थ ही बने रहते हैं।

उपर्युक्त तालिका को प्रस्तुत करने का एक ही सीमित उद्देश्य था कि हम आत्मा से उदय होनेवाली प्यासों तथा प्रत्येक मौलिक प्यास से संबंधित उसके भौतिकीकृत कृत्रिम स्वरूपों के दृष्टांतों को समझकर इतना पहचानने में समर्थ हो सकें कि अनेकानेक नितांत कृत्रिम प्यासों से जो सामान्यजन सर्वत्र पूरी तरह ग्रस्त पाए जाते हैं, वे कृत्रिम क्यों व कैसे हैं? तथा उन सारी प्यासों के मूल में वास्तव में आत्मा की कौन सी मौलिक प्यास विद्यमान है उसे अच्छी तरह समझ लें। इसका अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि मौलिक प्यासों के भौतिकीकृत अथवा संशोधित रूपों को तृप्त करने के जाल में फँसना वैसा ही है, जैसा स्वप्नवाला 'मैं' सपने की रसोई के जाल में फँसा रोटियों पर रोटियाँ खाता चला जा रहा था और भूख अंत तक यथावत् ही बनी रही थी।

मनुष्य की वास्तविक आवश्यकता तो उस 'मौलिक' प्यास को बुझाना है जो आत्मा से उदय होती है, न कि उनके कृत्रिम रूपों को। अत: जो वस्तु, व्यक्ति अथवा गतिविधि तथा विचार, वाणी तथा कर्म आत्मा से उदय होनेवाली किसी भी मौलिक प्यास को तृप्त करे, वास्तव में वही मूल्यवान है। वही वास्तव में अपनी मूल्यावली के पाँचवें भाग में लिखने योग्य विषय बनेगा। उस प्यास के अन्य कृत्रिम रूपों को तृप्त करनेवाले समस्त तत्त्व वस्तुत: मूल्यवान नहीं हैं, क्योंकि यदि उन तत्त्वों को एकत्रित करके उनका प्रयोग भी कर लिया जाए, तो भी तृप्ति तो होनी ही नहीं है। अत: सारी दौड़-धूप निरर्थक ही रहेगी।

इसके अतिरिक्त क्योंकि इन मौलिक प्यासों का स्रोत 'आत्म-तत्त्व' है और आत्म-तत्त्व अपरिवर्तनीय है, शाश्वत है, अत: अपनी मूल्यावली के इस पाँचवें भाग के समस्त विषयों का मूल्य भी शाश्वत होना अनिवार्य हो जाता है। यही कारण है कि मूल्यावली के इस पाँचवें भाग के सारे विषय आदि काल से आज तक मौलिक और शाश्वत मूल्य कहलाए जाते रहे हैं।

अब संभवत: सम्राट सोलोमन जैसे महाज्ञानी के बाइबिल में लिखे वचनों की अपूर्व सत्यता भी प्रमाणित हो सकेगी जो उसने आज से करीब साढ़े तीन हजार वर्ष पहले कहे थे, उसने कहा था—

'मैंने अपने ज्ञान से यह जानने का प्रयास किया कि इस संसार में सारी गतिविधियों का सार क्या है? मैंने पाया कि सबकुछ अहंकार है और सारे प्रयास मानो कोई हवा को पकड़ने के लिए करे, ऐसे प्रतीत होते हैं। मैंने अपूर्व ज्ञान अर्जित किया, वह भी मानो हवा को ही पकड़ने का प्रयास रहा। ऐसे ज्ञान का आधिक्य केवल उलझनें पैदा करता रहा। ऐसे ज्ञान की वृद्धि से दु:ख की ही वृद्धि होती है। जब प्राप्त होनेवाले सुखों को परखा, तो पाया कि यह भी नितांत अहंकार ही था। भोगविलास पूर्णतया निर्मूल निकले। मैंने बड़े-बड़े काम किए। अनेक घर बनाए, अनेकानेक बाग-बगीचे बनवाए, सिंचाई के लिए तालाब बनवाए। मेरे पास विशाल गोधन था। इतना कि इससे पहले संसार में किसी के पास न था। मैंने देश-विदेश से अपार सोना-चाँदी एकत्रित किया। मैंने गाने में निपुण अनेक नर-नारी रखे। मैंने अनेक उप-पत्नियाँ रखीं। मुझे जो भाया, वह मैंने पूरी तरह भोगा। किसी प्रकार का सुख मुझसे वंचित नहीं रहा। और जब इन समस्त उपलब्धियों का अंकन करने निकला हूँ, तो पाता हूँ कि सारी दौड़-धूप मानो हवा को पकड़ने के मानिंद थी। सब अहंकार है, अहंकार है, अहंकार का अहंकार है। मुझे अपनी उपलब्धियों से नफरत होने लगी है; क्योंकि ये सब मुझे यहीं छोड़नी होंगी और कौन जानता है कि इनका उत्तराधिकारी चतुर होगा कि नादान।' (बाइबिल में, इक्लिजियास्टीज में)।

जिस 'धन', 'सत्ता' तथा 'ख्याति' को आधुनिक युगवासी सर्वोपरि मूल्य मानकर उनके पीछे अपना पूरा जीवन लगाने के लिए आतुर हैं, उन तीनों को ही अतुलित मात्रा में जिसने कमाया था, उसी सम्राट सोलोमन के ये उपरोक्त वचन हैं।

धन, प्रभुसत्ता अथवा ख्याति नितांत महत्त्वहीन हों ऐसा भी नहीं है। तीनों ही तत्त्व 'साधन' के रूप में वास्तव में अपना एक बड़ा महत्त्व रखते हैं। पर जब उन्हें कोई 'साध्य' बना बैठेगा, तो घोर अनर्थ हो जाएगा, इसमें संशय नहीं।

पूर्व में दी गई तालिका का अध्ययन जिन आस्तिक लोगों ने किया होगा, उन्हें तो विदित हो गया होगा कि जितनी भी मौलिक प्यास हैं, वे अन्य कुछ नहीं केवल उस सर्वशक्तिमान ईश्वर के ही गुण अथवा लक्षण हैं। उस ईश्वर को चाहे कोई 'भगवान' कोई 'अल्लाह' या 'गॉड' अथवा अन्य किसी भी नाम से पुकारे, उसके गुण एवं लक्षण अभिन्न रूप से वही हैं। इससे यह भी प्रमाणित हो जाता है कि मनुष्य की मौलिक प्यासें अन्य कुछ नहीं हैं, केवल अपने उद्गम उस परम पिता के विभिन्न गुणों को ही प्राप्त करने की हैं। अर्थात् मनुष्य की वास्तविक मौलिक प्यासें अपने उद्गम ईश्वर को ही प्राप्त करने की हैं।

यह कोई विस्मय की बात नहीं है कि मनुष्य की 'आत्मा' अपने उद्गम को प्राप्त करने के लिए प्यासी हो और उसे प्राप्त करने के उपरांत ही परम शांति पाए। यह क्रम वास्तव में प्रकृति के विधान का ही क्रम है। जैसे आत्मा अपने उद्गम को प्राप्त करके ही तृप्त और शांत हो पाती है, वैसे ही शरीर के भी पाँचों तत्त्व—अग्नि, जल, वायु, आकाश तथा पृथ्वी जब तक अपने उद्गम को प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक प्रकृति इन पाँच तत्त्वों से बने मृत शरीर को भी शांति नहीं प्राप्त करने देती। इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि मृतक को जलाया जाता है या दफनाया जाता है; प्रकृति तो तब तक उस शरीर पर प्रहार करती रहेगी, जब तक उस शरीर के पाँचों तत्त्व अपने-अपने उद्गम में विलीन नहीं हो जाते। जैसे सागर से निकले जल-कण हर पल इसी प्रयास में रहते हैं कि कैसे पुन: अपने उद्गम 'सागर' में विलीन हों, उसी तरह 'आत्म-तत्त्व' भी अपने उद्गम 'परम तत्त्व' में विलीन होने को आतुर रहता है। यही प्रत्येक मनुष्य की मौलिक प्यास का कारण भी है और मनुष्य जीवन का प्रमुख उद्देश्य भी।

अत: जिस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने निकले थे उसे सूक्ष्म में यहाँ पर पुन: अंकित करना संभवत: वांछनीय होगा। जीवन के सही मूल्य निर्धारित करने के लिए जो मूल्यावली बनती है, वह पाँच आधारों पर आधारित होने के कारण

क्रमश: अग्रलिखित पाँच भागों में बनेगी—

पहला भाग : इस भाग में वे सारे विषय अंकित किए जाएँगे जो मनुष्य को वास्तव में 'मानव' बनने में सहयोग दें अर्थात् जो मनुष्य को अपने दसों अधिकारों का प्रयोग करने में सहयोगी हों। इन समस्त मूल्यों को शाश्वत होना पड़ेगा, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का पहला दायित्व है मानव बनना।

दूसरा भाग : दूसरे भाग में वे विषय आएँगे, जो मनुष्य के जीवन के उद्देश्य अर्थात् आत्मा को असीमता प्राप्त कराने, दूसरों का दु:ख बाँटने तथा दूसरों को सुख पहुँचाने में सहयोगी हों। ये सारे विषय भी शाश्वत मूल्य होंगे; क्योंकि मनुष्य जाति का यह उद्देश्य आदिकाल से आज तक अपरिवर्तनीय ही बना रहा है।

तीसरा भाग : वे विषय जो जीवित रहने तथा शरीर को सुरक्षित तथा स्वस्थ बनाए रखने में सहयोगी हों। इन विषयों के रूपों में अंतर भले ही आ जाए, पर वे विषय आदिकाल से अनंतकाल तक मूल्यवान बने रहेंगे, इसमें संशय नहीं। हवा साँस लेने के लिए मूल्यवान है, वह ठंडी भी हो सकती है, गर्म भी। पानी, अन्न आदि की किस्में अनेक हो सकती हैं, पर मौलिक रूप से पानी और भोजन का महत्त्व आदिकाल से आज तक उतना ही बना रहा है जितना पहले था। इसी तरह चाहे खोह हो, झोंपड़ी हो अथवा मकान, अपने को सुरक्षित बनाए रखने के लिए सिर पर छत्र का होना सर्वथा मूल्यवान रहेगा। इस दृष्टि से इस भाग के वे विषय जो जीवित रहने के लिए अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं, शाश्वत रहेंगे, जबकि इनके विलासिता के रूपांतर शाश्वत मौलिक मूल्य नहीं बन पाएँगे।

चौथा भाग : वे विषय जो व्यक्ति के जीवन काल में होनेवाले विभिन्न दायित्वों से संबंधित हैं। अर्थात्—ब्रह्मचर्य आश्रम के काल में मूल्यों की एक सूची होगी, तो जीविकोपार्जन का जो भी साधन चुना है, उसके कार्यक्षेत्र के दायित्वों को निभाने के लिए कुछ अन्य विषय मूल्यवान होंगे। कार्य-क्षेत्र बदलने पर विषय-सूची भी बदलेगी। इसी तरह वानप्रस्थ और संन्यास के मार्ग को पकड़ने पर जो विषय गृहस्थ के लिए मूल्यवान थे, वे मूल्यरहित हो जाएँगे और नए आश्रमों में प्रवेश होने पर उन आश्रमों के अनुरूप 'मूल्य' बनेंगे। जीवन काल के अनेक दायित्वों से जुड़े अनेक विषय अपने काल में क्रमश: मूल्यवान और मूल्यरहित बनते जाते हैं। अत: 'काल' अधीन दायित्वों के आधार पर बनी मूल्यावली काल के तथा दायित्वों के अनुसार बदलती जाए यह अनिवार्य है। अत: मूल्यावली के इस भाग के विषय 'शाश्वत' मूल्य नहीं कहे जा सकेंगे।

पाँचवाँ भाग : वे विषय जिनका मूल्य परम शाश्वत है। वे विषय जो आत्म-तत्त्व से उदय होनेवाली समस्त प्यासों को तृप्त करने में सहयोगी हों।

इस तरह अपनी मूल्यावली के पहले, दूसरे, तीसरे तथा पाँचवें भाग में अंकित विषय शाश्वत मूल्यों की श्रेणी में आएँगे तथा चौथे भाग में अंकित होनेवाले मूल्य उद्देश्य तथा काल के अधीन होने के कारण, उनमें परिवर्तन आ सकने के कारण उन्हें शाश्वत मानना भूल होगी।

जब भी किसी मूल्य को बदलना अनिवार्य होगा, तो वह भी एक विधान के ही अधीन हो सकता है अन्यथा नहीं। व्यक्तिगत सुविधा अथवा व्यक्तिगत लाभ के लिए मान्यताओं एवं मूल्यों को तोड़ना-मरोड़ना तो कभी भी वांछनीय नहीं हो सकता। मूल्यों को बदलना तभी वांछनीय हो सकता है, जब 'उद्देश्य' अथवा 'मौलिक प्यासों' में परिवर्तन हो। अन्य किसी भी परिस्थिति में मूल्यों को बदला नहीं जा सकता। यही मूल्यों से संबंधित मौलिक सिद्धांत है।

यहाँ शायद यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि मूल्यावली में जो विषय-सूची बनेगी, उसमें कौन-कौन से तत्त्वों का अंकन हो सकता है। संसार में असंख्य विषय हैं, लेकिन प्रमुखत: यदि हम निम्नांकित विषयों को निगाह में रखें, तो संभवत: सार्थक जीवन जीने के लिए उपयुक्त मूल्यावली बन सकेगी :

(1) **वस्तुएँ**—इसके अंतर्गत सृष्टि के समस्त अचर पदार्थ आते हैं।

(2) **प्राणी**—इसके अंतर्गत सृष्टि के समस्त मनुष्य तथा चर-जगत के प्राणी आते हैं।

(3) **गतिविधियाँ**—इसके अंतर्गत मनुष्य से संबंधित समस्त आचरण आते हैं, जैसे, भाई-भाई का प्रेम, वफादारी, गुरुजनों को सम्मान देना, मेहनत करना, नियमें का पालन, अनुशासन आदि-आदि।

(4) **स्थितियाँ**—इसके अंतर्गत मनुष्य की विभिन्न स्थितियों का दर्शन निहित है, जैसे—स्वतंत्रता की स्थिति, शांति, तृप्ति, उत्कृष्टता, तुष्टि, सुख, आनंद, परमानंद, ख्याति, प्रतिष्ठा, ऋण-मुक्ति, गौरव, कीर्ति आदि-आदि की स्थितियाँ।

(5) **भावनाएँ**—इसके अंतर्गत सभी भावनाओं का दर्शन निहित है, जैसे—प्यार, संवेदना, उदारता, दया, सेवा, सम्मान देना, संतोष, पूर्णता प्राप्त करने की लालसा, समस्त प्रकार की आध्यात्मिक तथा मानसिक प्यासें आदि-आदि।

(6) **विचार**—इसके अधीन समस्त सिद्धांत, आदर्श, दार्शनिक विचार, तर्क-वितर्क, दायित्व आदि-आदि निहित हैं।

(7) **वाणी तथा वचन**—इसके अंतर्गत सभी वचन आएँगे वे चाहे स्वयं के कहे हुए हों अथवा दूसरों के।

(8) **कर्म**—इसके अधीन यज्ञ, दान, तप आदि व्यक्ति का संपूर्ण आचरण निहित है, कर्मों का स्वरूप मानसिक हो, प्रकट हो अथवा अप्रकट, सभी कुछ इसके अंतर्गत आएगा।

(9) **मान्यताएँ एवं अस्थाएँ**—अनेक मनीषियों द्वारा प्रतिपादित विचार, सिद्धांत, मूल्य तथा स्वयं की अनुभूति के आधार पर पहुँचे हुए निर्णय आदि वे सब बातें जिन्हें हम मूल्यवान अथवा मूल्यरहित मानते हैं।

(10) **शक्तियाँ**—इसके अंतर्गत शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक, कलात्मक, संवेदना, प्यार, सत्य, न्याय, विवेक आदि शक्तियाँ तथा धन, पद, पत्रकारिता आदि अन्य सभी भौतिक शक्तियों का अस्तित्व निहित है।

(11) **मानवीय गुण**—उदारता, दया, क्षमा, वीरता, ईमानदारी, स्वच्छता, इंद्रिय निग्रह, विनयशीलता, न्यायप्रियता, संवेदनशीलता, करुणा, नैतिकता आदि-आदि समस्त मानवीय गुण इसके अंतर्गत आएँगे।

उपर्युक्त के अतिरिक्त कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनकी अमूल्यता सदियों से सार्वजनिक रूप से स्वीकार की जा चुकी है, जैसे—

1. काल अथवा समय, 2. न्याय, 3. प्यार, 4. शांति, 5. परमानंद, 6. ज्ञान, 7. स्वाधीनता, 8. प्रकृति के नियम, 9. राष्ट्र-गौरव, 10. राष्ट्र-प्रेम आदि-आदि समस्त वे प्यासें जो आत्म-तत्त्व की मौलिक प्यासें हैं।

उल्लेखनीय है कि हम जिन विषयों को मूल्यवान स्वीकार करते हैं, क्रमशः उनके विपरीत विषय, अर्थात् उनके विलोम हमारे लिए अहितकारी होंगे, ऐसा स्वीकार करना अनिवार्य है। हमारी निगाह में महत्त्वपूर्ण क्या विषय है, इसे सुनिश्चित कर लेने के उपरांत उन्हें छोड़कर संसार की सारी वस्तुएँ, सारे, तत्त्व, सारे विषय हमारे लिए नितांत महत्त्वहीन होंगे, भले ही संसार के कितने ही लोग उन विषयों को कितना ही महत्त्वपूर्ण मानकर उनके पीछे बेतहाशा दौड़े चले जा रहे हों।

प्रश्न 4. मूल्यों की शाश्वतता पर प्रश्न-चिह्न क्यों व कैसे लगा? उन्हें परिवर्तनशील क्यों माना जाने लगा है? मूल्यों का बदलना कब आवश्यक

होता है?

उत्तर : मौलिक मूल्य तो आत्मा की वास्तविक मौलिक प्यास को तृप्त करने के लिए निर्धारित हुए थे। उन्हीं के अनुरूप आचरण करके आत्मा तुष्ट हो सकती है।

अपनी समस्त प्यासों को तृप्त करना मनुष्य की मूलभूत प्रकृति है। अत: जब विवेक का प्रभाव घटा और अहंकार का प्रभाव बढ़ा, अर्थात्, जब मनुष्य नैतिक रूप से निर्बल होने लगा, तो व्यक्ति इसका सही अंकन करने में असमर्थ होने लगा कि उसकी कौन सी प्यास तो वास्तविक है, और कौन सी कृत्रिम। इस तरह आत्मा की मौलिक प्यासें तो कहीं इतनी नीचे दबी रह गईं कि उनका बोध तक नहीं रहा; दूसरी ओर अहंकार द्वारा उनके भौतिकीकृत रूप इतने ठोस और साकार लगे कि सामान्यजन उन्हीं कृत्रिम प्यासों को तृप्त करने में अपने जीवन की सार्थकता मान बैठे। यह स्थिति जब व्यापक होने लगी, तो मौलिक मूल्यों की अवहेलना भी व्यापक होने लगी और केवल जनाधार पर कृत्रिम मूल्यों की प्रतिष्ठा बढ़ती गई। ऐसे में मौलिक मूल्यों की मौलिकता पर प्रश्न-चिह्न लगना स्वाभाविक हो गया और केवल जनाधार पर उन्हें परिवर्तनीय माना जाने लगा। आज के मानव की दुर्दशा इसी का परिणाम है। जहाँ तक परिवर्तनशील मूल्यों का प्रश्न है, तो सामान्यतया मूल्यों में परिवर्तन केवल नए उद्देश्यों तथा नए दायित्वों के आधार पर ही संभव है। सुविधा, भय, प्रलोभन अथवा आलस्य के वशीभूत होकर मूल्यों में कैसा भी परिवर्तन करना हर हाल में अनर्थकारी होगा।

इसके अतिरिक्त, तुलनात्मक दृष्टि से कभी नए, तो कभी प्राचीन मूल्यों एवं मान्यताओं को भी बदलने की आवश्यकता हो सकती है। उन्हें कब बदलना अनिवार्य हो जाता है तथा उन्हें किस दिशा में बदलना चाहिए, उसे जानना भी हितकर होगा।

वे परिस्थितियाँ जब मूल्यों एवं मान्यताओं को बदलना अनिवार्य हो जाता है।

पहली परिस्थिति

1. जब समाज में शाश्वत मूल्यों का ह्रस होने लगे।

जिस भी विषय के कारण न्याय, सत्य, कर्म, मानवीयता, स्वाधीनता, प्यार, शांति, ज्ञानार्जन सरीखे शाश्वत मूल्यों पर अतिक्रमण व्यापक होने लगे, उस विषय का मूल्य, उस विषय की मान्यता शीघ्र से शीघ्र समाप्त करना एक ऐसी अनिवार्यता है, जिसे न करना उस समाज के पतन को न्योता देना होगा।

धन, पैसा कोई नई चीज नहीं है। पूर्वकाल में जो मूल्य अथवा मान्यता किसी भी 'साधन' को मिलनी चाहिए थी, उतना ही मूल्य पैसे को भी दिया जाता था। जब, उससे अधिक मूल्य कुछ इने-गिने व्यक्ति देते थे, वो समाज में कृपण अथवा कंजूस कहलाते थे और उन्हें समाज सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता था। पैसे की शक्ति से न्याय नहीं खरीदा जा सकता था। पैसे की खातिर सत्य को तोड़ा-मरोड़ा नहीं जाता था, पैसे की बदौलत कोई अपने कर्म से विमुख नहीं होता था, प्यार पैसे की तराजू में नहीं तोला जाता था, पर जिस समाज में पैसे की मान्यता इतनी बढ़ जाए कि पैसा इन सभी शाश्वत मूल्यों पर अतिक्रमण करने लगे, तो उसके मूल्य को पुन: उसकी सीमा में बाँधना एक ऐसी अनिवार्यता है, जिसे यदि अनदेखा किया गया, तो उस समाज को विनाश से कोई नहीं रोक सकेगा। इस संदर्भ में यह सोचना कि पैसे को अपनी सीमा में बाँधना सत्ता का काम है, बहुत बड़ी भ्रांति है। यह काम तभी संभव

हो सकेगा, जब समाज के अधिकांश लोग अपने विवेक से परखकर, पैसे के वास्तविक मूल्य को पहचानकर उसे उसकी मौलिक सीमा में बाँधें। अर्थात्—उसे 'साध्य' की गरिमा न दें तथा उसे केवल 'साधन' का ही महत्त्व दें।

यही बात सत्ता पर भी चरितार्थ होती है। सत्ता के लालच में जब शाश्वत मूल्यों पर प्रहार होना शुरू हो जाए, तो समाज को सोचना पड़ेगा कि जिन मूल्यों का विध्वंस होने पर मनुष्य में सत्य, न्याय, मानवीयता, प्यार आदि मौलिक मूल्यों का ही ह्रस हो जाएगा, तो फिर मनुष्य क्या मनुष्य कहलाने योग्य रह सकेगा? फिर जब मनुष्य मनुष्य ही नहीं रह जाएगा, तो सत्ता क्या पदार्थों पर राज करेगी? सत्ता लोकसेवा का साधन थी, साधन है तथा साधन ही रहनी चाहिए। उसे भी उसकी मौलिक सीमा में बाँधना तथा 'साध्य' के स्तर से नीचे लाकर उसे केवल साधन का रूप देना ही होगा, तत्पश्चात् शाश्वत मूल्यों को पुन: अपनी गरिमा पर स्थापित करना समाज के प्रत्येक सदस्य का आवश्यक कर्तव्य होगा। आवश्यकता है तो केवल इस बात की कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सद्विवेक से सभी विषयों के असली मूल्य को पहचाने और अपने स्वयं के जीवन के मौलिक उद्देश्य को पूरा करने में लग जाए। अपने लिए पूर्व में दिए गए पाँचों वर्गों के आधार पर क्या, कितना मूल्यवान है, उसे उतना ही मूल्य दे तो संपूर्ण समाज स्वयं अपने परम अभ्युदय को प्राप्त कर लेगा।

दूसरी परिस्थिति

2. जब मानव समाज का कोई भी अंग अपने अभ्युदय को प्राप्त करने में असमर्थ होने लगे।

समाज के मूल्यों में वांछनीय परिवर्तन लाने की दूसरी परिस्थिति तब उत्पन्न होती है, जब समाज में प्रचलित मान्यताओं के कारण मानव समाज के किसी भी अंग को अपने अभ्युदय के मार्ग को अपनाने में उन मान्यताओं के कारण लाचार होना पड़े।

एक काल ऐसा भी रहा है जब विधवाओं को मनुष्य नहीं माना जाता था। जो मान्यता मानवीयता जैसे शाश्वत मूल्य पर प्रहार करे, वह सही हो ही नहीं सकती थी। राजा राममोहन राय सरीखे व्यक्तियों ने समाज में उस विकृत मान्यता के प्रति चेतना जागृत करके एक बड़ी असभ्य परंपरा को समाप्त किया। मानवता ऐसे व्यक्तियों की सदा ऋणी रहेगी।

इसी तरह अस्पृश्यता हिंदू समाज में न जाने कैसे इतनी मान्यता प्राप्त कर गई। महात्मा गांधी सरीखे व्यक्ति ने इस विकृत मान्यता के प्रति चेतना जागृत की, फिर भी मानवीयता के शाश्वत मूल्य पर इतना बड़ा प्रहार करनेवाली यह विकृत परंपरा समूल नष्ट नहीं की जा सकी है यह दुर्भाग्य की बात है।

अत: आवश्यकता केवल अपने विवेक की कसौटी पर कसने की है, और पल भर में अस्पृश्यता जैसी सामाजिक परंपरा की विकृति स्वत: विदित हो जाएगी। किसी व्यक्ति का कोई अंग अविकसित रह जाए, तो वह पूरा व्यक्ति अपंग माना जाता है। इसी तरह मनुष्य समाज का कोई अंग 'मनुष्य' भी न बन पाए, तो वह समाज किसी हालत में स्वस्थ नहीं माना जा सकता। स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि अस्पृश्यता का जड़-मूल से नाश करना किसी भी समाज के अभ्युदय के लिए नितांत अनिवार्य है।

अत: जब भी कोई मूल्य या मान्यता किसी भी मनुष्य को अपने अभ्युदय के मार्ग को अपनाने में बाधक होने लगे, तो उस मान्यता का परिवर्तन करना अनिवार्य हो जाता है।

मूल्यों एवं मान्यताओं के परिवर्तन की दिशा क्या होनी है?

संपूर्ण मनुष्य जाति का एक ही उद्देश्य है—

1. आत्मा को असीमता प्राप्त कराना,

2. दूसरों का दु:ख बाँटना,

3. दूसरों को सुख पहुँचाना।

अत: प्रत्येक परिवर्तन इसी दिशा की ओर प्रेरित होना आवश्यक होगा। अर्थात् ऐसे मूल्य, ऐसी मान्यताएँ समाज में स्थापित हों, जिनसे प्रत्येक मनुष्य इन उपर्युक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने में समर्थ हो।

यह तभी संभव हो सकता है, जब शाश्वत मूल्यों और मान्यताओं की 'शाश्वतता' सर्वत्र स्वीकार होने लगे। साथ ही, कृत्रिम मूल्यों की कृत्रिमता स्पष्ट विदित कराई जाए जिससे प्रत्येक मनुष्य यह पहचान जाए कि उसके अपने वास्तविक परम स्वार्थ, परम हित के लिए उनका परित्याग करना अनिवार्य है, तभी वह उन कृत्रिम मूल्यों के पीछे दौड़ना बंद करके अपने वास्तविक अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त कर सकेगा।

प्रश्न 5. क्या कोई ऐसी कसौटी है जिस पर प्रत्येक व्यक्ति नए-पुराने समस्त मूल्यों तथा मान्यताओं को परखकर स्वयं निर्णय ले सके कि कौन-कौन से सही हैं तथा कौन-कौन से गलत?

उत्तर : नए-पुराने समस्त विषयों, मूल्यों, मान्यताओं तथा आस्थाओं को निम्नांकित कसौटियों पर परखने पर उनकी महत्ता अथवा महत्त्वहीनता प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अत्यंत सरलता से आँक सकता है—

1. यह हमें मनुष्य बनने में कितना सहयोग देती है अर्थात् अपने दसों अधिकारों का प्रयोग करने में किस स्तर की सहयोगी है?

2. आत्मा को पूर्णता दिलाने, दूसरों के दु:खों को बाँटने तथा दूसरों को सुख पहुँचाने में किस स्तर का सहयोग देती है?

3. अपने जीवन को स्वस्थ तथा सुरक्षित रखने के लिए इनसे किस स्तर का योगदान संभव है?

4. जीविका के साधन में पूर्ण सफलता प्राप्त करने तथा अपने जीवन से जुड़े समस्त दायित्वों को निभाने में किस स्तर का सहयोग उपलब्ध कराती है?

5. हमारी आत्मा की मौलिक प्यासों को तृप्त करने में इनसे किस स्तर का योगदान संभव है?

उपर्युक्त पाँचों प्रश्नों के उत्तर में प्रत्येक वस्तु, विचार, वाणी, कर्म, प्राणी, गुण, शक्तियों तथा गतिविधियों से जिस स्तर का योगदान संभावित हो, उसका मूल्य भी उसी स्तर का मानना सही होगा। समस्त मूल्यों, मान्यताओं तथा आस्थाओं को भी इन्हीं पाँच कसौटियों पर परखकर उनका वास्तविक मूल्यांकन सहज में ही प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है।

इसके विपरीत जिन भी विषयों अर्थात् वस्तुओं, पदार्थों, तत्त्वों, व्यक्तियों, गतिविधियों, स्थितियों, शक्तियों, मानवीय गुणों, भावनाओं, विचारों, वचनों अथवा कर्मों का योगदान उपर्युक्त कसौटियों पर परखने पर नगण्य निकलता है, तो वे सभी विषय हमारे लिए मिट्टी से भी कम मूल्य के हैं, महत्त्वहीन हैं, ऐसा मानना बुद्धिमानी होगी, भले ही सारा संसार ही क्यों न उन्हें प्राप्त करने के लिए एक-दूसरे से होड़ लगा रहा हो।

प्रश्न 6. सही और गलत आचरण का त्रुटिरहित निर्णय किस आधार पर लिया जा सकता है?

उत्तर : क्या सही है और क्या गलत इसका निर्णय केवल व्यक्ति की बुद्धि अपने विवेक के आधार पर करती है। विवेक का निर्णय, व्यक्ति द्वारा अपनाए गए मूल्यों, मान्यताओं तथा आस्थाओं पर निर्भर करता है। मूल्य, मान्यताएँ एवं आस्थाएँ नैतिकता पर भी आधारित हो सकती हैं और अनीति पर भी। नैतिकता पर आधारित मूल्यों एवं मान्यताओं का मूल आधार है सत्य, न्याय और मानवीयता। अनीति का आधार है असत्य, अन्याय तथा अमानवीयता, जो अहंकार से उदय होते हैं तथा जिनका व्यक्ति अपने तात्कालिक परिकल्पित हितों के लिए कभी-कभी आश्रय लेता रहता है। अत: त्रुटिरहित निर्णय तभी संभव है, जब वह सत्य, न्याय तथा मानवीयता के मापदंडों पर खरा उतरे और अहंकार की आवाज को अनसुना कर दे।

हर परिस्थिति में सत्य क्या है, न्याय क्या है अथवा मानवीयता कहाँ निहित है, इसका विश्लेषण हर व्यक्ति सही-सही कर सके, यह जरूरी नहीं है, क्योंकि कभी-कभी अहंकार भी इतनी हृदयग्राही दलीलें लेकर अपने पक्ष को रखता है कि वह विवेक की ही आवाज प्रतीत होती है। अत: व्यावहारिकता के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि प्रस्तावित आचरण के लिए कोई ऐसी कसौटी ढूँढ़ी जाए, जिस पर खरा उतरना ही नैतिकता की प्रामाणिकता हो तथा जिस पर परखने के उपरांत सत्य, न्याय तथा मानवीयता कहाँ निहित है, यह भी स्वत: स्पष्ट रूप से विदित हो जाए। यह तभी संभव है, जब प्रस्तावित आचरण का देश, काल और स्थिति को देखते हुए एक अत्यंत निष्पक्ष परीक्षण हो।

प्रस्तावित आचरण का यह परीक्षण प्रारंभ करने से पहले सर्वप्रथम हमें यह सुनिश्चित करना पड़ेगा कि प्रस्तावित आचरण हमारे मौलिक उद्देश्य अथवा उससे जनित उप-उद्देश्य तथा दायित्वों को पूरा करने में सहायक हो।

यह प्रयोग इसलिए अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि अकसर व्यक्ति कभी किसी उद्देश्य को लेकर चलता है और परिस्थितियों तथा अहंकार के वेग में वह ऐसा बह जाता है कि अपने मौलिक उद्देश्य को भूल बैठता है। मुझे स्मरण है कि मेरे एक मित्र के भाई अपने लड़के की बरात लेकर दिल्ली के एक होटल में घुस रहे थे कि होटल के गेट पर खड़े दरबान ने बैंड को जाने से रोक दिया। इस बात को लेकर झगड़ा इतना बढ़ गया कि दूल्हे के पिता के कपड़े तक फट गए, यहाँ तक कि उनके छोटे भाई ने माइक पर एलान कर दिया कि शादी नहीं होगी और समस्त बराती वापस चलें। बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई। लोग आए किस उद्देश्य से थे और मात्र दरबान के कारण, चल किधर को पड़े। वह तो कुछ ठंडे विवेकशील व्यक्ति वहाँ पर थे जिन्होंने स्थिति को संभाला और एक अनर्थ होने से बचा।

तात्पर्य केवल इस बात से है कि भले ही हमारा प्रस्तावित आचरण विवेक से अनुमोदित हो, पर यदि वह हमारे उद्देश्य से विमुख है, तो यह सारा प्रयास हानिकारक, निरर्थक ही सिद्ध होगा। ऐसा होने पर यदि कोई बड़ी हानि न भी हो, किंतु काल और शक्ति का अपव्यय तो हो ही जाता है। 'समय' और 'शक्ति' दोनों ही तत्त्व इतने अमूल्य हैं कि किसी बुद्धिमान व्यक्ति के पास इनका अपव्यय करने की गुंजाइश नहीं हो सकती। अत: इस प्रयोग से यह सुनिश्चित किया जाना अनिवार्य है कि प्रस्तावित आचरण हमारे उद्देश्य अथवा दायित्वों से विमुख तो नहीं है।

इसके उपरांत प्रस्तावित आचरण का देश-काल और परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए सत्य, न्याय तथा मानवीयता की कसौटी पर पूर्ण परीक्षण, निम्नलिखित तीन-तीन प्रश्नों की दो कसौटियों पर परखा जा सकता है। शर्त केवल इतनी है कि इन प्रश्नों के उत्तर हम स्वयं अत्यंत ईमानदारी और निष्पक्षता से दें।

पहली कसौटी के तीन प्रश्न हैं

प्रथम प्रश्न— जो आचरण प्रस्तावित है, उसे यदि वह भी करे जो हमें सर्वाधिक प्रिय है तथा जिसके प्रति हमारी सर्वाधिक श्रद्धा है, तो क्या हमें अच्छा लगेगा?

द्वितीय प्रश्न— जो प्रस्तावित आचरण हम दूसरे के साथ करनेवाले हैं यदि वह व्यक्ति वही आचरण हमारे साथ करे तो क्या हमें अच्छा लगेगा?

तृतीय प्रश्न— जो प्रस्तावित आचरण हम करने जा रहे हैं, वह यदि सभी लोग करना शुरू कर दें, तो क्या ऐसा होना मानव जाति के लिए हितकर होगा?

यदि उपर्युक्त तीनों प्रश्नों के उत्तर में स्पष्ट 'हाँ' आता है, तो परम विश्वास से यह कहा जा सकता है कि प्रस्तावित आचरण पहली कसौटी पर खरा उतरा है, पर यदि इनमें से किसी एक का भी उत्तर 'नहीं' में आता है, तो यह प्रस्तावित आचरण 'गलत' तथा अनैतिक मानना पड़ेगा।

दूसरी कसौटी के तीन प्रश्न हैं

प्रथम प्रश्न— मेरा प्रस्तावित आचरण कहीं किसी भी प्रकार के भय से प्रेरित तो नहीं है?

द्वितीय प्रश्न— वह प्रस्तावित आचरण कहीं किसी भी प्रकार के प्रलोभन से प्रेरित तो नहीं है?

तृतीय प्रश्न— प्रस्तावित आचरण कहीं किसी भी प्रकार के आलस्य से प्रेरित तो नहीं है?

यदि उपर्युक्त तीनों प्रश्नों के उत्तर में स्पष्ट 'नहीं' का उत्तर आता है तो बहुत विश्वास से कहा जा सकता है कि प्रस्तावित आचरण दूसरी कसौटी पर भी खरा उतर लिया है। पर यदि इनमें से किसी एक प्रश्न के उत्तर में 'हाँ' अथवा 'हो सकता है' का उत्तर आए, तो स्वीकार करना पड़ेगा कि वह प्रस्तावित आचरण क्रमशः गलत तथा अनैतिक है, अथवा हो सकता है।

अतः देश-काल और परिस्थिति को देखते हुए कोई भी प्रस्तावित आचरण उपर्युक्त दोनों कसौटियों पर खरा उतर जाए, तो परम विश्वास से यह कहा जा सकता है कि वह प्रस्तावित आचरण हर प्रकार से वांछनीय तथा नैतिक होगा, क्योंकि इन दो कसौटियों पर खरा उतरनेवाला हर प्रस्तावित आचरण सद्विवेक द्वारा प्रस्तावित माना जाएगा।

प्रश्न 7. समाज में कोई आचरण अच्छा, कोई गलत तथा कोई पापमय घोषित किया जाता है। इन तीन प्रकार के आचरणों को किस आधार पर आँका गया है? क्या वह आधार शाश्वत है, अपरिवर्तनीय है?

उत्तर : जो आचरण अपने सद्विवेक के अनुकूल है, वह 'अच्छा' माना जाएगा, जो अनुकूल नहीं है, वह 'गलत' माना जाएगा और जो सद्विवेक के प्रतिकूल है उसे 'पापमय' कहा जाएगा।

प्रश्न 8. किसी मूल्य के लिए कितनी कीमत चुकाना उपयुक्त होगा, इसका निर्णय कैसे किया जाए?

उत्तर : समस्त विषयों का मूल्यांकन पूर्व में दिए गए पाँच आधारों पर करने के उपरांत प्रत्येक विषय हमारे लिए कितना मूल्यवान है, उसका अंकन बहुत सुलभता से संभव हो जाता है। अब जैसे बाजार में हम कपड़ा खरीदने

निकले और कोई कपड़ा पसंद तो बहुत आया, पर उसका दाम हमारी निगाह में इतना अधिक है कि हम उसे उतने दाम के योग्य नहीं मानते, तो हम उसे नहीं लेते। ठीक उसी तरह हर विषय कितना ही वांछनीय क्यों न हो, उसके सही मूल्य को आँककर, उपयुक्त से अधिक मूल्य देना नादानी ही होगी। जब कोई बहुत मामूली सी चीज के लिए बहुत पैसे दे बैठता है, तो लोग कहते हैं कि वह ठगा गया है। ठीक उसी तरह जब हम अनेक विषयों के वास्तविक मूल्यों का अंकन न स्वयं न करके, दूसरों के अंकन पर आश्रित हो, अधिक मूल्य दे बैठते हैं तो यदि अपनी उस भूल के कारण ठगे जाएँ, तो आश्चर्य की बात नहीं। भाई का प्यार, माता-पिता का प्यार, बहन का प्यार, अनमोल होता है, पर क्योंकि संसार में पैसा ही परम शक्तिमान माना जाने लगा है, अत: उसे हम भी अत्यधिक मूल्यवान समझकर उसके लिए भाई, पिता आदि के प्यार की बलि चढ़ा दें, तो वह सौदा कितने घाटे का होगा, कोई भी आँक सकता है। पर फिर भी कितने ही लोग 'प्यार' रूपी प्राप्त हीरों को फेंककर 'पैसे' रूपी कंकड़ों को बटोरते देखे जाते हैं। विद्यार्थीकाल में वास्तविक ज्ञानार्जन करना मूल्यवान है। पर संसार में फर्स्ट डिवीजन की डिग्री के मूल्य का चलन अधिक होने से कितने ही विद्यार्थी ज्ञानार्जन की तरफ ध्यान न देकर कागज की उस डिग्री को अधिक मूल्यवान मानकर अपने विद्यार्थीकाल का वास्तविक उपयोग करने में असमर्थ रह जाते हैं। यह सौदा उन्हें कितना महँगा पड़ता है, यह तो समय ही आगे साबित करता है। पर जिसने अपने विवेक से अपनी मूल्यावली बना ली है, वह संसार के भुलावे में पड़कर ठगा नहीं जा सकता।

इसके विपरीत कुछ विषय जीवन से भी अधिक मूल्यवान होते हैं। कुछ मूल्य ऐसे हैं जिनको धारण करने पर जीवन में वास्तविक शांति तथा उस शांति से जनित आनंद प्राप्त होता है; जीवन अनंत रस से परिपूर्ण होता है। किसी भी कारण से उस मूल्य को खो देने से जीवन का आनंद तथा अपूर्व रस को खो देना कितनी बड़ी नादानी होगी, इसका अनुमान लगाना मुश्किल नहीं रह जाता। वह आनंद, वह रस तो अनमोल है, उसे किसी भी अन्य कारण से खो देना अपने ऊपर ही प्रहार करना हो जाता है। अपने कर्तव्यों को संपूर्ण सामर्थ्य लगाकर, संपूर्ण कौशल से करने पर व्यक्ति जिस अंतहीन परमानंद को प्राप्त करता है, जिस अपूर्व रस को प्राप्त करता है, यह तो वह जानते हैं जिन्होंने उसे चख रखा है। तभी तनख्वाह में कुछ वृद्धि कराने के लिए जापान के नागरिक अन्य कोई भी तरीका अपनाते हैं, पर अपने काम से विमुख कभी नहीं होते। स्ट्राइक करके वे उस परमानंद तथा रसयुक्त जीवन से वंचित नहीं होना चाहते। कुछ अधिक रुपयों के लिए उस आनंद और रस को खोना कितने घाटे का सौदा है, वे शायद उसे पहचानते हैं। पर जहाँ लोग अपने काम के माध्यम से प्राप्त होनेवाले अनंत आनंद, अनंत शक्ति, अनंत रस को प्राप्त करना ही न सीख पाए हों, वे काम के महत्त्व को ही पहचानने में असमर्थ रहे, इसीलिए स्ट्राइक करके वे कितना घाटा स्वयं उठाते हैं, उसका अनुमान वे नहीं लगा पाते। पर जो जन हर विषय की असली कीमत पहचान लेते हैं, वे फिर ठगे नहीं जा सकते। जीवन से भी अधिक मूल्य के विषयों का धन, या पद, अथवा अन्य किसी भाव पर भी वे सौदा करने के लिए तैयार नहीं हो सकते। ऐसे मूल्यों को सुरक्षित रखने के लिए जीवन तक की बाजी लगा देना सस्ता ही सौदा होगा। जब भी जिसने प्यार के लिए, न्याय के लिए, स्वाधीनता आदि जीवन से भी अधिक मूल्यवान विषयों के लिए जीवन को भी बलिदान कर दिया, संसार में सर्वत्र उसकी पूजा ही हुई। उसकी कीर्ति अमर हुई।

फिर वे विषय भी हैं जो जीवन के समकक्ष मूल्यवान हैं। हवा जीवित रहने के लिए मूल्यवान है। यदि कोई हमें हवा से वंचित करना चाह रहा हो अर्थात् हमारा गला दबा रहा हो तो उसके लिए प्राणों की बाजी लगा देना सर्वथा उपयुक्त ही होगा। इस अधिकार को तो कानून ने भी यहाँ तक माना है कि यदि कोई किसी के जीवित रहने के अधिकार को छीन रहा हो, तो उसको मार डालने का हक कानून ने भी दे रखा है।

विदित है कि सही मूल्यांकन कर लेने के उपरांत कुछ मूल्य जीवन से भी अधिक, कुछ जीवन के तुल्य तथा कुछ

क्रमश: उससे कम और, और भी कम मूल्यवान सिद्ध होंगे। अपने सद्विवेक के आधार पर अपनी मूल्यावली बनाना तथा सभी विषयों का मूल्यांकन उनकी वास्तविकता के आधार पर करके पहचानना फिर मुश्किल नहीं रह जाता। हर विषय के वास्तविक मूल्य से अधिक कीमत किसी भी परिस्थिति में न चुकाना ही बुद्धिमानी का जीवन जीना कहलाएगा।

प्रश्न 9. क्या विभिन्न मूल्यों के महत्त्व में अंतर है? यदि हाँ, तो उसका कारण क्या है तथा उनकी कोटियों का क्रम किस आधार पर निर्धारित किया जाएगा?

उत्तर : परिवर्तनशील मूल्य व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर निर्भर करते हैं, अत: उनके महत्त्व में विशाल अंतर होना स्वाभाविक है।

शाश्वत मूल्यों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वे, जो आत्मा से संबंधित हैं, जैसे सत्य, चिन्मयता, परमानंद, मोक्ष आदि, तथा दूसरे वे, जो जीवन-संबंधी हैं, जैसे न्याय, धर्म, अर्थात् उद्देश्य-पूर्ति, मानवीयता, पुरुषार्थ, उदारता, स्वाधीनता, राष्ट्र की सुरक्षा आदि। प्रथम वर्ग के समस्त मूल्य असीम महत्त्व के होने के कारण समान महत्त्व के हैं, पर दूसरे वर्ग के शाश्वत मूल्यों के महत्त्व की कोटियाँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं।

मूल्यों को धारण करना व्यक्तिगत आत्म-निष्ठा की बात है। कुछ पाश्चात्य दर्शनकारों ने 'जीवन' को ही सर्वोपरि मूल्य माना है। उनका कहना है कि ''जब हम ही नहीं रहे, तो सारे ही मूल्य अर्थहीन हैं।'' यह अंकन कदाचित् सही नहीं प्रतीत होता। यदि जीवन ही सर्वोपरि मूल्य होता, तो संसार में नित्य सैकड़ों लोग आत्महत्या करते नहीं पाए जाते। विदित है कि अपने जीवन से भी अधिक मूल्यवान निधि के खोने पर उन्हें जीवन निरर्थक नजर आया और वे आत्महत्या कर बैठे। इसी से प्रमाणित होता है कि कुछ विषय अवश्य ही जीवन से भी अधिक मूल्यवान हैं। इसके अलावा, हम नित्य देखते हैं कि मनुष्य तो मनुष्य, कोई वस्तु भी अपने निर्मित उद्देश्य को पूरा न करने पर त्याज्य हो जाती है। अत:, इसी से प्रमाणित होता है कि उद्देश्य-पूर्ति अपने अस्तित्व से अधिक महत्त्व का मूल्य है। अत: जीवन का तभी तक उत्कृष्ट मूल्य है, जब तक वह अपने अस्तित्व के उद्देश्य की पूर्ति करता रहे। हम देखते भी हैं कि उद्देश्यविहीन जीवन जीनेवाले, न केवल परिवार, समाज तथा राष्ट्र के लिए, अपितु स्वयं अपने लिए एक बोझ बन जाते हैं। वस्तुत:, उनके जीवन का मूल्य ऋणात्मक रूप ले लेता है।

सामान्यतया, जीवन-संबंधी शाश्वत मूल्यों का कोटि-क्रम निम्नलिखित माना जाए, तो युक्तिसंगत होगा—

1. सर्वोच्च कोटि का मूल्य— राष्ट्र की सुरक्षा में हमारे समस्त शाश्वत मौलिक मूल्यों, आस्थाओं तथा परंपराओं की सुरक्षा निहित है, अत: राष्ट्र की सुरक्षा उच्चतम कोटि का मूल्य मानना होगा।

2. दूसरी कोटि : इसके बाद समस्त शाश्वत एवं मौलिक मूल्यों के विषय, जैसे सत्य, न्याय, दिव्य प्यार, नैतिकता, चरित्रशक्ति, आध्यात्मिक शक्ति, विवेक, मानवीयता, उदारता, कृतज्ञता, विज्ञता, श्रद्धा, वफादारी, निश्छलता, निर्मलता, संवेदनशीलता, स्वाधीनता, कीर्ति आदि सभी आएँगे।

3. तीसरी कोटि— इसमें उद्देश्य-पूर्ति, लौकिक लक्ष्य-पूर्ति, कर्तव्यपरायणता, अनुशासन, दायित्वों की पूर्ति, श्रेष्ठतम कर्म-कौशल, विनयशीलता, आत्म-सम्मान, सत्यनिष्ठा, सफलता, धर्मपरायणता, सौहार्द, ललित कलाएँ, कला-कौशल, शालीनता आदि सभी समकक्ष मूल्य आएँगे।

4. चौथी कोटि— इसमें वे सारे विषय आएँगे, जो व्यक्ति को स्वस्थ एवं सुरक्षित जीवित रखने के लिए अपरिहार्य

हों।

उपर्युक्त चारों वर्गों के विषयों के अलावा अन्य सभी विषयों का मूल्य कदाचित् गौण ही रहेगा। यह अलग बात है कि अहंकार की मृगतृष्णा के वशीभूत होकर, अथवा संसार में प्रचलित अन्य कृत्रिम मूल्यों को आधार मानकर, लोग जान-बूझ कर अन्य विषयों को भी मूल्यवान मानने लगें। संभवत: इसीलिए आज का मनुष्य, आधुनिक आविष्कारों तथा उपकरणों को इतना मूल्यवान मान बैठा है कि उनके बिना उसे अपना जीवन अधूरा सा नजर आता है। क्या वही मनुष्य, अपने दिल पर हाथ रखकर, ईमानदारी से कह सकता है कि आज से सौ वर्ष पूर्व जिन मानव-रत्नों ने अपना जीवन सार्थक किया था, इन आविष्कारों तथा उपकरणों के बिना उनके जीवन की सार्थकता अधूरी थी? यदि कोई वास्तव में उनके जीवन की सार्थकता को फिर भी अधूरा मानता है, तो उसे स्वीकार करना पड़ेगा कि संसार भर के उपकरणों का पूर्ण उपभोग करने के उपरांत, उसका जीवन भी आज से सौ वर्ष बाद अधूरा ही आँका जाएगा, क्योंकि तब तक न जाने और कितने आविष्कार हो लेंगे।

इस संदर्भ में एक बात स्पष्ट करनी आवश्यक है। संसार में अनेकानेक आधुनिक आविष्कार ऐसे भी हैं, जिनकी सहायता से 'दूसरों के दु:खों को हरने' तथा 'दूसरों को सुख पहुँचाने' में मानव ने असाधारण क्षमता प्राप्त की है। इतना ही नहीं, कितने ही उपकरण ऐसे भी हैं, जिनके सहयोग से मनुष्य ने अपने लौकिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में अद्‌भुत गति प्राप्त की है, अत: जीवन के उद्‌देश्य तथा लौकिक लक्ष्य प्राप्त करने में जिन आविष्कारों द्‌वारा सहयोग मिला है, उनका मूल्य उसी अनुपात में स्वत: असाधारण हो जाना स्वाभाविक है, पर जो उपकरण केवल शारीरिक सुविधा अथवा विलासिता के हेतु हैं, उनका मूल्य तो नगण्य ही रहेगा।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि विलासिता के उपकरणों का प्रयोग करना निंदनीय है। तात्पर्य केवल इस बात से है, कि उन्हें प्राप्त करने के लिए अपनी सत्यनिष्ठा, आत्म-सम्मान अथवा ऐसे ही किसी और बड़े मूल्य की बलि चढ़ाना अनर्थकारी होगा।

विभिन्न विषयों के वास्तविक मूल्य को पहचानने के उपरांत, मूल्यवान विषयों की रक्षा करने तथा निर्मूल विषयों को त्यागने में सामान्य लोगों को कैसी भी विषमता अनुभव नहीं होती। परंतु जीवन में प्राय: ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं, जब व्यक्ति को दो नितांत वांछनीय मूल्यों में से किसी एक को त्यागना अपरिहार्य हो जाता है; जैसे, किसी को धन की क्षति और किंचित् शारीरिक क्षति के बीच चयन करना पड़े, अथवा, राजनीतिक दबाव पड़ने पर किसी अधिकारी को एक ओर अपने बच्चों की पढ़ाई से जुड़े उनके भविष्य तथा दूसरी ओर न्याय करने के बीच चयन करना पड़े, या फिर, अपने नैतिक मूल्य तथा राष्ट्र की सुरक्षा में से किसी एक का चयन करना पड़े, आदि-आदि। ऐसी परिस्थिति में सभी मूल्यों के पारस्परिक तुलनात्मक महत्त्व का कुछ ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है; अन्यथा हम कदम-कदम पर घोर संशयात्मक स्थिति को प्राप्त होते रहेंगे। इस तुलनात्मक महत्त्व के कोटि-क्रम के साथ-साथ दो अन्य बिंदु भी जुड़े हैं, जिन्हें हर समय ध्यान में रखकर ही कोई अंतिम निर्णय लेना श्रेयस्कर होगा—

(1) प्रथम तो यह कि दोनों में से किसी भी मूल्य को त्यागने से उसके प्रभाव की व्यापकता क्रमश: कितनी होगी? मिसाल के लिए, एक मूल्य को त्यागने से केवल मुझे तथा मेरे परिवार को क्षति हो सकने की संभावना हो, पर दूसरे मूल्य को त्यागने से समाज की अथवा राष्ट्र की क्षति हो, अथवा, एक मूल्य को त्यागने से सीमित संख्या के लोगों को हानि पहुँचे, पर दूसरे मूल्य को त्यागने से हानि पहुँचनेवालों की संख्या आँकना भी दुर्लभ हो जाए, तो ऐसी स्थिति में कम व्यापक प्रभाववाले मूल्य को त्यागना ही श्रेयस्कर होगा। सीता पर एक धोबी द्‌वारा टिप्पणी करने पर 'पति-धर्म' तथा 'राज-धर्म' के बीच चयन करने में श्रीराम ने 'राज-धर्म' का पक्ष लेकर 'पति-धर्म' को त्यागना संभवत: इसीलिए श्रेयस्कर माना था।

(2) दूसरी बात, जिसका ध्यान रखना अनिवार्य है, वह यह है कि किस मूल्य को त्यागने से, काल-क्रम की दृष्टि से होनेवाले प्रभाव की गहराई क्या होगी? दृष्टांत के लिए, उच्चतम न्यायालय का कोई निर्णय प्रत्यक्षत: केवल किसी एक पक्ष को प्रभावित करता है, पर कालांतर में वही निर्णय बीसियों वर्षों तक लोगों को प्रभावित करता रहता है। श्रेष्ठ पदों पर आसीन तथा अन्य श्रेष्ठजन, जिनका आचरण सामान्यतया अनुकरणीय माना गया है, जब ऐसे किसी धर्म-संकट में आएँ तो उन्हें इस बिंदु का विशेष ध्यान रखना नितांत वांछनीय होगा। निस्संदेह, श्रेष्ठजनों का दायित्व इस संदर्भ में अति गंभीर हो जाता है, पर इसमें सामान्यजनों का दायित्व भी कम नहीं है।

उपर्युक्त दोनों बिंदुओं पर सतत दृष्टि रखते हुए, ऊपर दिए गए कोटि-क्रम को पूरी तरह ध्यान में रखते हुए, किसी भी मूल्य को त्यागने पर तुलनात्मक क्षति का मूल्य क्या होगा, वह संभवत: निम्नांकित कोटि-क्रम से आँका जा सकेगा—

''धन से वस्तु, वस्तु से शारीरिक स्वास्थ्य, शारीरिक से मानसिक स्वास्थ्य, मानसिक से आध्यात्मिक स्वास्थ्य, आध्यात्मिक से नैतिक स्वास्थ्य, नैतिक स्वास्थ्य से विवेक, विवेक से सत्य, न्याय आदि समस्त शाश्वत मौलिक मूल्य तथा शाश्वत मूल्यों से राष्ट्र की रक्षा, क्रमश: अधिक मूल्यवान हैं।''

उपर्युक्त नौ प्रश्नों के उत्तरों के माध्यम से मूल्यों और मान्यताओं का महत्त्व तथा उन्हें त्रुटिरहित विधि से जानकर अपनी मूल्यावली बनाना सुलभ हो जाता है। ऐसा होने पर वह व्यक्ति किसी वास्तविक मूल्य को कभी खो नहीं पाएगा और मूल्यरहित विषयों को देखकर भ्रमित नहीं हो सकेगा। भले ही सारा संसार ही क्यों न मूल्यरहित तत्त्वों को पाने के लिए लालायित दिखता हो। इस तरह उसका प्रत्येक प्रयास, प्रत्येक श्रम सतत उपयोगी ही सिद्ध होगा।

अपनी मूल्यावली लिखित बनाएँ अथवा उसे अंत:करण में धारण करें, दोनों ही स्थितियों में यह अत्यंत आवश्यक है कि जैसे-जैसे अपने मूल्य निर्धारित होते जाते हैं, वैसे-वैसे उन्हीं के अनुरूप अपनी आचरण-संहिता भी बनाई जाए।

यदि हमने अपने जीवन के लिए पानी को अत्यंत मूल्यवान माना है, तो आचरण संहिता में नोट करना होगा कि हम रेगिस्तान में बिना यथेष्ट पानी के नहीं जाएँगे। विद्यार्थीकाल में यदि अपने चरित्र-निर्माण को हमने बहुमूल्य माना है, तो न सिर्फ हमें चरित्र-निर्माण के विधि-विधान का ज्ञान अर्जित करना होगा, वरन् अपनी आचरण संहिता में लिखना होगा कि हम हर उस विचार, वचन और कर्म से दूर रहेंगे, जिससे हमारे चरित्र की शक्ति को क्षति पहुँचने की संभावना हो। इसी तरह, यदि हम प्रशासनिक वर्ग में हैं और हमने आत्म-सम्मान को 'मूल्य' निर्धारित किया है, तो फिर हमें अपनी आचरण संहिता में लिखना होगा कि हम जीवन में सुविधा अथवा विलासिता की वस्तुओं, या यंत्रों में अपना दिल अटकने नहीं देंगे, क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में नितांत ईमानदारी से काम करके, कोई सरकारी कर्मचारी, सुविधा अथवा विलासिता के साधन खरीद सके, संभव नहीं रह जाता। अब, यह भी संभव है कि जब हमें पता चले कि आत्म-सम्मान के मूल्य को रखने का मतलब सुख-सुविधा के यंत्रों का परित्याग है, तो हम शायद सम्मान व प्रतिष्ठा को काटकर सुख-सुविधा के साधनों को अपनी मूल्यावली में 'मूल्यवान' अंकित कर दें। उस परिस्थिति में फिर आचरण संहिता में लिखना पड़ेगा कि जब कभी हमारी इज्जत उतर जाए, तो हम बुरा नहीं मानेंगे। यह इसलिए अनिवार्य हो जाएगा, क्योंकि सुख और विलासिता के साधनों की भूख कालांतर में इतनी बढ़ जाएगी कि अपनी ईमानदारी की कमाई में उन्हें जुटा पाना संभव न रह जाएगा और जब बेईमानी की कमाई करेंगे, तो किसी भी दिन हम पकड़े जा सकते हैं और हमारी इज्जत उतर सकती है। हो सकता है, हमारा विवेक इस दाम पर सुख-सुविधा के साधनों को पाना स्वीकार न करे और पुन: 'आत्म-सम्मान' को ही अपनी मूल्यावली का मूल्य बनाए। उस हालत में हमें अपनी मानसिकता से सुख-सुविधाओं के यंत्रों का मोह पूरी तरह त्यागना सहर्ष स्वीकार

करना होगा।

विडंबना यही है कि लोग प्राय: इस यथार्थ को स्वीकार नहीं कर पाते। पुलिस सेवा में जो मेरे गुरु थे, वे हर दृष्टि से एक आदर्श अधिकारी थे। कई वर्षों उपरांत एक दिन बातें करते हुए वे सहसा बोले, ''हम और तुम सरीखे लोग वास्तव में बज्र कायर हैं।'' उनका संकेत उन साथी अधिकारियों की ओर था, जिन्होंने सारे अनुशासनों को तोड़ते हुए, राजनीतिक संपर्कों के माध्यम से सतत महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ पाईं; संकेत कुछ उन अधिकारियों की तरफ भी था, जिन्होंने अवैध तरीकों से अपार संपदा अर्जित की थी। उनका सोचना था कि ईमानदारी और सच्चाई के आचरण के मूल में, व्यक्ति की कायरता ही कारण बनती है। इतने गंभीर, इतने सुलझे हुए, बुजुर्गवार हस्ती के मुँह से सहसा यह वाक्य सुनकर मैं स्तब्ध रह गया था। उस दिन मुझे पहली बार इस बात का बोध हुआ कि अत्यंत ज्ञानवान लोग भी, जीवन में मार्ग एक अपनाते हैं और अपेक्षाएँ उन उपलब्धियों की करते हैं, जो उसके ठीक विपरीत मार्ग पर चलकर ही संभव हो सकती थीं। पता नहीं क्यों लोग इस छोटे से सरल सत्य को अंगीकार क्यों नहीं कर पाते कि जब व्यक्ति एक दिशा में चल पड़ता है तो वह उसकी विपरीत दिशा में जानेवालों से ईर्ष्या करने का अधिकार नहीं रखता।

यदि इस जानकारी के बाद भी किसी के मन में ईर्ष्या होती है, तो वह ईर्ष्या इस बात की द्योतक है कि उसमें अपने चुने हुए मूल्य में आस्था की गंभीर कमी है।

एक और चित्र अकसर सामने आता रहा है। मोहित होने पर बहुधा लोग अपनी सामर्थ्य से अधिक कीमत चुकाकर कपड़े बनवा बैठते हैं, पर किसी ने कभी ऐसे व्यक्ति को बड़ी कीमत के देने पर विलाप करते नहीं सुना। पर वही व्यक्ति जब किसी अत्यंत प्रिय मूल्य के लिए कोई कीमत चुकाता है, तो वह बहुत व्याकुल हो जाता है। कितने ही सरकारी नौकरों को यह विलाप करते सुना गया है, ''मैं तो सच्चाई और न्याय के रास्ते को छोड़ने के लिए तैयार न हुआ, इसीलिए मेरा तबादला कर दिया गया, अब इतना नुकसान उठाना पड़ रहा है।' दूसरे शब्दों में 'सच्चाई और न्याय की राह बेहद महँगी पड़ी'—बूते से ऊपर महँगे, पर प्रिय लगनेवाले सूट को खरीदकर तो कभी विलाप नहीं किया, पर अत्यंत प्रिय तथा जीवन से भी अधिक मूल्यवान 'सच्चाई' एवं 'न्याय' जैसे 'मूल्यों' की कीमत चुकाने पर व्याकुल हो गए, मानो अपने उस मूल्य को रखने के लिए उसका दाम उन्हें नहीं, समाज को भरना चाहिए था। श्रेष्ठ मार्ग पर चलकर यश, कीर्ति, परम शांति, परम आनंद तो कमाएँ वे, पर उसकी कीमत चुकाए कोई और। न्याय की दृष्टि से इस मनोवृत्ति को ईमानदारी की संज्ञा कोई नहीं दे सकता। वस्तुत: यह मनोवृत्ति स्पष्ट बताती है कि अमुक व्यक्ति किसी बहुमूल्य चीज को मुफ्त पाना चाह रहा है। दुनिया जानती है कि अलावा बीमारी के, संसार में मुफ्त कुछ भी नहीं मिलता, फिर भी कोई जानबूझकर अपने को धोखा दे और यह भ्रम अंगीकार करे कि उसके 'मूल्य' का भुगतान किसी और को करना चाहिए था, तो यह न्यायसंगत नहीं होगा। वास्तविकता तो यह है कि जिस 'मूल्य' के लिए जितनी बड़ी कीमत चुकाई जाएगी, वह उतना ही मूल्यवान होता जाएगा। तभी न, कितने ही लोग कहते हैं कि हमें स्वतंत्रता बहुत सस्ते में मिल गई, इसीलिए भारतवासी उसकी कीमत नहीं पहचानते। हमने जब हवा को मूल्य माना और उसे उपलब्ध रखने के लिए प्राणों की बाजी तक लगाने को तैयार हैं, तो अन्य मूल्य जो हमारे जीने का आधार बन चुके हैं, जिनके बिना हमारा जीवन नीरस और नि:सार होकर रह जाएगा, उन मूल्यों को भी सुरक्षित रखने के लिए, सुविधाओं की तो बात ही क्या है, अपने प्राणों तक की बाजी लगा देने में ही अर्थपूर्ण जीवन की कुंजी है। यथार्थ तो यह है कि ऐसा करना जीवन के उत्सर्ग को भी गरिमा प्रदान करता है। जो 'मूल्य' जीवन को जीने योग्य बनाते हैं, उनके लिए मरना भी गौरवपूर्ण होता है।

अपने मूल्यों के लिए पर्याप्त कीमत सहर्ष चुकाने के लिए हर व्यक्ति को मानसिक रूप से तैयार रहना होगा। ऐसा

होने पर फिर विषम से विषम परिस्थिति सहज हो जाती है।

हमारी मूल्यावली तो हमारे जीवन के भौतिक उद्देश्य के आधार पर बनेगी, पर जो उससे भी अधिक महत्त्व की बात है वह यह कि उस मूल्यावली के आधार पर बनी आचरण-संहिता के अनुरूप चलने की क्षमता हमारे अंदर हो। यदि वह क्षमता नहीं है, तो स्पष्ट है कि अपने 'मूल्यों' का निर्णय हमने अपनी क्षमता के अनुरूप नहीं किया, अपितु केवल आदर्शों से प्रेरित होकर किया। ऐसी स्थिति में आगे चलकर हमारे मूल्यों का विघटन हो जाए, तो विस्मय की बात नहीं होगी। जिन मूल्यों को लेकर हम अनंत शक्ति, परम आनंद तथा अपूर्व रस प्राप्त करने के सपने देख रहे थे, वे सपने फिर साकार नहीं हो सकेंगे। जीवन में ऐसी परिस्थित न आए, उसके लिए किन्हीं क्रियाओं का अभ्यास करना अनिवार्य होगा। आचरण-संहिता पर अडिग बने रहने के लिए अपनी क्षमता बढ़ाने के क्रम में जो क्रियाएँ नित्य या तो जगने के बाद अथवा सोने से पहले करनी हैं, वे नीचे दी जा रही हैं—

(1) अपने कार्यक्षेत्र के मौलिक उद्देश्य का स्मरण पूरी तरह करें।

(2) उसमें अद्भुत रूप से सफल होने का संकल्प पूरी आत्म-शक्ति लगाकर एक बार करें। अपने उत्कृष्टतम सफल स्वरूप की कल्पना पूरी मानसिक शक्ति से करें।

(3) जिन 'मूल्यों' को अपनाया और जिन पर प्रहार होने की संभावना है, उनका पुन: निरीक्षण करें। यदि वे अपने सद्विवेक द्वारा पुन: पूरी तरह अनुमोदित हैं, तो अंत:करण में उनके प्रति अपनी आस्था को और प्रगाढ़ बनाएँ।

(4) अपने 'मूल्यों' के कारण जिन मनमोहक विषयों को त्यागना आचरण-संहिता के अनुसार अनिवार्य है, उनकी मौलिक निरर्थकता में अपनी आस्था को जागृत करें, जिससे उन विषयों का त्याग मानसिक रूप से होने लगे। ऐसा करना तब और भी सहज हो जाता है, जब ऐसा करते समय अपने जीवन के मौलिक उद्देश्य का भी स्मरण कर लें।

(5) अपने 'मूल्यों' पर चलने पर एक अपूर्व शक्ति अपने अंदर सृजित होती है उसके फलस्वरूप हृदय में एक अद्भुत शांति जनित होती है। और उस शांति के व्याप्त होते ही जो परमानंद हृदय से फूट पड़ता है, उसकी साक्षात् अनुभूति अपनी आत्मा की गहराइयों में करें।

(6) उपर्युक्त पाँचों क्रियाओं के करने के उपरांत एक बार जिस भी परम शक्तिमान में आस्था है, उनका स्मरण करके उनसे प्रार्थना करें कि उनका हाथ अपने ऊपर हर क्षण बना रहे, जिससे हमारी शक्ति में कमी न आने पाए। जो नास्तिक हैं, वे अपने अंदर ही अपनी दिव्य शक्तियों का आह्वान करें कि वे सजग रहें और हमारा साथ कभी न छोड़ें।

आरंभ में ऊपर लिखी इन छहों क्रियाओं में कुल मिलाकर पंद्रह मिनट भी नहीं लगेंगे और दस-पंद्रह दिन के अभ्यास के बाद, पाँच से सात मिनट से अधिक नहीं लगेंगे, पर इससे अपने अंदर एक अद्भुत शक्ति सर्जित होती स्पष्ट महसूस होगी।

इसी के साथ नित्य अपनी दिनचर्या में, चाहे दस-दस मिनट ही निकालें, पर अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों के विकास के लिए आवश्यक श्रम अवश्य करें। जहाँ तक नैतिक शक्ति का सवाल है, उसे तो अपने दिन भर के काल में कुछ-न-कुछ विकसित करते ही जाना होगा, चाहे वह विकास अत्यंत अल्प ही क्यों न हो।

इतना जो भी कर लेगा, उसके अंदर फिर एक ऐसी शक्ति सर्जित होने लगेगी कि वह अत्यंत स्वाभाविक रूप से अपने मूल्यों के अनुरूप निरंतर जी सकेगा। फिर कोई भी शक्ति उसे अपने पथ से नहीं डिगा सकेगी। ऐसे व्यक्ति

के लिए कोई पराक्रम असंभव नहीं रह जाता। वह फिर हर समय उस अनुपम अनंत रस और आनंद में डूबता-उतराता रहेगा, जिसे प्राप्त करना हर मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार था, और है।

मानव जीवन के मौलिक उद्देश्य की पूर्ति के अतिरिक्त, यदि पृथ्वी पर वास्तव में कमाने योग्य भौतिक उपलब्धियों की तालिका बनाई जाए, तो संभवत: वह कुछ इस प्रकार की होगी—

(1) शरीर के लिए स्वास्थ्य,

(2) मस्तिष्क के लिए ज्ञान,

(3) अंत:करण के लिए प्यार,

(4) व्यक्तित्व के लिए नैतिक शक्ति,

(5) आत्मा के लिए पूर्णता,

(6) जीवन के लिए कीर्ति।

माँ भारत की पुकार

''ऐ वत्स! यदि आज के समाज की कुरीतियों से, उसकी असंगतियों से, उसमें व्याप्त अत्याचार और अनाचार से तू त्रस्त है और यदि तुझे मुझसे तनिक भी ममता है, तो आज ही तू अपने समस्त मूल्यों को, मान्यताओं को, आस्थाओं को, अपने सच्चे विवेक की कसौटी पर परख और फिर जो उस पर खरी उतरें, केवल उन्हीं को तू अपना और जो गलत हों, उन्हें तत्काल त्याग। ध्यान रहे कि जो 'साधन' हैं, उन्हें भूलकर भी अपनी मूल्यावली में 'साध्य' न बना लेना। तेरी गति वही होगी, जो तेरे 'मूल्यों' की है। तेरे मूल्य शाश्वत होंगे, तो तू भी अमृतत्व प्राप्त करेगा। तेरे मूल्य नश्वर होंगे, तो तू भी नष्ट होकर मिट्टी में मिल जाएगा। यदि वे सार्थक हैं, तो तेरा जीवन भी सार्थक होगा। जीवन का प्रत्येक पल, परम आनंदमय एवं परम रसमय बनाना तेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।''

''बहुधा यह सोचा जाता है कि अमुक मार्ग पकड़कर संसार में मुझे क्या मिलेगा? ऐ मेरे बेटे! याद रख, जीवन व्यापार नहीं है। वह तुझे एक उद्देश्य-विशेष की पूर्ति-हेतु मिला है। जब तक तू उसे पूरा करने को उद्यत नहीं होगा तब तक तेरे जीवन में शांति और आनंद का सर्वथा अभाव ही रहेगा, भले ही तू त्रैलोक्य का साम्राज्य ही क्यों न अर्जित कर ले।''

''अपने जीवन की बागडोर अपने ही हाथों में ले। स्मरण रहे, तेरे पास दो-चार जीवन नहीं हैं। केवल एक ही है—केवल एक।''

''अपने को अपने ही सद्विवेक अर्थात्—'स्व' के अधीन बना। तुझे सच्चे अर्थों में 'स्वाधीन' देखने के लिए मेरी आँखें तरस रही हैं।''

❑

पुरुषार्थ क्या है?

पुरुषार्थ वस्तुत: अंतर्जगत् की एक स्व-संचालित अदृश्य शक्तियुक्त प्रवृत्ति है।

प्रकृति में हर तत्त्व का विलोम होना अनिवार्य है। उसी विधान के अनुसार पुरुषार्थ के ठीक विपरीत एक अन्य प्रवृत्ति और भी होती है जो उसका विलोम है। वह है 'हार मान लेने' की प्रवृत्ति अथवा 'लाचार हो जाना'। 'पुरुषार्थ' के पूरे स्वरूप को जानने के लिए पहले उसके विलोम को अच्छी तरह पहचान लेना बहुत आवश्यक है।

'हार मान लेना' अथवा 'लाचार' हो जाने की प्रवृत्ति क्या है, यह संभवत: कुछ दृष्टांतों से स्पष्ट हो सकेगा—

पहला दृष्टांत— आई.पी.एस. में जाने के पश्चात् पता चला कि पूर्व वर्षों में कुछ लोग ऐसे भी भर्ती हुए थे जो आई.पी.एस. के प्रशिक्षण के अंतर्गत शारीरिक परिश्रम की कठोरता को सह न सके और पहले हफ्ते में ही इस्तीफा देकर चले गए। स्पष्ट था कि उनके शरीर पर कुछ असाधारण भार पड़ा नहीं कि उन्होंने हार मान ली। सभी अच्छी तरह जानते हैं कि मनुष्य का शरीर प्रकृति की ऐसी रचना है जिसे अभ्यास द्वारा इतना कठोर बनाया जा सकता है, कि सामान्य जन उसे देखकर विस्मित हो जाएँ। फिर भी उस अभ्यास से गुजरने के लिए तैयार नहीं थे। इस प्रवृत्ति का स्रोत केवल शारीरिक एवं मानसिक आलस्य ही था।

दूसरा दृष्टांत— अपने सेवा-काल में उप-निरीक्षकों की भर्ती के लिए उनका साक्षात्कार करने का कई बार अवसर मिला। साक्षात्कार परिषद् में एक मनोवैज्ञानिक भी होते थे। वे सैकड़ों प्रत्याशियों से एक सवाल बहुधा पूछते थे—

''तुम्हारे पास केवल दो बर्तन हैं, एक तीन लीटर का, दूसरा पाँच लीटर का और तुमसे कहा जाता है कि नदी से केवल इन दो बर्तनों की मदद से पूरे चार लीटर पानी ले आओ। बताओ, कैसे लाओगे?''

इस प्रश्न का सही उत्तर तो संभवत: पच्चीस-तीस में एक ही दे पाता था, पर जो उत्तर नहीं दे पाते थे, उनकी प्रतिक्रिया मूलत: तीन प्रकार की होती थी—

1. पहला वर्ग उनका था, जो दो, चार, दस सेकेंड के अंदर ही कह बैठते थे कि ''हमसे नहीं होगा।''

2. दूसरा वर्ग उनका था जो काफी देर तक सोचते रहते और जब समयाभाव के कारण हम ही उनसे कहते कि अब सोचना बंद करो। हम तुम्हें इसका हल बताते हैं, तो वे उस हल को सुनने के लिए फौरन तैयार हो जाते।

3. तीसरा वर्ग उन चंद लोगों का था, जो अधिक समय बीत जाने के बाद भी, जब हम कहते कि अब हम बताते हैं, तो बहुत बेचैन होकर तत्काल हमें रोकते, ''आप मत बताइए, हम अभी कोशिश कर रहे हैं।''

स्पष्ट था कि पहले वर्ग में वे लोग थे जिनके मस्तिष्क पर थोड़ा बोझ पड़ा नहीं कि फौरन हार मानकर उस बोझ से मुक्त हो लिए। वस्तुत: इस प्रवृत्ति का जनक मानसिक आलस्य है।

तीसरा दृष्टांत— एक बार युवा विद्यार्थियों की एक गोष्ठी में व्यायाम के माध्यम से शारीरिक शक्ति के सृजन के मौलिक अधिकार की चर्चा कर रहा था कि बीच में ही एक नवयुवक बोल उठा, ''जब किसी को दो वक्त केवल सूखी रोटी ही मिलती हो, तो ऐसी परिस्थिति में व्यायाम के लिए खुराक कहाँ से आएगी?''

जब उससे प्रतिप्रश्न किया गया कि व्यायाम करने पर भूख कितनी बढ़ी, तो उत्तर मिला, ''जब खुराक की ही संभावना न थी, तो व्यायाम करके करते भी क्या?'' पता चला कि उसने व्यायाम एक दिन भी नहीं किया था।

एक शाश्वत सत्य ही नहीं, प्रकृति का विधान भी है जिसके अनुसार, 'पूरा किया हुआ दायित्व ही किसी भी अधिकार का एकमात्र स्रोत है।' हर बालक का अधिकार है कि अपने माता-पिता से उनके सामर्थ्य के अनुरूप पालन-पोषण पाए। उसकी एवज में उसका यह दायित्व है कि वह अपना सर्वतोन्मुखी विकास करे, परिवार के

सदस्यों की अपने सामर्थ्य भर सेवा करे, तथा माता-पिता की आज्ञा माने। इस तरह वह नवयुवक पालन-पोषण करवाने के अपने अधिकार का प्रयोग तो पूरी तरह कर रहा था, परंतु अपने शारीरिक विकास करने के दायित्व से पूरी तरह विमुख था।

स्पष्ट है कि व्यायाम करने के दायित्व से मुक्त होने के लिए उस युवक ने अपनी निगाह में एक बहुत सशक्त कारण ढूँढ़ रखा था। इस तरह अपने शारीरिक दौर्बल्य का दायित्व अपने ऊपर से हटाकर अपने पिता पर रखकर वह संतुष्ट हो गया था। उस भोले-भाले युवक को पता ही न था कि ऐसा बहाना करके वह अन्य किसी के नहीं, अपने ही पैरों में कुल्हाड़ी मार रहा था। अंततः जब वह दुर्बल रह जाएगा, तब आगामी जीवन में पता नहीं वह उस बहाने को किसके सामने रखकर क्या प्राप्त करनेवाला था?

अपने दायित्व से मुक्ति पाने की यह प्रवृत्ति कोई अनोखी नहीं है। बहुत से लोग छोटे-से-छोटे कारण का आधार पाकर अपने दायित्व से मुख मोड़ लेते हैं। बहुतों को अपने इस मानसिक तथा शारीरिक आलस्य का बोध जीवनपर्यंत भी नहीं हो पाता। यह प्रवृत्ति, दायित्व पूरा न होने के बाद भी ऐसी निपुणता से हमें संतुष्ट रखती है कि हम हृदय से यह आभास करने लगते हैं कि 'हम सचमुच में कुछ नहीं कर सकते थे, यदि अमुक दायित्व नहीं निभ पाया, तो इसमें हमारा किंचित् भी दोष नहीं है। कोई भी हमारे स्थान पर होता, तो वह भी वही करता।' इतना ही नहीं, कभी जब कोई प्रभावी बहाना भी नहीं मिल पाता, तो अपने से भी गए-बीतों पर यह प्रवृत्ति नजर डलवाकर हमें अच्छी तरह संतुष्ट कर देती है कि हम फिर भी बहुतों से अच्छे हैं।

वस्तुतः इस प्रवृत्ति से व्यक्ति की सफलता, उत्थान, अभ्युदय तथा संपूर्ण विकास का पूर्णतया अवरुद्ध हो जाना निश्चित है। करोड़ों लोगों के दौर्बल्य तथा उसके फलस्वरूप उनकी असफलताओं के मूल में यही प्रवृत्ति होती है। भयंकर विनाश की जननी इस प्रवृत्ति को अच्छी तरह जानना तथा इससे पूरी तरह निपटना प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है।

हार मानने की प्रवृत्ति का रहस्य

मौलिक रूप से इस प्रवृत्ति का मूल आलस्य में है। वह आलस्य शारीरिक हो, मानसिक हो अथवा नैतिक, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। जब भी व्यक्ति हार मानता है, तो उसके मूल में यही आलस्य विद्यमान होते हैं।

हमारे अंदर आलस्यों का स्वाद लेने तथा उन्हें प्रोत्साहन देनेवाला तत्त्व तामसिक अहंकार ही है। राजसिक और सात्विक अहंकार तो चोट खाने पर फिर भी पुरुषार्थ को जगाने में सफल हो जाते हैं, पर तामसिक अहंकार तो केवल बहाने ढूँढ़ने में अत्यंत निपुण होता है, क्योंकि इस प्रवृत्ति का उद्गम घोर अहंकार में होता है, इसीलिए इसमें अद्भुत तर्क-चातुर्य, अद्भुत गति और अद्भुत बल है। परंतु मनुष्य के सौभाग्य से इसका स्रोत अहंकार, असत् होता है, इसलिए इस प्रवृत्ति की सत्ता तभी तक संभव है जब तक कोई इसे मानता रहे। अर्थात्—इससे व्यक्ति उतनी ही जल्दी परास्त किया जाता है, जितनी जल्दी वह स्वयं परास्त होना चाहता है।

इसके विपरीत जो इस प्रवृत्ति के रहस्य को तथा इसकी विनाशकारी संभावनाओं को जानकर इसका सामना करने के लिए संकल्प कर लेता है, उसके अंदर से यह ऐसे गायब हो जाती है, जैसे वह कभी थी ही नहीं। पर जब तक इसका सामना करने का संकल्प विवेक में नहीं जागता, तब तक यह इतनी सशक्त जान पड़ती है कि इसके आगे व्यक्ति एकदम असहाय महसूस करता है। महसूस ही नहीं करता, वास्तव में असहाय हो भी जाता है।

सत् और असत् की सत्ता का यही मौलिक भेद है। सत् की सत्ता का उद्गम आत्मा में है, जो विवेक के माध्यम से प्रकट होता है। उसे अस्वीकार कर देने मात्र से उनकी सत्ता समाप्त नहीं हो सकती। किंग सोलोमन की तरह,

कोई उसे ताजिंदगी कितना ही अनदेखा करता रहे, अंतत: वह प्रकट होकर अपने अस्तित्व को स्वीकार करवाकर ही रहती है। परंतु असत् की सत्ता, जो अहंकार से उपजती है, तभी तक सशक्त दिखती है, जब तक उसे चुनौती न दी जाए।

जीवन में असफलता के प्रमुख कारणों में एक बड़ा कारण इस 'प्रवृत्ति' का शिकार बनना है। मानव जीवन का यह एक यथार्थ है। इसके विपरीत, अनेकानेक मानव-रत्नों की जीवनी इस सत्य का प्रमाण है कि जिस पुरुषार्थी ने इस प्रवृत्ति से परास्त होना स्वीकार नहीं किया, उसे यह प्रवृत्ति जीवन भर परास्त करने में असमर्थ रही।

यह प्रश्न उठ सकता है कि एक स्वस्थ शरीरवाला इस प्रवृत्ति का शिकार बने, तो नि:संदेह वह उसका स्वयं का निर्णय होगा और इस निर्णय के लिए उसके अलावा अन्य कोई भी उत्तरदायी नहीं होगा, पर उन लोगों की बाधाएँ तो कृत्रिम या मसनूई नहीं मानी जा सकतीं, जो दुर्दैव से विकलांग हो जाते हैं। कोई दृष्टिहीन, कोई गूँगा-बहरा तथा कोई अपंग हो जाने के बाद यदि अपने को मजबूर महसूस करे, तो इसमें उसे कौन दोषी ठहरा सकता है?

नि:संदेह, विकलांगता एक ऐसी स्थिति है जिसे अस्वीकार करना असंभव है, परंतु मनुष्य को प्रकृति की उत्कृष्टतम रचना इसीलिए कहा गया है कि उसके पास 'पुरुषार्थ' जैसा चमत्कार करनेवाला तत्त्व उपलब्ध है। दिव्य पुरुषार्थ से विकलांगता की बाधाएँ भी निमिषमात्र में धराशायी करने की सामर्थ्य मानव को मिली है।

एक महापुरुष को चिकित्सकों ने बतलाया कि उनके नेत्रों में ऐसी बीमारी है, जिसका इलाज संसार में उपलब्ध नहीं है। उनके नेत्रों में कोरोडाइटिस नाम की बीमारी हो गई थी, जिससे वे धीरे-धीरे दृष्टिहीन होते जा रहे थे। किसी चिंता से ग्रस्त होने के बजाय दृष्टि रहते उन्होंने ब्रेल (दृष्टिहीनों की भाषा) का ज्ञान अर्जित करना प्रारंभ कर दिया, जिससे जब दृष्टि जाए तो अपना समस्त कार्य ब्रेल के माध्यम से करते रहें। इलाज भी जैसा संभव था, साथ-साथ चलता रहा। दो वर्षों तक प्रतिदिन उन्हें आँखों में पेनिसिलीन का इंजेक्शन दिया जाता रहा, जिसकी प्रतिक्रिया से दाहिनी कलाई में भीषण दर्द और सूजन पैदा होने लगी। उनका दाहिना हाथ निष्क्रिय होने लगा, तो उन्होंने बाएँ हाथ से लिखने और काम करने का अभ्यास कर लिया। कोई भी परिस्थिति उनके अंदर तनिक भी चिंता न जगा सकी। सारांश यह कि हर बाधा उनके आगे स्वत: परास्त होती चली गई।

पुरुषार्थ के आगे विकलांगता कैसे पूर्णतया परास्त हो जाती है इसका संसार में सबसे ज्वलंत उदाहरण अमरीका की दिव्य महिला हेलन कैलर का है। पूर्व में दिए गए एक दृष्टांत में एक नवयुवक मात्र दूध और अच्छी खुराक के अभाव में व्यायाम न करने का निर्णय लेकर अपनी दुर्बलता से समझौता कर बैठा था। उसके विपरीत हेलन कैलर तो बाल्यावस्था में ही भयंकर ज्वर के प्रकोप से गूँगी-बहरी ही नहीं, दृष्टिहीन भी हो गई थी। इसके बावजूद उस बालिका ने हार न मानी और इन तीनों प्रमुख ज्ञानेंद्रियों के अभाव में अपने पुरुषार्थ से दिव्य शिक्ति का सृजन कर अपने जीवन के उद्देश्य को प्राप्त किया और एक विश्वविख्यात विभूति बनी। विदित है कि उस महान् बालिका ने अपने जीवन के दायित्व के समक्ष किसी भी परिस्थिति को 'अवरोध' मानने से साफ इनकार कर दिया था। तभी सारे अवरोध उसके रास्ते से दूर होते चले गए। वस्तुत: पुरुषार्थ की यही महिमा है।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर सड़क के खंभे की रोशनी में पढ़े और अपना निर्माण करके अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल हुए। विवेकानंद ने जब अमरीका की भूमि पर कदम रखा, तो वहाँ की कड़ाके की ठंड से बचने के लिए कपड़ों की तो बात दूर, खाने के भी पैसे उनके पास न थे। यदि बहानों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति के शिकार बन गए होते, तो आज ईश्वरचंद्र विद्यासागर, विवेकानंद, शिवाजी, महाराणा प्रताप, महात्मा गांधी तथा न जाने कितने महामानवों के नाम इस पृथ्वी पर उदय ही न होते। वे भी अन्य हजारों की तरह जीवन बिताकर गुमनाम मृत्यु की गोद में लीन हो गए होते।

परिस्थितियों से हार मानने की प्रवृत्ति जब तक व्यक्ति में पनाह पाएगी, तब तक उस व्यक्ति का अभ्युदय अवरुद्ध रहेगा। अत: जिस स्तर तक मनुष्य अपने शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक आलस्य से समझौता करता चला जाएगा, उसी स्तर तक उसमें पुरुषार्थ का भी उदय नहीं हो सकेगा।

पुरुषार्थ क्या है?

जीवन के अभावों के मिटने की राह देखनेवालों के अभाव न कभी दूर हुए हैं और न हो सकेंगे। अभाव मिटते हैं पुरुषार्थ से और पुरुषार्थ उदय होता है तब जब व्यक्ति के अंदर निम्नलिखित सात प्रवृत्तियाँ विद्यमान हों—

1. अविचल आत्म-विश्वास।
2. अपने लक्ष्य की सार्थकता में अडिग आस्था।
3. अपनी संकल्पशक्ति का भरपूर उपयोग।
4. अपने भवितव्य पर अटूट निष्ठा।
5. अंत:करण में अनंत उत्साह।
6. आलस्यरहित होना।
7. संपूर्ण सामर्थ्य तथा संपूर्ण कौशल से समस्त कार्यों को करने की प्रवृत्ति।

इन सातों गुणों में जो महत्त्व की बात है, वह यह कि ये सभी व्यक्ति के आंतरिक जगत् से संबंधित हैं। भौतिक परिस्थितियों से इनमें से किसी का कैसा भी सीधा नाता नहीं है। भौतिक परिस्थितयों का इनके साथ उतना ही नाता हो पाएगा, जितना नाता हमारी 'हार मानने' की प्रवृत्ति इनसे जोड़ने दे।

ये सभी सात गुण कैसे उदय होते हैं तथा इनका विकास कैसे होता है, उसे जानना आवश्यक है। क्रमवार उनकी विधियाँ निम्नलिखित हैं—

1. अविचल आत्मविश्वास—(क) प्रकृति द्वारा मनुष्य को दिए गए दसों अधिकारों का सतत प्रयेग करके तथा उनके दसों विलोमों का सर्वथा त्याग करके, सर्वप्रथम मनुष्य से मानव बनने से।

(ख) प्रत्येक मानव असीम एवं अद्वितीय शक्तियों का पुंज है। अपनी समस्त शक्तियों से परिचित होकर उनका सही अंकन करके, जिस भी शक्ति में जो कमी मिले, उसे सतत प्रयत्न करके पर्याप्त स्तर तक विकसित करने से।

(ग) इस बोध से कि सीमित उद्देश्यों की तो बात ही क्या है, मनुष्य शरीर तो असीमता प्राप्त करने तक के लिए सक्षम बनाया गया है। वह कभी मजबूर नहीं हो सकता।

2. अपने जीवन के भौतिक लक्ष्य की सार्थकता में अडिग आस्था—अपने जीवन के लक्ष्य की सार्थकता पर आस्था तभी अडिग होगी, जब वह लक्ष्य हमने परखे हुए सच्चे विवेक द्वारा सुनियोजित ढंग से, स्वयं निर्मित किया हो। किसी अन्य के द्वारा बताए गए लक्ष्य की सार्थकता पर आस्था अडिग बन सके, यह अस्वाभाविक ही नहीं, असंभव है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने जीवन के लक्ष्य को निर्धारित करते समय हम गुरुजनों अथवा अन्य जानकार व्यक्तियों की सलाह न लें। तात्पर्य केवल इससे है कि अपने संभावित उद्देश्य के बारे में जो भी जानकारी जहाँ से भी मिल सके, सब लें, बड़ों की तथा जानकार लोगों की सलाह भी पूरी लें, पर जब उसे निर्धारित करें तब वह निर्णय सब तरफ से सोचने के उपरांत स्वयं अपने ही विवेक से लिया जाए।

प्राय: ऐसा होता है कि यदि हम किसी नई जगह पर जा रहे हों और किंचित् शक होने पर किसी राहगीर से उस जगह का रास्ता पूछ बैठते हैं, तो राहगीर द्वारा बताए मार्ग पर तुरंत चल पड़ते हैं। एक अच्छे-खासे जानकार व्यक्ति द्वारा बताए मार्ग को छोड़ने में जरा भी नहीं हिचकते। इसके विपरीत हमें जहाँ जाना है, यदि उस मार्ग को

हमने स्वयं भली-भाँति देख-समझ रखा है, तो उस दशा में हमें उस मार्ग से कोई यदि भटकाना भी चाहे, तो भी हम बहुत विश्वास से उसकी सलाह अनसुनी करके अपने समझे हुए मार्ग पर अविचलित चलते रहेंगे। ठीक इसी तरह यदि हमने अपने जीवन का गंतव्य स्वयं सोच-समझकर निर्धारित किया है, तो उसकी सार्थकता में जो हमारी आस्था बनेगी, उसे कोई डिगा न सकेगा। अर्थात् जब कोई अपने विवेक से डॉक्टर या इंजीनियर बनना जीवन का लक्ष्य बनाएगा तो फिर आई.ए.एस. अथवा आई.पी.एस.वाले मार्ग उसे लुभा नहीं सकेंगे।

3. अपनी संकल्प शक्ति का भरपूर उपयोग—संकल्प शक्ति एक अद्‌वितीय शक्ति है, जो प्रकृति ने मनुष्य को इसलिए दी कि जो व्यक्ति असाधारण उपलब्धियों को प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प हो, उसे यह शक्ति स्वत: विपरीत परिस्थितियों को अनुकूल बनाकर अपने लक्ष्य तक पहुँचाए। इस शक्ति में व्यक्ति की नैतिक शक्ति के साथ आत्म शक्ति का भी योगदान होता है। इसीलिए इसकी सामर्थ्य असीम होती है। इसका भरपूर उपयोग तभी हो सकता है, जब व्यक्ति प्रात: उठने के उपरांत तथा रात में सोने से पहले अपने संकल्पों क स्मरण अवश्य करे। इसके अलावा दिन भर जितनी बार बन सके, अपने लक्ष्य तथा अपने संकल्प का स्मरण करके ऐसा अनुभव करे, मानो वह लक्ष्य उसे प्राप्त हो गया है। इस क्रिया से अपने जीवन-संग्राम में व्यक्ति अपनी नैतिक तथा आत्मिक शक्तियों का योगदान उपलब्ध करता है। संकल्प शक्ति में योगदान देनेवाले ये दोनों स्रोत इतने प्रचंड हैं कि इनके आगे विपरीत परिस्थितियाँ या अन्य भौतिक अवरोध, आँधी में तिनके की तरह उड़ जाते हैं। मनुष्य जाति की यह एक अजीब विडंबना है कि इतनी प्रचंड शक्तियों के अधिकारी होते हुए भी सामान्य जन इनका थोड़ा भी प्रयोग किए बिना अपना संपूर्ण जीवन गुजार लेते हैं। आम तौर पर लोग अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का ही प्रयोग करते हैं, जबकि संकल्प शक्ति के मुकाबले शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ उसी तरह हैं, जैसे बादलों की विशाल बिजली की चमक के समक्ष एक बिजली के बल्ब का प्रकाश।

जीवन-संग्राम में हर कदम पर विजयश्री मिले, हर प्रयास सफल हो, यह अनिवार्य नहीं है। जैसे महायुद्‌ध में कभी-कभी किसी मोर्चे पर हार देखनी पड़ती है, वैसे ही जीवन के किन्हीं प्रयासों में मनोवांछित सफलता नहीं मिलती। दृढ़ संकल्पवाले के लिए ऐसी असफलताएँ वरदान सिद्‌ध होती हैं, क्योंकि वह इनसे परेशान नहीं हो पाता, अपितु ठंडे दिमाग से उन असफलताओं के कारणों को ढूँढ़कर उनका उपचार करके अपने लिए सफलता का मार्ग प्रशस्त करता है। दो-चार मोर्चों पर हुई हार वास्तविक युद्‌ध में विजय प्राप्त होने के सामने अत्यंत तुच्छ अवरोध है। जो अपनी संकल्प शक्ति का भरपूर उपयोग करते हैं, उन्हें जीवन के युद्‌ध में विजयश्री न मिले, यह संभव ही नहीं। वास्तविकता तो यह है कि अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त होने से पहले काल भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता, क्योंकि संकल्प शक्ति का रिश्ता आत्मिक शक्ति के माध्यम से परम शक्तिमान से है, और काल परम शक्तिमान के अधीन होता है।

4. अपने भवितव्य पर अटूट आस्था—अपने भवितव्य पर अटूट आस्था तब बनती है, जब व्यक्ति अपनी समस्त शक्तियों से भली-भाँति परिचित होकर इस सत्य को अंगीकार करे कि प्रकृति की एक अप्रतिम रचना हूँ, जो पृथ्वी पर किसी विशेष उद्‌देश्य से रची गई है। मेरा पृथ्वी पर आना न तो अकारण ही है और न ही अकस्मात्। अपने विशेष लक्ष्य को प्राप्त करना ही मेरे जीवन का कारण है। मेरा कार्यक्षेत्र जो भी है, उसके कुछ सामान्य कर्तव्य हैं जो सभी करते हैं, पर उसी कार्यक्षेत्र में कुछ-न-कुछ असामान्य क्षमता से करना मेरे अस्तित्व का विशेष उद्‌देश्य है, जिसे केवल मुझे ही पूरा करना है। उस असाधारण क्षमता का ज्ञान अर्जित करने पर, और उसे पूरा करने के लिए कृतसंकल्प होने पर, अपने भवितव्य पर व्यक्ति की आस्था का अटूट हो जाना अनिवार्य है।

5. अंत:करण में अनंत उत्साह—अनंत उत्साह का उद्‌गम आत्मा है। यह तब उदय होता है, जब व्यक्ति अपने

कर्तव्यों को संपूर्ण सामर्थ्य और संपूर्ण कौशल से निभाता है। मनुष्य योनि में जन्म मिला है, तो हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य बनता है कि मनुष्य बनें, तदुपरांत अपने जीवन के उद्देश्य को भली-भाँति पहचानें और फिर उस उद्देश्य की पूर्ति में सतत लगे रहें। ऐसा होने पर एक अपूर्व आनंद जीवन का अभिन्न अंग बनता है और उसी आनंद से उदय होता है अनंत उत्साह। अनंत उत्साह ही जीवंतता होने का वास्तविक प्रमाण है।

6. आलस्यरहित होना— आलस्य शारीरिक हो, मानसिक हो अथवा नैतिक, इसका उद्गम तामसिक अहंकार में है। जब तामसिक अहंकार बढ़ेगा, तब आलस्य का बढ़ना अनिवार्य होगा। इसके विपरीत जब तामसिक अहंकर घटेगा, तो आलस्य का उसी अनुपात में घटना भी अनिवार्य है। तामसिक अहंकार दो विधियों से घटाया जा सकता है। एक तो तब, जब उसके आदेशों की अवहेलना की जाए, दूसरा तब, जब विवेक के आदेशों का पालन किया जाए। दूसरी क्रिया से विवेक बढ़ता है और जब विवेक बढ़ता है तो तामसिक अहंकार घटना अनिवार्य है। इस तरह विवेक को बढ़ाकर, तामसिक अहंकार का शमन करते हुए व्यक्ति समस्त प्रकार के आलस्यों से स्वत: मुक्त होता चला जाएगा।

7. अपने संपूर्ण सामर्थ्य और संपूर्ण कौशल से समस्त कार्यों को करने की प्रवृत्ति— प्रकृति का नियम है कि प्रत्येक प्राणी अपने सामर्थ्य भर संपूर्ण कौशल से अपना प्रत्येक कर्म करे। यह कोई अकस्मात् नहीं है कि मनुष्य को छोड़कर छोटे-से-छोटे कीटाणु से लेकर बड़े-से-बड़े जानवर तक अपने निर्धारित कर्मों को संपूर्ण सामर्थ्य से करते देखे जाते हैं। इसी से प्रमाणित होता है कि मनुष्य से भी, संपूर्ण कौशल से अपनी सामर्थ्य भर कर्म कराना प्रकृति द्वारा अपेक्षित है।

अत: पहले तो इसी सत्य को अंगीकार करने से इस सातवीं प्रवृत्ति का सृजन अंत:करण में स्वत: होने लगेगा।

जो इससे भी महत्त्व की बात है, वह यह कि मनुष्य के लिए तो कर्म वह सीढ़ी है जिसके माध्यम से मनुष्य पूर्णता प्राप्त करता है। कर्म की वास्तविक महिमा का ज्ञान अर्जित करना प्रत्येक मनुष्य के लिए अत्यंत आवश्यक है। उसका ज्ञान अर्जित करने पर सामर्थ्य भर, संपूर्ण कौशल से कर्म करने की प्रवृत्ति स्वत: प्रबल हो जाएगी, क्योंकि व्यक्ति यह पहचानने लगेगा कि अपने काम में कोताही करके, वह अन्य किसी के नहीं, स्वयं अपने ही जीवन पर सबसे भयंकर आघात करता है। वह यह जान लेगा कि जीवन में दिव्य कर्म करना इतने महत्त्व का नहीं होता, जितना अपने कर्म को दिव्यता से करना, अर्थात्—संपूर्ण कौशल से कर्म करने में ही जीवन की सार्थकता की कुंजी है। तब उसकी समझ में यह बैठ जाएगा कि संसार की निगाह में हेय-से-हेय कर्म भी यदि संपूर्ण सामर्थ्य, संपूर्ण कौशल से किया जाए, तो ऐसा करनेवाला, किसी भी दिव्यतम कर्म करनेवाले से कहीं श्रेष्ठ होगा जो उस दिव्यतम कर्म को संपूर्ण कौशल से नहीं कर रहा है।

यह प्रवृत्ति तब पूरी तरह जड़ पकड़ लेगी, जब मनुष्य जान जाएगा कि अपना अंकन संसार की निगाहों से करना एक ऐसी भयंकर भूल है कि जिससे उसका सारा जीवन ही नष्ट हो सकता है। क्योंकि अपना वास्तविक अंकन प्रकृति के नियमों के पालन के स्तर, तथा अपने परखे हुए विवेक के आधार पर करने में ही उसके वास्तविक अभ्युदय की कुंजी है। इन सारे सत्यों को अंगीकार करने पर प्रत्येक मनुष्य में स्वत: अपनी सामर्थ्य भर संपूर्ण कौशल से कर्म करने की प्रवृत्ति का उदय होना अनिवार्य है।

उपर्युक्त विधि से, पुरुषार्थ को अपने अंदर प्रबल बनाने के लिए जिन सात तत्त्वों की आवश्यकता होती है, उनहें सृजित करके तथा उन प्रवृत्तियों का विकास करके प्रत्येक व्यक्ति दिव्य पुरुषार्थ का अधिकारी बन सकता है। दिव्य पुरुषार्थ द्वारा ही दिव्य कर्म संभव होते हैं और दिव्य कर्मों से ही मनुष्य अपने तथा राष्ट्र के अभ्युदय को सुनिश्चित करता है।

पुरुषार्थ के बारे में दो प्रश्न और उठ सकते हैं, जिन्हें स्पष्ट करना वांछनीय होगा। प्रश्न हैं—

(1) यदि सभी लोग हार मानने की प्रवृत्ति पर विजय पा लें, तो क्या सबका पुरुषार्थ एक स्तर का हो जाएगा?

(2) संसार के बड़े-बड़े पुरुषार्थियों की जीवनियों से विदित होता है कि सबके पुरुषार्थ एक से न थे। ऐसा क्यों था?

प्रथम प्रश्न के उत्तर में केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि हार मानने की प्रवृत्ति वास्तव में पुरुषार्थ का प्रतिलोम है। उस पर विजय पा लेने से तो केवल व्यक्ति की उन्नति को अवरुद्ध करनेवाली शक्तियों पर प्रभावी प्रहार होता है। पर जैसे कोई ऋण से मुक्त हो जाए, तो रईस नहीं कहलाएगा; रईस कहलाने के लिए ऋणमुक्त होना तो आवश्यक है ही, पर उसके पास अतिरिक्त धन होना भी जरूरी है। 'हार मानने' की प्रवृत्ति को परास्त करने से केवल ऋण-मुक्त होने की दशा होती है। पुरुषार्थी होने के लिए धन के रूप में उन सात प्रवृत्तियों को विकसित करना ही पड़ेगा, तभी व्यक्ति पुरुषार्थ-रूपी धन का अधिकारी बनेगा।

फिर भी मनुष्य के संदर्भ में इतना अवश्य है कि कोई भी मानवीय प्रवृत्ति किसी भी मनुष्य में शून्य नहीं होती। अर्थात् इन सातों प्रवृत्तियों का कुछ-न-कुछ मात्रा में प्रत्येक मनुष्य में होना अनिवार्य है। इससे विदित है कि हर मनुष्य में किसी-न-किसी स्तर का पुरुषार्थ जन्मजात उपलब्ध रहता है, पर हार मानने की प्रवृत्ति से ग्रस्त होने पर वह उस पुरुषार्थ से भी हाथ धो बैठता है। इसके विपरीत इस ऋणात्मक प्रवृत्ति से मुक्त हो लेने पर हर व्यक्ति कम-से-कम अपने जन्मजात पुरुषार्थ को तो सक्रिय कर सकता है।

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सवाल है, तो यह सत्य है कि शिवाजी, महाराणा प्रताप, नैपोलियन, सम्राट अशोक, कोलंबस, अकबर तथा इस काल के हेनरी फोर्ड, रॉकफेलर, हिटलर, चर्चिल, आइन्सटाइन आदि सरीखे भिन्न-भिन्न महापुरुषों में से भिन्न-भिन्न स्तरों के पुरुषार्थों का प्रमाण मिला। साथ ही यह भी सत्य है कि आदि शंकराचार्य, ईसा मसीह, हजरत मुहम्मद, महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, गुरु नानक, गुरु गोविंदसिंह, विवेकानंद, महात्मा गांधी सरीखे महामानवों में अनंत पुरुषार्थ होने के भी प्रमाण मिले।

अत: इस प्रश्न को दो भागों में विभाजित करना पड़ेगा, तभी स्थिति स्पष्ट हो सकेगी।

पहला यह कि पुरुषार्थों में भिन्नता का कारण क्या है? तथा दूसरा यह कि दिव्य पुरुषार्थ और अनंत पुरुषार्थ में क्या अंतर है तथा वह अंतर क्यों है?

पुरुषार्थों में अंतर का रहस्य कोई बहुत गहन नहीं है। आत्मविश्वास, उद्देश्य में आस्था, संकल्पशक्ति, भवितव्य पर निष्ठा, अंत:करण में उत्साह, निरालस्यता तथा संपूर्ण सामर्थ्य और कौशल से कार्यों को करने की प्रवृत्ति, इन सातों गुणों के स्तरों में जब अंतर होगा, तो उन व्यक्तियों के पुरुषार्थों में भी तदनुसार अंतर होना अनिवार्य है।

निष्ठा, विश्वास, आस्था, उत्साह तथा प्रवृत्ति मनुष्य के आंतरिक जगत् में बसनेवाले तत्त्व हैं। अत: यह सभी अल्प मात्रा से लेकर असीम मात्रा तक विद्यमान होने की संभावनाओं से युक्त हैं। इसीलिए इन सातों के स्तरों में अंतर बड़ा भी हो, यह नितांत स्वाभाविक है।

यह अंतर तो धनात्मक होता है। इसी तरह इन समस्त गुणों में एक बहुत बड़ा गुणात्मक अंतर भी होता है जो दूसरे प्रश्न के उत्तर से स्पष्ट होगा। इस तरह विभिन्न महापुरुषों के पुरुषार्थ में धनात्मक तथा गुणात्मक दोनों अंतरों के कारण असीम प्रकार का अंतर पाया जाता है।

दूसरे प्रश्न का रहस्य समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि पुरुषार्थ वह आठवाँ तत्त्व है, जो तब उदय होता है, जब उपर्युक्त सातों गुण किसी व्यक्ति में विद्यमान हों। स्वयं पुरुषार्थ तथा उपर्युक्त सातों गुण अंतर्जगत् से

संबंधित हैं। अंतर्जगत् में उदय होनेवाले सभी तत्त्व केवल दो ही स्रोतों से उदय हो सकते हैं—या तो अहंकार से या फिर आत्म-तत्त्व से।

रहस्य की बात यह है कि रचयिता ने अहंकार तथा आत्म-तत्त्व दोनों को ही इस प्रकार की सारी प्रेरणाओं का सृजन करने की शक्ति प्रत्यक्षत: समान रूप से दे रखी है। इसी वजह से संसार में अनेक भ्रांतियाँ रही आई हैं। यही कारण है कि लोग एक डाकू के पुरुषार्थ की सराहना भी उसी प्रकार करने में नहीं हिचकते, जैसे वे शिवाजी अथवा महाराणा प्रताप की करते हैं। उनका सोचना है कि आखिर पुरुषार्थ तो पुरुषार्थ है, वह जिस किसी में हो, सराहनीय गुण ही होना होगा। इसी तरह एक आत्मविश्वास हिटलर का था, दूसरा चर्चिल का। एक आत्मविश्वास एक तस्कर में होता है, एक आत्मविश्वास एक्साइज विभाग के अधिकारियों में, एक आत्मविश्वास गांधीजी में था, तो एक विवेकानंद में। अविचल आत्मविश्वास एक परम गुण है। तो क्या यह मान लिया जाए कि तस्कर के आत्मविश्वास से लेकर विवेकानंद के आत्मविश्वास तक सारी ही विभूतियों के आत्मविश्वास एक से थे? अथवा समान रूप से प्रशंसनीय हैं? यदि नहीं, तो उनमें भेद कहाँ है? तथा उस भेद का आधार क्या है? इसी तरह अपने लक्ष्य में आस्था एक बड़े हत्यारे की, गावस्कर की, रविशंकर की, गांधीजी की तथा विवेकानंद आदि विभूतियों की समान रूप से अडिग रही होगी, क्योंकि यदि यह न होती, तो वे अपने लक्ष्य को किसी हालत में प्राप्त नहीं कर सकते थे। तो इन सबकी आस्थाओं में अंतर कहाँ है? क्या है?

विभिन्न पुरुषार्थों में भेद किस प्रकार का है तथा क्यों है? इसका रहस्य जानने के लिए इस बात का विश्लेषण करना होगा कि हमारा पुरुषार्थ हमारे आंतरिक जगत् के किस अंश से उदय हो रहा है। जानकारी बहुत आसानी से तब प्राप्त हो जाती है, जब हम यह पहचान लें कि हमारे पुरुषार्थ का लक्ष्य क्या है? वह किस नीयत से प्रेरित है? यदि लक्ष्य किसी स्पष्ट भौतिक कारण को निगाह में रखकर निर्धारित किया गया है, तो जो भी पुरुषार्थ उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए क्रियाशील होगा, वह निश्चय ही हमारे अहंकार से उदय होगा। ऐसा पुरुषार्थ कितना ही दिव्य क्यों न हो, अंतहीन नहीं हो सकता। इसके विपरीत जब किसी व्यक्ति का पुरुषार्थ केवल आत्म-तुष्टि के लिए उसे क्रियाशील बनाता है, तब मानना होगा कि उस पुरुषार्थ का उद्गम आत्मा में है। आत्मा से उदय होनेवाला पुरुषार्थ अनंत होता है। इसीलिए उस पुरुषार्थ में अनंत शक्ति होती है। ऐसा पुरुषार्थी अपनी आत्मा की उस पुकार को पूरा किए बिना न तो रुक सकता है और न रोका जा सकता है। दृष्टांत के लिए संत तुलसीदास ने 'रामायण' की रचना 'स्वांत: सुखाय' की थी अर्थात्—केवल अपनी आत्मा की तुष्टि के लिए रची गई। संसार जानता है कि इतने दिव्य ग्रंथ की रचना एक अपौरुषेय उपलब्धि थी और उसकी रचना अनंत पुरुषार्थ के बिना संभव भी नहीं थी। इसी तरह आदि शंकराचार्य, ईसा मसीह, हजरत मुहम्मद, महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, गुरु नानक, गुरु गोविंदसिंह, विवेकानंद, श्रीअरविंद, रामकृष्ण परमहंस सरीखे सभी महामानवों की गतिविधियाँ 'स्वांत: सुखाय' से प्रेरित थीं। उन्होंने जो कुछ भी किया, संपूर्ण ब्रह्मांड की किसी भी शक्ति से न रोकी जा सकनेवाली अपनी आत्मा की पुकार से प्रेरित होकर, अपनी आत्मा की तुष्टि के लिए ही किया। उनकी क्रियाशीलता का अन्य कोई भी कारण न था। ऐसे महामानवों की गतिविधियों से संसार के लाखों-करोड़ों मनुष्यों का कल्याण निस्संदेह हुआ, परंतु यह उपलब्धि उनके जीवन की गतिविधियों का उद्देश्य न थी, अपितु एक उपफल मात्र थी—एक बाइप्रोडक्ट थी। जो कुछ ऐसे महामानवों ने किया, वह अनंत पुरुषार्थ द्वारा ही संभव था और अनंत पुरुषार्थ केवल आत्मा से ही उदय होता है। अनंत पुरुषार्थ घटता-बढ़ता नहीं और न विपरीत परिस्थितियों से यह किंचित् भी प्रभावित होता है। इसके अतिरिक्त अनंत पुरुषार्थवाला जीव न तो प्रशंसा का मोहताज होता है और न उस पर निंदा का कोई प्रभाव पड़ता है, क्योंकि जो कुछ वह करता है, वह कारणरहित, केवल आत्मा की तुष्टि के लिए करता है, अत: ऐसे व्यक्तियों के जीवन के

संबंध में सफलता या असफलता जैसे शब्द नहीं जोड़े जा सकते। सफलता या असफलता तो केवल सीमित भौतिक उद्देश्यों के संदर्भ में प्रयोग किए जानेवाले शब्द हैं। आत्म-तुष्टि में स्थित रहना एक असीमित उद्देश्य है, अत: सफलता या असफलता सरीखे शब्द ऐसे महामानवों के संदर्भ में बेमानी हो जाते हैं।

अब प्रश्न केवल अहंकार से उदय होनेवाले पुरुषार्थ के विश्लेषण का रह जाता है।

अहंकार स्वयं तीन रूप धारण करने की क्षमता रखता है—

1. तामसिक, 2. राजसिक तथा 3. सात्विक।

अत: स्वाभाविक है कि अहंकार से उदय होनेवाला पुरुषार्थ भी इन्हीं तीन गुणों से क्रमश: युक्त होगा। इसकी पहचान करना कि व्यक्ति किस पुरुषार्थ के अधीन क्रियाशील है, हमें पुन: नीयत को आधार मानकर विश्लेषण करना होगा। अर्थात्—कोई कर्म किस नीयत, किस लक्ष्य से पे्रिरित होकर किया जा रहा है।

अत: उसी आधार पर—

(1) जब कोई व्यक्ति डाका, हत्या अथवा अन्य जघन्य काम करने के लिए उद्यत होता है, अथवा ऐसा कृत्य जो शाश्वत मान्यताओं के प्रतिकूल हो, किसी भी प्राणी के लिए अहितकर हो, बदले की भावना से युक्त हो, क्रोधावेश में हो, ईर्ष्या अथवा द्वेष के आवेश में हो, काम या लोभ के आवेश में हो, अपमान अथवा आलोचना का बदला लेने के लिए हो, अधैर्य के कारण हो अथवा विनाश या अकल्याण के लिए हो, उस अवस्था में जो पुरुषार्थ उदय होता है, वह अहंकार के तामसिक अंश से उदय होता है। इससे स्पष्ट हो जाएगा कि डाकुओं, हत्यारों तथा अन्य जघन्य कृत्य करनेवालों में जो पुरुषार्थ सक्रिय होता है, वह तामसिक पुरुषार्थ है और तामसिक पुरुषार्थ हर काल में, हर देश में, हर समाज में सर्वथा निंदनीय माना गया है। तामसिक पुरुषार्थ को राजसिक, सात्विक या आत्मा से उदय होनेवाले अनंत पुरुषार्थ के समकक्ष समझना कितनी बड़ी भूल होगी, अब संभवत: स्पष्ट हो गया होगा।

(2) जब कोई अपनी शारीरिक, मानसिक अथवा कलात्मक सामर्थ्य का विकास करके खेल-कूद के मैदान में, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अथवा कला एवं ललित कलाओं के क्षेत्र में, उत्पादन अथवा आविष्कारों के क्षेत्र में, दिव्य बनने के उद्देश्य से या राजनीति, शासन या फिर धन, वैभव, यश, ख्याति, साम्राज्य आदि अर्जित करने के उद्देश्य से अथवा किसी भी प्रकार के अपने कल्याण हेतु क्रियाशील होता है, तो उस अवस्था में जो पुरुषार्थ उसे प्रेरणा और शक्ति देता है, उसका उद्गम राजसिक अहंकार में है। अत: वह राजसिक पुरुषार्थ होता है। पाषाण युग से आज तक अनेकानेक क्षेत्रों में मानव ने जो प्रगति की है, भौतिक, तकनीकी तथा विज्ञान आदि क्षेत्रों में जो भी कुछ सृजित किया गया है, वह राजसिक पुरुषार्थ से ही संभव हुआ है। सामान्य जन के लिए राजसिक पुरुषार्थ सब तरह से वांछनीय है। यथार्थ तो यह है कि किसी भी राष्ट्र की शक्ति, देशवासियों के राजसिक पुरुषार्थ के औसत से आँकी जाए, तो गलत न होगा।

(3) जब कोई लोकहित अथवा दूसरों के कल्याण अथवा परदु:ख हरने के उद्देश्य से क्रियाशील होता है, तो उस अवस्था में जो पुरुषार्थ उसे प्रेरणा और शक्ति देता है, वह सात्विक पुरुषार्थ होता है।

जब किसी में राजसिक अथवा सात्विक पुरुषार्थ बृहद् रूप धारण करता है और व्यक्ति को क्रियाशील बनाता है, तो वही संसार में महापुरुष स्वीकार किया जाता है।

पुरुषार्थ तामसिक हो, राजसिक हो, अथवा सात्विक, सभी अहंकार से उदय होनेवाले पुरुषार्थ हैं। अहंकार से उदय होनेवाला पुरुषार्थ घटता-बढ़ता है। यह एक स्तर पर नहीं रहता। अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर बढ़ना तथा प्रतिकूल परिस्थितियाँ आने पर घटना इसका स्वभाव है। पर मनुष्य के पास संकल्पशक्ति वह दिव्य शक्ति है जिससे

प्रतिकूल परिस्थितियों को क्षीण ही नहीं, बल्कि उन्हें अनुकूलता में परिणत किया जा सकता है। अहंकार से जनित होने के कारण इस पुरुषार्थ को प्रशंसा अत्यंत प्रिय लगती है तथा निंदा से यह क्षुब्ध होता है। अहंकार से उदय होनेवाला पुरुषार्थ विशुद्ध तामसिक, राजसिक अथवा सात्विक हो सके, यह अत्यंत दुर्लभ है। संसार में इनका मिश्रित रूप ही देखने को मिलता है। इन तीनों में से कौन प्रधानता लिए हुए है, यह व्यक्ति की नीयत तथा आचरण से विदित हो जाता है।

इतना ही नहीं, आरंभ में अहंकार के किसी भी अंश से पुरुषार्थ का उदय क्यों न हुआ हो, प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान होने पर अपने राजसिक पुरुषार्थ को राष्ट्रहित में परिणत करके उससे दिव्यता प्राप्त कर सकता है। जीवन के किसी भी काल में न्याय के, सत्य के या दु:खी मनुष्यों की सेवार्थ अपने राजसिक पुरुषार्थ को मोड़कर सात्विक पुरुषार्थ में परिणत कर सकता है। महापुरुष महामानव बनकर अपनी कीर्ति जब चाहे तब अमर कर सकता है।

यह एक विचित्र यथार्थ है कि दरिद्रता का धन से कोई संबंध नहीं है। दरिद्रता दूर होती है केवल पुरुषार्थ से। दिव्य पुरुषार्थ रूपी सूर्य के रहते दरिद्रता का अँधेरा पास नहीं फटक सकता। आज भारत के सभी राजनीतिक दल दावा करते हैं कि वे इस देश की गरीबी को दूर कर देंगे। उनका यह दावा संभवत: उनकी उस मनोकामना का प्रतीक है कि वे इस देश से गरीबी दूर होते देखना चाहते हैं। वास्तविकता यह है कि इस देश की गरीबी कोई भी व्यक्ति-विशेष अथवा दल-विशेष दूर कर ही नहीं सकता। देश की गरीबी तभी दूर होगी, जब देश का हर नागरिक संपन्न होगा और संपन्नता लाने का एकमात्र माध्यम है हर व्यक्ति का स्वयं का पुरुषार्थ। जब तक देश का बाहुल्य नागरिक पुरुषार्थी नहीं बनेगा, तब तक इस देश की गणना संपन्न देशों में होना संभव नहीं है।

एक चेतावनी

पुरुषार्थ के उदय होने पर अहंकार का बढ़ना अनिवार्य है। साथ ही, यह भी अनिवार्य है कि यदि व्यक्ति ने अपने अहंकार को नियंत्रण में नहीं रखा, तो वह अहंकार उसे फिर विनाश की ओर ले जाएगा। अत: जब पुरुषार्थ के चमत्कार से उपलब्धियों का अंबार लगना शुरू हो, तो जैसे-जैसे व्यक्ति सफलता के फलों को प्राप्त करता जाता है, उसे अपने अहंकार को नियंत्रण में रखना अपरिहार्य हो जाता है। ऐसा न करने पर उसके पराभव को कोई नहीं रोक सकेगा। अहंकार पर प्रभावी नियंत्रण के लिए केवल दो काम करने होंगे। पहला तो हृदय से स्वीकार करें कि सारी सफलता का एकमात्र कारण प्रभुकृपा है, अत: सारे फल उसी को मन से समर्पित करते रहें। दूसरा यह कि राष्ट्र-शक्ति की वृद्धि तथा मानव-सेवा के संदर्भ में विशाल-से-विशाल उपलब्धियों को लघु ही मानते रहें। ऐसा करने से व्यक्ति कभी पराभव को प्राप्त नहीं हो सकेगा।

अत: माँ भारत का कहना है कि—

''ऐ मेरे बेटे! तुम्हारी दीन दशा का, तुम्हारे दारिद्र्य का जिम्मेदार तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है। यदि तर्क के लिए यह मान भी लिया जाए कि अमुक व्यक्ति या अमुक दल तुम्हारे दारिद्र्य का जिम्मेदार है और उसके इस भयंकर अपराध के लिए मैं उन सबको फाँसी पर लटका दूँ, तो क्या तुम्हारी दरिद्रता दूर हो जाएगी? दरिद्रता का भौतिक परिस्थितियों से कोई संबंध नहीं है। बड़े संपन्न व्यक्ति के पूर्वज किसी काल में अत्यंत दरिद्र रहे, पर उन्हीं में से कोई ऐसा पुरुषार्थी निकला, जिसने अपने दारिद्र्य को संपन्नता में परिणत कर लिया। दारिद्र्य दूर होता है पुरुषार्थ से और पुरुषार्थ का उदय होता है अपने अंदर आत्मविश्वास से, अपने जीवन के लक्ष्य की सार्थकता में आस्था से, अपनी संकल्पशक्ति का भरपूर उपयोग करने से, अपने भवितव्य पर निष्ठावान होने से, अपने अंदर अनंत उत्साह का सृजन करने से, निरालस्य से तथा जो कुछ भी इस क्षण तेरे करने के लिए है उसे अपनी सामर्थ्य भर संपूर्ण

कौशल से करने से। ये सारे गुण अंतर्जगत् में सर्जित होते हैं। इनमें से प्रत्येक गुण कैसे सर्जित होता है, उसकी विधि से तुझे मैंने अवगत करा दिया है। मेरे बेटे! अब तनिक भी और विलंब न कर! उठ और अपने अंदर दिव्य पुरुषार्थ का सृजन करके, अपनी दीनता, अपने दारिद्र्य से सदा के लिए अपने को मुक्त कर। किसी भी झूठी आशा में फँसकर अपने को भुलावे में रखने की गलती भूलकर भी न करना। तेरा दारिद्र्य तेरे पुरुषार्थ के अतिरिक्त अन्य कोई भी दूर नहीं कर सकता। पुरुषार्थहीन की लॉटरी भी निकल आए, तो उसे पुनः दरिद्र हो जाने में समय नहीं लगता। सब झूठी आशाओं को त्यागकर अपने भाग्य का निर्माता स्वयं बन। अपने हर पुत्र को दिव्य पुरुषार्थ से युक्त होता देखने के लिए कब से मेरी आँखें तरस रही हैं। एक समय था, जब मेरे आँचल में इतने महामानव और महापुरुष रहते थे कि सारा संसार मुझे विस्मय से देखता था। ऐ वत्स! तुझे मेरी सौगंध है! मुझे एक बार फिर उसी गरिमा, उसी गौरव के शिखर पर पहुँचा दे। फिर से मुझे विश्व के राष्ट्रों का मार्गदर्शक बना दे। ऐसा करना तेरे, हाँ, केवल तेरे ही हाथ में है।''

❑

मानव परिस्थितियों की कठपुतली है या उनका निर्माता?

एक बार छात्रों की एक सभा में 'जीने की कला' संबंधी विचार प्रस्तुत कर रहा था कि सहसा एक युवा छात्र ने अपने मन की शंका रखते हुए कहा—

''जीवन के उद्देश्य निर्धारण के संबंध में ऐसा बताया गया, मानो सबकुछ हमारे हाथ की बात है। पारिवारिक परिस्थितियाँ, गरीबी के अनगिनत अभाव तथा अनेक मजबूरियाँ, इन सबकी मानो कोई गणना ही नहीं है, आखिर इनसान अपने सितारों से भी तो बँधा होता है। कोई भी अपनी किस्मत को कहाँ ले जा सकेगा?''

उस निर्मल-हृदय युवक ने कोई मिथ्या बात नहीं कही। उसने तो उस दिन तक जो देखा-सुना था, उसे ही व्यक्त किया था। पूछने पर इतना तो पता चला कि उसने अपने जीवन की कोई योजना नहीं बनाई थी, क्योंकि वह एक अत्यंत दीन-हीन परिवार में जन्मा था। संभवत: उसके सामने कई दृष्टांत ऐसे व्यक्तियों के थे जिनकी जीवन-नैया उन तीन चट्टानों से टकराकर टूटी थी, जिनके नाम हैं—

1. परिस्थितियाँ, अभाव, गरीबी, मजबूरियाँ, किसी सिफारिश का न होना।
2. भाग्य, प्रारब्ध, नक्षत्र एवं नवग्रहों का प्रभाव।
3. दैवी निर्णय अथवा प्रभु की इच्छा जिसके आगे किसी का वश नहीं चलता।

साम्यवादी चिंतकों ने भगवान् को 'अफीम' की संज्ञा दी है। स्वयं भगवान् कब, क्यों और कैसे सत्य में अफीम बन जाता है, इसे समझना बहुत आवश्यक होगा। सच तो यह है कि इस संदर्भ-विशेष में केवल भगवान् ही अफीम की गोली नहीं है, उपर्युक्त तीनों ही वास्तव में अफीम की गोली के अलावा कुछ नहीं हैं।

जो निर्बल होते हैं, वे थोड़े से प्रयासों के बाद ही हार मानकर बैठ जाते हैं। हार होने पर फिर उस असफलता की जिम्मेदारी शीघ्रातिशीघ्र अपने अलावा कहीं भी अन्यत्र रखना उनके लिए बहुत जरूरी हो जाता है। यदि ऐसा न करें, तो वे अपनी नजरों में गिर जाएँगे और उनका जीना मुश्किल हो जाएगा। वास्तव में उनमें तीन प्रमुख कमियाँ विद्यमान होती हैं—पहली यह कि वे अपनी कमियों को स्वीकार करना तो दूर, देखने तक के लिए तैयार नहीं होते। दूसरी यह कि असफलता की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेना उनके लिए संभव ही नहीं होता और तीसरी जो वास्तव में इन दोनों कमियों का मूल है, वे अपनी एक काल्पनिक छवि बनाए होते हैं और उसे बिगड़ता देखना उनके लिए असहनीय होता है, इसीलिए वे जीवन के यथार्थों को भी अनदेखा करने के अभ्यस्त से हो जाते हैं। ऐसी मनोवृत्ति होने के कारण बजाय इसके कि अपनी असफलता से सबक लें, वे 'परिस्थितियाँ एवं मजबूरियाँ तथा सिफारिश न होनेवाली' पहली अफीम की गोली खाकर अपनी असफलता की वेदना से मुक्त होने का प्रयास करते हैं। जब इससे उन्हें पूरी तरह चैन नहीं मिल पाता, तो 'भाग्य तथा नक्षत्रों' रूपी दूसरी गोली का सेवन करते हैं। ''मेरे भाग्य में नहीं था'', ऐसा कहकर संतुष्ट होने का प्रयास करते हैं। और जब इससे भी चैन नहीं मिल पाता, तब 'भगवान' रूपी तीसरी अफीम की गोली खाकर कह उठते हैं, ''मुद्दई लाख चाहे, तो क्या होता है, वही होता है जो मंजूरे खुदा होता है।'' यह भगवान् का ऐसा घोर दुरुपयोग है, जिसकी कल्पना कभी भगवान् भी स्वयं न कर पाए होंगे। वास्तव में खुदा, जो स्वयं समस्त शक्तियों का स्रोत है, जो परिस्थितियों को बदल देनेवाले पुरुषार्थियों का एकमात्र आधार-स्तंभ है, जब इस रूप में समझा गया, तभी साम्यदर्शनवादियों ने उसे अफीम की संज्ञा से संबोधित किया।

मानव को परिस्थितियों के हाथ की कठपुतली माननेवालों को केवल एक प्रश्न का उत्तर देना होगा, उसी उत्तर में पुरुषार्थ के महत्त्व का दर्शन अनायास होने लगेगा।

प्रश्न केवल इतना है कि यदि मानव परिस्थितियों की कठपुतली है, तो वह पाषाण युग की सभ्यता से किस प्रकार उबरा और आगे बढ़ा? जिन विषम परिस्थितियों में पाषाण युग का मनुष्य जीता था, यदि हजारों वर्षों पहले हमारे पूर्वज उन परिस्थितियों से हारकर बैठ जाते, तो हम आज भी उसी रूप में रहते। आखिर, मनुष्य को छोड़कर समस्त चराचर जगत् आज भी उसी स्थिति में है, जिसमें वह हजारों वर्ष पहले था। मनुष्य को भी फिर उसी हाल में बना रहना चाहिए था।

मन और बुद्धि की शक्ति को वश में करनेवाले मानव ने सभ्यता को उस शिखर पर लाकर रख दिया है कि यदि किसी चमत्कार से पाषाण युग तो दूर, केवल पिछली शताब्दी का ही मनुष्य आज जीवित हो जाए, तो वह पहचान भी नहीं पाएगा कि वह कहाँ आ गया है।

समस्त विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि मानव परिस्थितियों की कठपुतली कभी नहीं था, वरन् उसने अपने विवेक, बुद्धि और पुरुषार्थ से चमत्कारिक परिस्थितियों का निर्माण किया और मनुष्य जाति के सर्वतोन्मुखी विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

मानव परिस्थितियों का गुलाम अथवा परिस्थितियों के हाथ की कठपुतली तब तक नहीं बन सकता, जब तक वह स्वयं ही आत्म-समर्पण न करे। इतिहास हमें सिखाता है कि आदिकाल से मानव अपनी परिस्थितियों का निर्माण करने की क्षमता रखता रहा है, तो आज के मानव में क्या उस क्षमता का लोप हो गया है?

अपने आत्म-समर्पण की ग्लानि से बचने के लिए तथा आत्म-निरीक्षण करके अपनी जर्जर छवि की स्वीकृति से बचने के लिए ही आज के युग में यह विचारधारा प्रचलित की गई कि मानव बेचारा परिस्थितियों का शिकार है। वस्तुत: मानव न कभी बेचारा था, न बेचारा है और न बेचारा हो सकता है।

अपनी दुर्बलता, अपनी कुरूपता को देखने का साहस हर पुरुषार्थी मनुष्य को करना अनिवार्य है। कुरूपताओं, निर्बलताओं के ऊपर 'मजबूरियों' की चादर डालकर उस कुरूपता को ढकना अपने को ही धोखा देना है। इससे बड़ा आत्मघात और कुछ नहीं हो सकता। सच तो यह है कि अपनी कुरूपता का पूर्ण ज्ञान होना ही अपने को सुंदर बनाने के क्रम का पहला चरण है। दूसरी बात यह है कि असफल होना कोई पाप नहीं है। संसार की बड़ी-से-बड़ी विभूतियों को भी असफलताएँ मिली हैं। अंतर केवल इतना रहा कि उन्होंने अपनी असफलताओं का कारण केवल अपने ही अंदर ढूँढ़ा और उसे दूर करने का पुरुषार्थ किया। बुद्धिमान पुरुषार्थी मानवों ने खिलाफ चलनेवाली हवाओं से भी अपने जहाजों को अपनी इच्छानुसार दिशा दी और उन विपरीत हवाओं को भी अपने उत्थान, अपनी प्रगति के लिए उपयोग किया। कोई परिस्थिति ऐसी नहीं है जिससे हर व्यक्ति अपने विवेक, अपनी बुद्धि की शक्ति द्वारा लाभ न उठा सके, उस परिस्थिति के वेग को अपने अनुकूल न बना सके।

वास्तव में कमी है संकल्प की, शक्ति की, लक्ष्य की, आत्म-विश्वास की, विचारशीलता की, लगन की तथा उत्साह की। हमें सर्वप्रथम इन्हीं कमियों को दूर करना होगा। इनके दूर होने पर परिस्थितियाँ स्वत: निर्मित होने लगेंगी।

कोई यह पूछ सकता है कि फिर क्या किस्मत जैसी कोई चीज नहीं होती?

किस्मत वास्तव में क्या है, इसे पहचानना आवश्यक है। कभी-कभी देखने में आता है कि एक व्यक्ति बहुत ही कम मेहनत करके बहुत बड़ी सफलता पा लेता है और कोई दूसरा अत्यंत परिश्रम के बाद भी बहुत छोटी सी सफलता का मुख देखता है। इसे ही आम तौर पर कहा जाता है कि अंतर भाग्य का है। पर वास्तविकता क्या है? तर्क के लिए यदि मान लिया जाए कि भाग्य कोई चीज होती है, तो स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति को, जिसकी किस्मत खराब है, वह फल प्राप्त नहीं हो सका, जो उसे मिलना चाहिए था, और जिसकी किस्मत अच्छी है उसे वह फल

मिल गया, जो उसे कायदे से नहीं मिलना चाहिए था अर्थात्, अकारण किसी को जो चीज नहीं मिलनी चाहिए थी वह मिल जाए और जिसको जो चीज मिलनी चाहिए, अकारण न मिल पाए। अब एक बार सारी सृष्टि पर दृष्टिपात कर के कोई इतना भर बता दे कि प्रकृति में कहीं भी, कुछ भी अकारण घटित हुआ है या हो रहा है? यदि नहीं, तो फिर सफलता अथवा असफलता का भी अकारण घटित होना असंभव है।

स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि आखिर फिर श्रम के अनुरूप फल न मिलने का कारण क्या है?

'कारण और परिणाम' के अपवादरहित विधान के अनुसार किसी की अल्प सफलता तथा किसी की असाधारण सफलता का कारण वे व्यक्ति स्वयं ही हो सकते हैं। किसी बाह्य तत्त्व का इसमें किसी भी तरह का योगदान संभव नहीं है। अत: जिसे 'भाग्य' के नाम से जाना जाता है, वह कुछ अन्य नहीं है, केवल पूर्व काल में किया गया 'पुरुषार्थ' है अथवा पुरुषार्थ का अभाव है। कर्म और पुरुषार्थ दोनों ही व्यक्ति के अधीन हैं, अत: भाग्य पूर्व में किए गए कर्म एवं पुरुषार्थ के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। भाग्य का अलग अपना कोई अस्तित्व संभव ही नहीं।

यहाँ यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि 'फल' केवल दिखनेवाले प्रयासों पर आश्रित नहीं होता। लोग जिसे भाग्य का अंतर कहकर अपनी असफलता का विश्लेषण भी नहीं करते, उन्हें शायद यह नहीं मालूम कि सफलता के पीछे और किन-किन तत्त्वों का योगदान होता है। निस्संदेह सारे ही तत्त्व व्यक्ति-विशेष के अपने पुरुषार्थ के अंग हैं। सफलता में जिन तत्त्वों का योगदान होता है, वे हैं—

1. लक्ष्य के साथ व्यक्तित्व के एकीकरण का स्तर।
2. संकल्प-शक्ति का स्तर।
3. स्वयं व्यक्तित्व की शक्ति का स्तर, जो उसकी चारित्रिक शक्ति के सीधे अनुपात में होती है।
4. आत्म-विश्वास का स्तर।
5. उत्साह का स्तर।
6. प्रयास करते समय एकाग्रता अथवा तन्मयता का स्तर।
7. विषय के ज्ञान का स्तर।
8. लगन अथवा प्रयास करने का स्तर।
9. अहंकार-विहीनता का स्तर।

इन नौ तत्त्वों में से केवल एक, अर्थात् प्रयास करने का स्तर ही बाह्य जगत् को दिखता है और केवल इस एक पहलू को देखकर लोग प्राय: निर्णय दे देते हैं कि अमुक ने मेहनत तो बहुत की, पर उसका भाग्य ही खोटा था जो उसे सफलता नहीं मिली, अथवा अमुक कितना भाग्यशाली निकला कि उसे बिना मेहनत किए अमुक सफलता हाथ लग गई। उन्हें क्या पता कि सफलता के मूल में कितने तत्त्वों का योगदान अनिवार्य है। अत: जिसे भाग्य कहा गया है, वह वे बाकी आठ तत्त्व हैं जिनके योग से हर प्रयास सफल बनाया जा सकता है, शर्त केवल इतनी है कि उन सभी तत्त्वों को पर्याप्त स्तरों तक व्यक्ति अपने में सर्जित कर ले।

अपनी कमियों को समझने में जो असमर्थ रहते हैं, वे व्यक्ति ही अपने को धोखा देकर अपनी अल्प सफलता का कारण किस्मत के नाम मढ़ते हैं और भाग्य को अपने दु:ख और दारिद्र्य का जिम्मेदार ठहराकर अपने को और सामर्थ्यवान बनाने के लिए अपेक्षित परिश्रम से बचा ले जाते हैं। सत्य तो यह है कि समाज तथा स्वयं अपनी निगाहों में गिरने से बचने के लिए, लोगों ने किस्मत जैसी काल्पनिक चीज का सर्जन किया। आज यही किस्मत हमारे लिए अफीम बनकर रह गई है जिसके प्रयोग से हम बहुत सरलता से श्रमहीन, दरिद्र, अनुशासनहीन तथा अकर्मण्य बने

रहते हैं। स्वाभाविक है कि जब अपनी अधोगति का उत्तरदायित्व ही हम अपने ऊपर नहीं लेंगे, तो अपनी परिस्थिति को सुधारने का कठिन दायित्व हमारा नहीं रह जाएगा और इसी तरह अपनी स्थिति से असंतुष्ट न होकर फिर हम अपनी कमियों और निर्बलताओं से समझौता करने में कैसी भी कठिनाई का अनुभव नहीं करेंगे। यह सारी गतिविधि स्वयं अपने साथ कितना भयंकर आत्मघात है, कोई भी आँक सकता है।

पुरुषार्थी लोगों में ऐसे लक्षण किसी भी काल में नहीं देखे गए हैं। वस्तुतः, सच्चा इनसान किसी के अधीन नहीं होता, चाहे वह प्रकृति हो, किस्मत हो या परिस्थिति, क्योंकि इनसान की मौलिक प्रकृति स्वाधीनता है, अर्थात्—वह स्वयं के अधीन है। पराधीन व्यक्ति को सही मायने में इनसान नहीं कहा जा सकता। इनसान तो उसी को कहेंगे, जो केवल स्व के अधीन अर्थात्—स्वाधीन हो और जिसमें यह विश्वास हो कि अपनी परिस्थितियों का निर्माता वह स्वयं ही है।

अतः माँ भारत का कहना है कि—

''यदि तुझे सच्चा मानव बनना है, तो मेरी इस पुकार को सुन और इसे अपने हृदय तक जाने दे। मेरे बेटे, मैंने अपनी इस पुकार में उन समस्त रहस्यों को उद्घाटित कर डाला है, जिनको जान लेने पर तुझे स्वयं पता चल जाएगा कि तेरे यशस्वी पूर्वजों ने, मेरे उन पुत्र-रत्नों ने, बल, तेज, पराक्रम तथा पूर्ण प्रतिभा ही नहीं, अपितु दुर्लभ पूर्णता कैसे प्राप्त की थी। तू स्वयं जान लेगा कि वही पूर्णता तू भी प्राप्त करने की पूरी क्षमता रखता है। तू जहाँ भी है, जो भी है, मेरा ही पुत्र है। अपनी पूर्व गरिमा, अपने पूर्व गौरव को प्राप्त करने की आशा मुझे केवल तुझसे ही है। तू अमृतत्व प्राप्त कर सकता है। तू अपने को पहचान, अपनी क्षमताओं को पहचान और अपने इस मानव-जीवन को सार्थक बना ले। आवश्यकता है केवल संकल्प की, आत्मविश्वास की, लगन की, उत्साह एवं पुरुषार्थ की। मेरे जिस पुत्र के पास ये सारे लक्षण होंगे, वह परिस्थितियों, मजबूरियों, सिफारिशों, भाग्य, नक्षत्र और दैवी इच्छा जैसी अफीम की गोलियों से अपने को उतना ही दूर पाएगा, जितना सूर्य से अंधकार।''

❑

सफलता का स्वरूप

'सफलता और परमानंद' में क्या कोई रिश्ता है? यदि हाँ, तो संसार ने 'परमानंद' की प्राप्ति को 'सफलता' की संज्ञा से अलंकृत क्यों नहीं किया? यदि नहीं, तो 'सफलता' शब्द का सही अर्थ क्या है? इसकी परिभाषा क्या है?

एक बात तो साफ नजर आती ही है। सुख की तरह सफलता भी ऐसी चीज जरूर है जिसकी चाह प्रत्येक मनुष्य के दिल में बसी मिलती है। इनसान की तो बात ही क्या है, हर जीव अपने अस्तित्व के उद्देश्य को निरंतर पूरा करने में लगा ही रहता है और अपने जीवन को सफल बना जाता है। वही हाल पदार्थों तक का है। उनकी भी कीमत तभी तक है, जब तक वे अपने उद्देश्य को पूरा करते हैं। एक छोटी सी माचिस भी जब कभी बहुत सील जाती है और जलने में असफल हो जाती है, तो इनसान उसे कूड़े की टोकरी में फेंक देता है। टॉर्च के सेल बल्ब जलाने में असमर्थ हो जाते हैं, तो बिना किसी मोह के उन्हें निकालकर फेंक दिया जाता है। जाहिर है, किसी वस्तु की कीमत तभी तक है, जब तक वह सफल है। इसी तरह हर इनसान की कीमत भी तभी तक रह सकती है, जब तक वह सफल है। शायद इसीलिए इनसान सफलता का उतना ही प्यासा रहता है, जितना सुख का, या जितना जिंदा रहने का। जीवित इनसान की भी कीमत तभी तक रह सकती है, जब तक वह सफल है। तो यह सोचना संभवत: गलत न होगा कि सफलता जिंदगी से भी अधिक मूल्यवान है, क्योंकि किसी भी जिंदगी का मूल्य सफल होने में ही निहित है। सफलता ही किसी के जीवन को मूल्यवान बनाती है।

जहाँ एक ओर सफलता जिंदगी से भी अधिक दिव्य सिद्ध हो रही है, वहीं दूसरी ओर एक विचित्रता भी देखने को मिलती है। संसार में महात्मा बुद्ध, श्री महावीर स्वामी, ईसा मसीह, हजरत मोहम्मद, गुरु नानक, तुलसी, कबीर, रामकृष्ण परमहंस, श्री अरविंद सरीखे मानव-रत्नों के लिए आज तक किसी को यह कहते नहीं सुना गया कि इनका जीवन बहुत सफल रहा। इन महामानवों का जीवन स्वयं में एक प्रकाशपुंज रहा, जिनसे करोड़ों का जीवन सफल हो गया, पर कैसी अनोखी बात है कि 'सफलता' शब्द इन नामों के साथ जुड़ा नहीं देखा जाता। ऐसा क्यों?

कारण स्पष्ट है। उपर्युक्त विभूतियाँ अपने जीवन-काल में ही सतत उस अवस्था में वास करती थीं, जिसे पाने के बाद लोक ही नहीं, परलोक में भी कुछ पाने को शेष नहीं रह जाता। उस सतत परमानंद की अवस्था जिसने प्राप्त कर रखी हो, उस उपलब्धि को 'सफलता' जैसे लघु शब्द से दर्शाना शायद वैसा ही होगा जैसे कोई शरद पूर्णिमा के चाँद को जुगनू की उपमा से दर्शाए। विदित है कि मानव तन पाना ही जिस गति को प्राप्त करने पर धन्य हो जाए उसके लिए 'सफल' शब्द बेमाने हो जाता है। दूसरे शब्दों में, सफलता नि:संदेह एक नितांत वांछनीय उपलब्धि है, पर मानव के लिए संसार में प्राप्त होनेवाली उपलब्धियों में एक ऐसी भी उपलब्धि है, जिसके आगे हर क्षेत्र की सफलता महत्त्वहीन हो जाती है, जिस उपलब्धि के अधिकारी के समक्ष संसार के किसी भी क्षेत्र में पराकाष्ठा की सफलता प्राप्त करनेवाला मनुष्य भी नमन करना अपना सौभाग्य मानता है।

निज आत्मा से प्रेरित होकर 'स्वान्त: सुखाय' कर्मों को करना अथवा सतत परमानंद की दशा प्राप्त करना, मानव तन की असाधारण सफलता तो फिर भी मानी जा सकती है, पर 'सफलता' शब्द का प्रयोग, वास्तव में केवल मनुष्य के नितांत 'लौकिक' प्रयासों से ही जोड़ा जा सकता है। जिस सफलता के लिए सारा संसार व्याकुल रहता है, उस उपलब्धि की वास्तविक पदवी बस इतनी ही है।

लौकिक सफलता की वर्तमान वस्तुस्थिति

समाज के हर वर्ग में तथा प्रत्येक वर्ग के हर स्तर पर, अपने-अपने अधीनस्थों तथा साथियों को सफलता की कुंजी बतानेवालों की यदि गणना की जाए, तो ऐसा प्रतीत होगा कि हर दसवें इनसान के पास सफलता की कुंजी उपलब्ध है। इतना ही नहीं, यदि कोई समाज में सर्वेक्षण करने निकले, तो अपने को सफल माननेवालों की संख्या शायद नब्बे प्रतिशत से कम नहीं मिलेगी। फिर भी, कैसे विस्मय की बात है कि जब कोई वास्तव में सफल व्यक्तियों के दृष्टांतों को ढूँढ़ने निकलता है, तो समाज के किसी भी वर्ग में, चार-छह व्यक्ति भी नहीं मिल पाते, जो सफलता के उदाहरण के रूप में राष्ट्र के समक्ष प्रस्तुत किए जा सकें।

स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि आखिर इस अत्यंत विस्मयजनक स्थिति का रहस्य क्या है?

यह प्रश्न तब और भी गंभीर बन जाता है, जब हम इनसान की फितरत पर नजर डालते हैं। सामान्यजन प्राय: औरों को देखकर ही अपना मार्ग निर्धारित करते पाए जाते हैं। फिर महाभारत में यक्ष-धर्मराज संवाद के अंतर्गत भी, जब युधिष्ठिर से प्रश्न किया गया कि ''मार्ग क्या है?'' तो युधिष्ठिर ने उत्तर दिया था, ''श्रेष्ठ जन जिस पथ पर चलें, वही मार्ग है।'' ऐसी परिस्थिति में, समाज के प्रत्येक वर्ग में, श्रेष्ठ और सफल व्यक्तियों के अत्यंत स्पष्ट दृष्टांतों का उपलब्ध होना एक गंभीर अनिवार्यता बन जाती है, क्योंकि यदि दृष्टांत ही गलत हो गए, तो सारा समाज ही पतनोन्मुख हो जाएगा। ऐसा होने पर सशक्त से सशक्त राष्ट्र भी पतन को प्राप्त होगा। एक ओर समाज में स्पष्ट एवं स्वस्थ दृष्टांतों के व्यापक अभाव के साथ-साथ दूसरी ओर अपने को अत्यंत सफल घोषित करनेवालों की व्यापकता होने पर, जो नई पीढ़ी दिशा-बोध पाने के लिए बड़ों की ओर टकटकी लगाए है उसे स्पष्ट दिशा की जगह सर्वत्र एक भ्रमात्मक स्थिति की व्यापकता ही हाथ लगती है।

इस भ्रमात्मक स्थिति का मूल कारण एकमात्र यही है कि हर व्यक्ति ने अपनी सुविधा के अनुसार 'सफलता' का अपना मापदंड बना लिया है और अपने उस मापदंड के हिसाब से वह अपने को परम सफल मानता चला गया है। इतना ही नहीं, जहाँ संभव हो सका, वहाँ अपने मापदंडों को बड़े उत्साह से दूसरों को भी देता गया जिससे उसके मापदंड के अनुयायी बढ़ें और उस आधार पर वह प्रतिष्ठा पाए। इस तरह संसार में एक ही गतिविधि में लगे, एक ही वर्ग के लोगों में 'सफलता' के अनेकानेक रूप बनते गए और सब अपने-अपने रूप को ही 'वास्तविक सफलता' घोषित करते गए। फलस्वरूप, सफलता का मौलिक स्वरूप विकृत होता चला गया और 'सफलता' के इतने रूप प्रकट हो गए कि आज की युवा पीढ़ी वास्तविक सफलता को पहचान पाने में अपने को पूरी तरह असमर्थ पा रही है।

जीवन को सही दशा मिले न मिले, जीनेवालों की राह की यह मजबूरी है कि स्पष्ट दिशा के प्राप्त होने तक वह अपने जीवन को रोक नहीं सकता। यदि सौभाग्य से दिशा सही मिल गई तब तो उसके जीवन का प्रत्येक क्षण सारयुक्त, अर्थ से परिपूर्ण होने पर रसमय बीतेगा, पर यदि दिशा न मिल पाई तो वही जीवन नि:सार-सा, निरर्थक-सा बनकर रह जाता है।

जीवनयापन के साधनों में पुलिस की ही नौकरी को लेकर, सफलता के कितने रूप संभव हो सकते हैं, यह बात कई वर्ष पहले आठ-दस युवा पुलिस अधीक्षकों की एक अनौपचारिक बैठक के दौरान बहुत ही असाधारण स्पष्टता से प्रकट हुई। प्रश्न केवल इतना था कि एक पुलिस अधिकारी या कर्मचारी, अपनी नौकरी के अंतिम दिन तक क्या प्राप्त कर ले, जिससे वह अत्यंत विश्वास के साथ यह कह सके कि उसकी नौकरी असाधारण रूप से सफल रही तथा उसका जीवन सार्थक हो गया। उस गोष्ठी में सफलता के जो-जो रूप सामने आए, वे कुछ इस प्रकार थे—

(1) पूरे सेवाकाल में अपवाद बिना, उसकी सेवा पुस्तिका में हर वर्ष, सेवाओं का अंकन उत्कृष्टतम ही रहा हो।

(2) पूरे सेवाकाल में एक-एक महत्त्वपूर्ण पदों पर ही नियुक्ति मिलती रही हो।

(3) सेवाकाल में ऐसे पराक्रम कर जाएँ कि ख्याति देशव्यापी बने।

(4) समयानुसार पदोन्नति प्राप्त करते हुए विभाग के उच्चतम पद पर पहुँचे।

(5) सेवाकाल निभ जाए, पर अपने सद्विवेक द्वारा स्थापित मौलिक मूल्यों एवं आस्थाओं से समझौता करने की आवश्कयता न पड़ी हो।

(6) सेवा के माध्यम से, चाहे अनुचित रूप से ही जरूरी क्यों न हो जाए, इतना धनोपार्जन कर लें कि अपना तथा अपने बच्चों का जीवन सदा के लिए सुखमय बन सके।

(7) जहाँ रहे हों, वहाँ की फोर्स तथा जनता हमें कभी न भूल पाए।

(8) हर नियुक्ति में अपना इतना दबदबा रहे कि उसकी चर्चा वर्षों तक चले।

(9) सम्मानपूर्वक सेवा करते हुए, अपने बच्चों को सुचारु रूप से पालकर, उन्हें अपने-अपने जीवन-मार्ग पर लगा पाए हों, जिससे सभी पूरी तरह हमसे संतुष्ट हों।

(10) जहाँ भी नियुक्त रहे, वहाँ के भले लोगों को राहत मिली हो तथा अपराधी तत्त्व भयभीत रहा हो।

(11) सेवाओं के माध्यम से अधिक-से-अधिक मंत्रियों, जन-प्रतिनिधियों तथा प्रभावशाली लोगों पर इतने एहसानात करे हों कि वे सभी हमारे मुरीद हों, जिससे हमारे व्यक्तित्व का प्रभाव सर्वत्र महसूस हो।

(12) संपूर्ण सेवाकाल में अपने क्षेत्र की अपेक्षाओं और आकांक्षाओं को पूरा कर पाए हों, भले ही उसके लिए कभी कानून का उल्लंघन ही क्यों न करना पड़ा हो।

(13) अपने अधीनस्थों को तथा समाज को सतत प्रभावी न्याय दिलाने तथा शांति और व्यवस्था कायम रखने में सफल रहे हों।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि पुलिस अधिकारी का दृष्टांत लेकर सफलता के जो तेरह रूप ऊपर प्रस्तुत किए गए, वे केवल पुलिससेवियों के ही लिए प्रासंगिक हों, ऐसा नहीं है। वस्तुत: वे तेरहों रूप हर क्षेत्र के लिए भी उतने ही प्रासंगिक हैं। कारण यह है कि प्रत्येक रूप के मूल में ऐसी लालसा, ऐसी प्रवृत्ति विद्यमान है, जो हर प्रकार के क्षेत्रों में लगे लोगों में रह सकती है। सुविधा के लिए, सफलता के किस रूप के मूल में कौन सी लालसा अथवा प्रवृत्ति है, आगे दी गई तालिका में प्रदर्शित की जा रही है। उसके अध्ययन से स्वयं ही स्पष्ट हो जाएगा कि संसार के विभिन्न क्षेत्रों में उनमें से क्रमश: किसी-न-किसी लालसा से ग्रस्त लोगों की कमी नहीं है। अत: सफलता के कम-से-कम ये तेरह रूप हर क्षेत्र के लिए उतने ही प्रासंगिक हैं।

भौतिक जीवन को सार्थक बनाने के लिए, प्रत्येक व्यक्ति के लिए 'सफलता' एक अनिवार्य परम-मूल्य है। हम जानते हैं कि जीवन में 'मूल्यों' का वही महत्त्व है, जो किसी जहाज में 'रडार' का। जिस तरह 'रडार' अपनी दिशा जरा सी ही बदलता है, परंतु जहाज कहाँ-का-कहाँ पहुँच लेता है, उसी तरह मूल्यों में किंचित्-सा भी परिवर्तन जीवन को कहीं-का-कहीं पहुँचा देता है। जीवन के प्रत्येक क्षण में हमारे निर्णय अपने मूल्यों के आधार पर ही लिए जाते हैं। फिर अपने कार्यक्षेत्र में सफलता तो ऐसी निधि है, जिस पर हमारी प्रतिष्ठा, हमारे परिवार का भविष्य, अपनी निगाह में हमारे संपूर्ण जीवन का ही अंकन निर्भर करता है। अत: अपने काम में पूर्ण सफलता प्राप्त करना तो हर व्यक्ति का परम धर्म हो जाना स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी है। ऐसी परिस्थिति में सफलता के किस स्वरूप को हम मूल्यवान मानते हैं, इसका निर्णय प्रारंभ में ही ले लेना अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

उल्लेखनीय है कि इन सभी स्वरूपों में से जिस किसी स्वरूप को लेकर जो भी चल पड़ा और उसमें सफल रहा, वह बहुत ईमानदारी से अपने को एक सफल पुलिस अधिकारी समझता रहे, यह नितांत स्वाभाविक है। परंतु देखने

से पता चलता है कि जहाँ धनोपार्जन में सफलता के लिए यश, कीर्ति, न्याय, निष्पक्षता आदि को तिलांजलि देनी पड़ेगी, वहाँ प्रभावी न्याय दिलाने में सफल होने पर यश और कीर्ति तो मिल जाएगी, पर धन के अभाव में बहुत सी भौतिक सुख-सुविधाओं की चीजों को तिलांजलि देनी पड़ेगी। यदि बच्चों की पढ़ाई को अस्त-व्यस्त होने से रोकना है, तो मूल्यों और आदर्शों को त्यागना तथा जनता की अपेक्षाओं और आकांक्षाओं को अनदेखा करना पड़ सकता है। इसके विपरीत जिसने जनता की अपेक्षाओं और आकांक्षाओं को पूरा करना मूल्यवान समझा, तो बेमौसम तबादले के कारण यदि उसके बच्चों की पढ़ाई अस्त-व्यस्त हो जाए, तो कोई आश्चर्य की बात न होगी। अर्थात्—जो एक प्रकार की सफलता के लिए अमृत है, वह दूसरी प्रकार की सफलता के लिए विष सिद्ध हो सकता है।

हम सफलता का जो भी रूप अपनाएँगे, वही हमारा मूल्य बनेगा। अपने मूल्य को सुरक्षित रखने के लिए एक आचरण संहिता अनायास बन ही जाती है। विदित है कि हमारे आचरण के अनुरूप ही हमारा भविष्य बनेगा और उसी भविष्य के अनुरूप जीवन में उपलब्धियाँ भी होंगी। उदाहरणार्थ, यदि किसी ने कलकत्ता पहुँचना मूल्यवान माना और कलकत्ता पहुँचने के लिए पूरा श्रम भी किया, तो उसकी उपलब्धि कलकत्ता ही होगी। वह मद्रास या बंबई नहीं पहुँच सकता। पर यदि यह कहा जाए कि मुझे एक व्यक्ति ऐसा मिला जो रेल में मेरे साथ बैठा कलकत्ता जा रहा था, पर मन-ही-मन यह विश्वास लिए बैठा था कि इसी सफर में, अधिक नहीं तो थोड़ा-थोड़ा मद्रास तथा बंबई का दर्शन भी हो जाएगा, तो मेरी इस बात पर कोई विश्वास नहीं करेगा। लोग कहेंगे कि यदि वास्तव में यह सत्य है तो वह यात्री निश्चित रूप से पागल होगा। कोई सामान्य अनपढ़ व्यक्ति भी इस सहज सत्य को स्वीकार करेगा कि यदि कोई उत्तर दिशा की ओर जा रहा है, तो वह पूर्व, पश्चिम आदि अन्य किसी भी दिशा में नहीं पहुँचेगा, केवल उत्तर दिशा की ओर ही पहुँचेगा। परंतु कैसी विचित्र विडंबना है कि सफलता के संदर्भ में लोग इस सहज सत्य को स्वीकार करने में अपने को पूरी तरह असमर्थ पाते हैं। यत्र-तत्र-सर्वत्र आज पुलिस अधिकारियों के ऐसे अनेकानेक दृष्टांत हैं जिन्होंने न्याय करने और न्याय दिलाने को अपना सर्वोपरि मूल्य माना, पर जब महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ उनको नहीं मिलीं, अन्य किसी को मिलीं, तो उन्हें बहुत निराशा हुई। इतना ही नहीं, जब कहीं अनीति पर चलकर बहुत सा रुपया कमाकर, किसी अधिकारी के बच्चों को श्रेष्ठतम स्कूलों में शिक्षा प्राप्त कराने अथवा उसके द्वारा आलीशान मकान बनाने की बात सुनी, तो उनके मन में एक अजीब ईर्ष्या सी भी हुई। ऐसी प्रतिक्रियाओं का होना यही प्रमाणित करता है कि वे उपरोक्त सहज सत्य को स्वीकार करने में असमर्थ रहे, क्योंकि जब न्याय और सत्य के मार्ग को उन्होंने अपनी सफलता का मापदंड माना और उसी मार्ग पर चले, तो महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ, धन, भोग-विलास की वस्तुएँ अथवा बच्चों के लिए श्रेष्ठतम स्कूलों में जाने आदि के मार्ग उनके लिए बंद हैं, क्योंकि जिस दिशा में वे चले, उस मार्ग की उपलब्धि 'न्याय की सेवा' ही थी। धन, महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ आदि के लिए सफलता के जो रूप क्रमशः अपनाने थे, वे जब उन्होंने नहीं अपनाए, तो जो फल उन मार्गों पर चलकर मिलने थे, वे 'सत्य और न्याय' के मार्ग में भला कैसे मिल सकते थे। अर्थात् उत्तर दिशा में जाने पर पूर्व अथवा पश्चिम पहुँचना संभव ही नहीं है। यह कुछ ऐसा ही है कि कलकत्ते का यात्री मद्रास पहुँचनेवाले से ईर्ष्या करे। जीवन-यात्रा में अधिकांश विषमताएँ तब पैदा होती हैं, जब हम अंगीकार तो करें एक मूल्य को, परंतु टकटकी लगाएँ दूसरे मूल्यों की उपलब्धियों पर। ऐसी परिस्थिति में अकसर लोग सोचने लगते हैं कि उन्होंने कहीं गलत मार्ग तो नहीं ले लिया? यही समस्या तब और जटिल बन जाती है, जब अपने मूल्यों के सहयात्री अत्यंत अल्पसंख्या में हों और अधिकांश समाज उसके विपरीत मूल्यों पर चल रहा हो। ऐसी परिस्थिति में अकसर कई वर्ष अपने मूल्यों पर चलते रहने के उपरांत भी उन पर से आस्था उठने सी लगती है और अंततः कुछ व्यक्ति तो अपने से मूल्य त्याग ही बैठते हैं। वे शायद भूल जाते हैं कि जीवन किसी विशेष गंतव्य पर पहुँचने के लिए मिला था, न कि संसार की भेड़ चाल

में प्रथम आने के लिए। ऐसे व्यक्तियों की दशा वास्तव में बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण हो जाती है। जिस दिशा को मूल्यवान मानकर वर्षों चले, उधर तो पहुँच नहीं पाते और बदली हुई दिशा में नए सिरे से आस्था बन नहीं पाती। भीतर-ही-भीतर ऐसे व्यक्ति फिर टूटते ही चले जाते हैं और कहीं के नहीं रहते।

फिलहाल, यह प्रासंगिक नहीं है कि कोई 'सफलता' के किस स्वरूप को अपनाता है। अपनी बुद्धि, अपने सामर्थ्य तथा अपने विवेक से जो भी रूप हृदय को जँचे, उसे अपनाने की पूर्ण स्वतंत्रता हर एक को उपलब्ध है। महत्त्वपूर्ण तो केवल इतना है कि जीवन में जिस गंतव्य के लिए चलना हमने स्वीकार किया, उस पर ही पहुँचने की कामना की जानी चाहिए तथा उसी पर पहुँचकर अपने जीवन को धन्य मानना चाहिए। अन्य गंतव्यों के प्रति ललचाई आँखें तो दूर, उन गंतव्यों के अस्तित्व के बारे में एक क्षण भी सोचना अपने विवेक के अंकन पर शंका करना है। ऐसा होने पर सबसे बड़ा आघात व्यक्ति के आत्मविश्वास पर होता है।

अब संभवत: स्पष्ट हो गया होगा कि इस बात पर बल क्यों दिया गया कि एक दिशा को पकड़ने के उपरांत व्यक्ति को अन्य दिशाओं में जाने पर जो उपलब्ध हो सकता है, उन सभी उपलब्धियों की ओर से अपनी आँखों को मूँदना अनिवार्य हो जाता है। प्रत्येक मूल्य को सुरक्षित रखने के लिए किन्हीं दूसरे मूल्यों का बलिदान करना एक ऐसी अनिवार्यता है, जिसे अनदेखा करना स्वयं को ही धोखे में रखना होगा। ऐसा धोखा स्वयं को देने पर मन का चैन और अंत:करण की शांति खो जाए तो विस्मय कैसा? व्यक्ति इन उलझनों से तभी निजात पा सकता है, जब वह गंभीर चिंतन करके एक बार निर्णय ले ले कि किस मूल्य को वह जीवनपर्यंत खोना नहीं चाहता तथा कौन सा मूल्य ऐसा है, जिससे उसे विमुख होना स्वीकार है। संसार में कुछ भी मूल्यवान चीज मुफ्त नहीं मिल सकती। हर चीज के लिए कोई-न-कोई कीमत चुकानी पड़ती है। जो सर्वाधिक महत्त्व की बात है वह केवल इतनी कि जब यह प्रमाणित है कि सफलता के विभिन्न रूपों के साथ कोई-न-कोई विशेष उपलब्धि जुड़ी है और बाकी अन्य उपलब्धियाँ प्राय: निषिद्ध हो जाती हैं, तो हम उसी उपलब्धि का चयन करें जो जीवन के अंत तक उतने ही महत्त्व की प्रमाणित हो जितनी प्रारंभ में हमने मानी थी। ऐसा न हो कि सम्राट सोलोमन की तरह जीवन की संध्या में वे सारी उपलब्धियाँ हवा के मानिंद खोखली साबित हों। अर्थात्—सफलता के सही रूप का चयन प्रारंभ से ही कर लेने में संपूर्ण जीवन की सार्थकता निर्भर करती है।

यूँ तो दृष्टांत एक पुलिसकर्मी का लिया था, पर समाज का कोई ऐसा वर्ग नहीं है, कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसमें सफलता के कई रूप प्रचलित न हों। विद्यार्थी वर्ग में ही कोई टॉप करना असली सफलता मानता है, तो कोई केवल फर्स्ट डिवीजन के साथ, खेल-कूद में डिबेट करने तथा अन्य गतिविधियों में भी प्रवीणता प्राप्त करने को वास्तविक सफलता मानता है, कोई तीसरा, विद्यार्थीकाल में प्रभावी राजनीतिज्ञ बन जाने को सफलता मानता है, तो कोई विद्यार्थीकाल में राष्ट्रीय स्तर का खिलाड़ी बनने में अपनी सफलता मानता है। इसी तरह वाणिज्य या व्यवसाय के जगत् में, खेल जगत् में, अध्यापकों, डॉक्टरों में, इंजीनियरों में, प्रत्येक वर्ग में सफलता के अनेकानेक रूप प्रचलित हैं। प्रत्येक अपने हिसाब से अपने को पूरी तरह सफल मानता चला जाता है। तभी समाज में अपने को सफल माननेवालों की संख्या नब्बे प्रतिशत होते हुए भी वास्तविक रूप से सफल माने जानेवाले दृष्टांत दो-चार ही मिल पाते हैं।

संभवत: अब यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि सफलता के जिस भी स्वरूप को हम मानकर चलते हैं, हमारी वृत्तियाँ, हमारी मानसिकता, हमारा आचरण, हमारे प्रयास, हमारे समस्त निर्णय, उसी एक आधार पर अपना रूप लेते हैं। इतना ही नहीं, हमारे संपूर्ण जीवन की अंतिम भौतिक उड़ान, हमारा गंतव्य उसी पर आश्रित रहता है। सफलता प्राप्त हुई या नहीं, इससे तो हमारे जीवन की कीमत का अनुमान मिलता है। पर सफलता किस रूप की

प्राप्त की, उससे हमारे जीवन की असली पूँजी का परिचय मिलता है।

व्यक्ति के जीवन पर 'सफलता' नाम के जिस तत्त्व का इतना व्यापक और दूरगामी प्रभाव पड़ता हो, उस 'सफलता' के वास्तविक मौलिक स्वरूप की जानकारी करना, प्रत्येक व्यक्ति के लिए जिंदा रहने के समकक्ष महत्त्व की बात मानना, कदाचित युक्तिसंगत ही होगा। फिर भी न जाने किस दुर्दैव से संसार की भेड़चाल में फँसा मनुष्य, सफलता के कितने ही भ्रांतिपूर्ण रूपों को अपनाकर अपने को ही छलने पर उद्यत पाया जाता है। अपने को दुनियादारी में प्रवीण माननेवाले कुछ जन तो आदर्शों और आस्थाओं को सँजोए कितने ही नवयुवकों को सफलता का पाठ पढ़ाते समय यह बताते सुने जाते हैं कि यदि जीवन में सफल होना है, तो जितनी जल्दी वे आदर्शों के मोह को त्यागकर जीवन की यथार्थता को स्वीकार कर लेंगे, उतनी ही जल्दी वे सफलता के मार्ग पर लग सकेंगे। इस संदर्भ में एक दृष्टांत का उल्लेख करना उपयुक्त होगा—

सत्य, न्याय तथा निष्पक्षता के आदर्शों से ओत-प्रोत, पुलिस प्रशिक्षण महाविद्यलय के ताजा सत्र से निकले एक होनहार युवा उप-निरीक्षक की तैनाती एक बड़े शहर की कोतवाली में हुई। उसे एक जाँच सौंपी गई, जिसमें न्याय और निष्पक्षता के आधार पर उसने जो कदम उठाया, उससे एक अत्यंत प्रभावशाली राजनैतिक नेता बहुत कुरद्ध हो गए और उन्होंने कोतवाली के प्रभारी निरीक्षक को आड़े हाथों लिया। उनका क्रोध जैसे-तैसे शांत करके, कोतवाल साहब ने उस उप-निरीक्षक को बुलाकर सारा वृत्तांत सुना। वृत्तांत सुनने पर उसमें त्रुटि निकाल पाना संभव ही नहीं था। फिर भी अंत में वे बोले, ''बर्खुर्दार! अगर आपको जिंदगी में कामयाब होना है, तो जो पी.टी.सी. में सीखा है, वह तो आप जल्दी-से-जल्दी भुला दें और जिंदगी की असलियत को पहचानते हुए, जो मैं कह रहा हूँ, उसके हिसाब से काम करना शुरू करें।'' इसके उपरांत आगे क्या हुआ, यह उतने महत्त्व का नहीं है। महत्त्व की बात केवल इतनी है कि एक महानगर का प्रभारी निरीक्षक होना, दुनिया की दृष्टि से किसी भी पुलिस अधिकारी के सफल होने का प्रमाण माना जाना स्वाभाविक है, और जब ऐसे 'सफल' अधिकारी से यह वचन उसने सुने, तो उस सच्चे नवयुवक का दिमाग चकरा गया। एक ही झटके में, सत्य, न्याय और निष्पक्षता का, 'सफलता' के लिए कैसा भी योगदान संभव होने में उसकी मौलिक आस्था डिग गई। ऐसी मनोवृत्ति केवल किसी पुलिस निरीक्षक की ही हो, ऐसा नहीं है। क्षेत्र चाहे उद्योग का हो या व्यवसाय का, डॉक्टर का हो या वकील का, अध्यापक का हो या इंजीनियर का, न जाने कैसे एक धारणा सर्वसाधारण के दिलोदिमाग में घर सा करती गई है कि सिद्धांतत: 'अपने ईमान, अपनी सत्य-निष्ठा तथा अपने मौलिक मूल्यों को बिना खोए, कोई भी व्यक्ति संसार में सफल नहीं हो सकता।' सामान्यतया हर क्षेत्र में जीवन का यही सिद्धांत सर्वत्र प्रचलित नजर आता है। आधुनिक जीवन का सबसे कड़वा सत्य यही है कि आज के युग में यही घोर सिद्धांत, व्यावहारिकता की कसौटी पर अक्षरश: सत्य सिद्ध माना जा रहा है।

अब प्रश्न केवल एक ही उठता है कि ऐसा पैशाचिक, भयंकर और घोर सिद्धांत 'सत्य' है, संसार में इतने व्यापक रूप से कैसे स्वीकार किया जाने लगा?

इसका एक मात्र कारण यह है कि जहाँ 'सफलता' एक परम मूल्य होने के नाते, उसे प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य हो गया, वहीं कालांतर में मनुष्य का कुछ ऐसा विघटन होता गया कि वह 'मौलिक सफलता' प्राप्त करने में असफल होने लगा। अपने को असफल मानना उसके लिए संभव न था, अत: उसने सफलता के मौलिक स्वरूप को बलात् तोड़ना-मरोड़ना शुरू किया और अपनी सुविधानुसार सफलता के नए-नए रूप गठित करके, संसार को जताना शुरू किया कि असली सफलता वही है जो उसे मिली। फलस्वरूप, 'सफलता' की अनेक परिभाषाएँ समाज में प्रचलित हो गईं। यही कारण है कि आज, मूलत:, सफलता के अंकन के कम-से-कम

तीन मापदंड व्यापक रूप से संसार में प्रतिष्ठित हो गए। वे हैं—

पहला, कितना धन पैदा किया?

दूसरा, कितनी ख्याति अर्जित की? और

तीसरा, साथी मानवों पर किस स्तर की प्रभुता प्राप्त की?

अंग्रेजी में यही तीन मापदंड 'वैल्थ' 'फेम' तथा 'पावर' के नाम से जाने जाते हैं। आज भारत में ही नहीं; विश्व भर में किसी की सफलता प्राय: इन्हीं तीन मापदंडों से आँकी जाने लगी है। किस विधि से ये कमाए गए हैं, अब तो इससे भी कोई प्रयोजन नहीं रह गया। जिसने इन तीनों में से किसी एक को भी प्रचुर मात्रा में कमा लिया, बस, समाज सर्वत्र उसे दंडवत् करने के लिए उद्यत होता देखा जाता है। स्त्री जाति के लिए भले ही वह कलंक का प्रतीक हो, पर एक वारदात में एक साथ बाईस असहाय लोगों की नृशंस हत्या करके जिस नारी अधम ने ख्याति पा ली, लोगों ने उसकी आत्मकथाएँ लिखने में होड़ लगा दी। सिनेमा के एक निर्माता ने उसकी सच्ची-झूठी जीवनी पर एक पूरी फिल्म ही बना डाली।

भले ही तस्करी अथवा मादक द्रव्यों को बेचकर हजारों युवक-युवतियों का संहार हुआ हो, पर उस माध्यम से यदि किसी ने करोड़ों रुपए बना लिए, तो समाज में उसे प्रतिष्ठा और सम्मान का पात्र बनते तनिक भी देर नहीं लगती।

सैकड़ों झूठ बोलकर, हजारों को धोखा देकर कोई सत्ता में आ भर जाए, सर्वत्र उसे पुष्प मालाएँ पहनाने की होड़ सी लग जाती है। वास्तविकता से नितांत परे उसके तथाकथित सशक्त चरित्र और 'असाधारण' व्यक्तित्व के चर्चे सम्मानित से सम्मानित पत्र-पत्रिकाओं में होना आम बात हो जाती है।

'धन', 'ख्याति' और 'सत्ता' के आधार पर सफलता का अंकन करके जब 'सफलता' की परिभाषा को ही उलटकर रख दिया गया, तो सफलता प्राप्त करने का सिद्धांत ही उलट जाए, तो विस्मय कैसा?

व्यक्ति सफलता का जो भी रूप अपनाएगा, उसकी मानसिकता, उसकी वृत्तियाँ, उसके सारे प्रयास, समस्त निर्णय, उसका आचरण, उसका संपूर्ण जीवन उसी के अनुरूप ढल जाना अनिवार्य है। अत: जब 'सफलता' का लिबास धन, ख्याति तथा सत्ता जैसे घोर कपटी और छलियों ने पहन लिया, तो वैसी सफलता प्राप्त करने के लिए छल-कपट को उपकरण तथा छल-कपट के सम्राटों को ही तो शस्त्र बनाना अनिवार्य हो जाएगा। ऐसे समरांगण में फिर सत्यनिष्ठा, ईमानदारी और मौलिक मूल्यों जैसे दिव्य अस्त्रों का प्रयोग अप्रासंगिक होकर रह जाए, तो विस्मय कैसा?

सत्य की मजबूरी यह है कि यदि एक बार सारा संसार ही क्यों न उसे अमान्य घोषित कर दे, सत्य अपना स्वरूप बदलने में नितांत असमर्थ रहता है। असत्य को गले लगाकर मनुष्य ने केवल अपने आप से धोखा किया है। आज, जो मनुष्य इतना त्रस्त है, बेचैन है, किंकर्तव्यविमूढ़-सा दिखता है, उसके मूल में अपने साथ किया गया यह धोखा ही अन्य कारणों में से एक प्रमुख कारण है।

जिस सफलता को प्राप्त करके लोगों के जीवन धन्य हो जाते थे, सार्थक हो जाते थे, उसके ठीक उलटे स्वरूप को प्राप्त करने पर यदि उनका जीवन शापित-सा महसूस हो, तो ऐसा होना नितांत स्वाभविक ही है। सिनेमा जगत् के अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त सितारे हों या दर्जनों मिलों के करोड़पति मालिक हों या राष्ट्र के सत्ताधारी ही क्यों न हों, इनकी वास्तविकता क्या है, यह तो इनके अपने-अपने निजी डॉक्टर ही बता सकेंगे कि अपने मन के झंझावातों को शांत करने के लिए अथवा सामान्य सी मीठी नींद पाने के लिए वे कितनी गोलियाँ रोज खाते हैं। इन सभी में, केवल

वे ही अपवाद मिलेंगे जिन्होंने सत्ता, धन और ख्याति भले ही प्राप्त कर ली हो, पर उन्होंने धन, ख्याति अथवा सत्ता को अपने मन में अपनी सफलता का मापदंड कभी स्वीकार नहीं किया होगा।

ऐसा सोचना युक्तिसंगत होगा कि जो व्यक्ति जीवन में स्वयं अपने निर्धारित किए गए सफलता के स्वरूप को प्राप्त कर ले, उसे उसके उपरांत अनंत, अखंड शांति और चैन उपलब्ध हो जाना चाहिए। पर कैसी विडंबना है कि जो व्यक्ति इन तथाकथित सफलताओं को जितना अधिक प्राप्त करता गया, वह उतना ही अधिक बेचैन, उतना ही अधिक अतृप्त, उतना ही अधिक मजबूर सा होता गया।

संसार भर का मनुष्य आज अपनी आर्त दशा पर कराह रहा है। एक सिरे से दूसरे सिरे तक मनुष्य शांति और सुख के लिए लालायित दिखता है। उसे इस दयनीय अवस्था तक किसने पहुँचाया है, उसे जानने का या तो वह प्रयास नहीं कर रहा, या फिर वह जानकर भी अनजान बना रहना चाहता है।

इसका वास्तविक कारण यह है कि सफलता के मौलिक स्वरूप को इस युग का मनुष्य पूरी तरह भूल चुका है। फलस्वरूप, कृत्रिम सफलता के नाम पर वास्तव में असफलता ही असफलता व्याप्त है। अंतर केवल इतना ही कि समृद्धिशाली देशों के लोगों ने वास्तविक सफलता के स्थान पर, सफलता के एक छलावे 'धन' को प्रचुर मात्रा में कमा रखा है, जबकि गरीब और त्रस्त देशों में लोग सफलता के किसी भी रूप को प्राप्त करने में असमर्थ रहे। पर जहाँ तक मन की शांति और चैन का संबंध है, उनका तो दोनों ही प्रकार के देशों में व्यापक अभाव है।

अत: जब हम जान चुके हैं कि सफलता का जो भी रूप हम स्वीकार करेंगे, उसी पर हमारे संपूर्ण जीवन का भविष्य निर्भर करता है, तो अनिवार्य हो जाता है कि हम तत्काल उस छलावे का परित्याग कर दें जिसने हमें वास्तविक सफलता के नजदीक नहीं जाने दिया। हमें अपने अंदर बिना किसी विलंब के, सफलता की सारी मिथ्या परिभाषाओं को त्यागकर 'सफलता' की वास्तविक मौलिक परिभाषा को पुन: प्रतिष्ठित करना होगा। ऐसा करने पर ही हम अपने को अधोगति से बचा सकेंगे और अपने अभ्युदय के मार्ग को प्रशस्त कर सकेंगे।

'सफलता' की वास्तविक मौलिक परिभाषा क्या है?

सफलता की एकमात्र परिभाषा है—

''सतत अपने अस्तित्व के उद्देश्य की पूर्ति में रत रहना'' अर्थात् ''अपने स्वधर्म में निरंतर रत रहना।''

मनुष्यों के संबंध में सफलता के तीन स्पष्ट संदर्भ हैं, जिन्हें समझ लेना अत्यंत आवश्यक है—

1. जीवन की सफलता।
2. जीविका के साधन में सफलता।
3. जीवन से जुड़े अनेकानेक अन्य दायित्वों में सफलता।

इन तीनों संदर्भों में सफलताओं के मौलिक स्वरूपों को जान लेने में ही जीवन की सार्थकता निहित है। अत:, क्रमश: उनका विस्तार से विश्लेषण आवश्यक जो जाता है।

जीवन की सफलता

हम जान चुके हैं कि संपूर्ण मनुष्य जाति के जीवन का उद्देश्य एक ही है—

1. पूर्णता प्राप्त करना, अर्थात् आत्मा का परमात्मा में विलयन करना अर्थात् निर्वाण या मोक्ष प्राप्त करना।
2. दूसरों के दु:खों को बाँटना।
3. दूसरों को स्वत: सुख पहुँचाना।

सबसे उत्साहवद्धर्क बात यही है कि इन तीनों उद्देश्यों को सतत पूरा करते रहने के लिए किसी कुल विशेष, जाति विशेष अथवा धर्म विशेष का होना किंचित् भी आवश्यक नहीं है। पूर्णता की प्राप्ति कर्म के माध्यम से, अपने समस्त कर्म संपूर्ण कौशल और सामर्थ्य से करने पर हो जाती है। अथवा मन, वचन तथा कर्म में सतत अपने विवेक की अनुकूलता में बने रहने से प्राप्त हो सकती है, अथवा अपने अहंकार को शून्यता पर पहुँचाते हुए उस परम पिता परमात्मा के प्रति संपूर्ण समर्पण करने से हो सकती है, अथवा ध्यान और स्वाध्याय के माध्यम से आत्मज्ञान की अनुभूति करने से भी संभव है। वैसे मार्ग तो और भी अनेकानेक हैं, परंतु उपर्युक्त चार प्रमुख मार्गों को क्रमश: कर्म योग, राज योग, भक्ति योग तथा ज्ञान योग के नामों से दर्शाया गया है।

जहाँ तक दूसरों के दु:खों को बाँटने तथा दूसरों को सुख पहुँचाने का काम है, वह तो जैसी जिसकी सामर्थ्य है उसी के अनुरूप उसे इन दोनों कामों को करना है। अस्तु, इन तीनों उद्देश्यों को प्रत्येक मनुष्य अपने सामर्थ्य और कौशल के आधार पर पूरा करता हुआ जीवन बिताने के लिए मुक्त है। इसके लिए किसी कला विशेष, सामर्थ्य विशेष, पद विशेष अथवा संपन्न होने आदि की कोई कैसी भी शर्त नहीं रखी गई है। महत्त्व की बात केवल इतनी है कि इन तीनों उद्देश्यों से विमुख होकर जो भी जीवन बिताएगा, वह व्यक्ति कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो, उसने अपने जीवन में आकंठ भोग-विलास क्यों न किया हो, अपार संपत्ति, अपार प्रभुसत्ता, अपार शक्ति, अनंत ख्याति क्यों न अर्जित कर ली हो, वह जीवन की संध्या में सम्राट सोलोमन की तरह अपने संपूर्ण जीवन को नितांत खोखला और सारहीन अनुभव करेगा। अत: जीविका के साधन में विराट से विराटतम सफलता प्राप्त कर लेने तथा अन्य दायित्वों को पूर्ण सफलता से निभाने के उपरांत भी यदि वह जीवन की इस मौलिक सफलता के स्वरूप को प्राप्त न कर पाया तो उसका जीवन निरर्थक ही रह जाएगा। इसीलिए इस प्रथम संदर्भ की सफलता सर्वाधिक महत्त्व की हो जाती है। जीवन की किसी भी गतिविधि में लगा हो, परंतु जो व्यक्ति मनुष्य जीवन के इन तीन मौलिक उद्देश्यों को प्राप्त करता हुआ अपना जीवन नहीं बिताएगा, वह अपने को असफल ही पाएगा। अत: जीवन की सफलता की कुंजी जीवन के उपर्युक्त तीनों उद्देश्यों को निरंतर पूरा करते हुए जीवन बिताने में निहित है।

जीविका के साधन में सफलता

जीवन की सफलता के लिए उपर्युक्त तीनों उद्देश्यों की पूर्ति तभी संभव हो सकती है, जब व्यक्ति अपने जीवन को बनाए रखे। अत: हर व्यक्ति के लिए कोई-न-कोई जीविका का साधन अपनाना अनिवार्य है। इस संदर्भ में जो बात सर्वाधिक महत्त्व की है, वह यह कि जीविका का साधन सदा साधन ही रहना चाहिए, उसे साध्य का दर्जा देने की भूल कभी न होने पाए। उदाहरणार्थ, यदि कोई भारतीय पुलिस सेवा का अधिकारी बन जाए और फिर अपना उद्देश्य डी.जी.पी. बना बैठा अथवा जो भारतीय प्रशासनिक सेवा में भर्ती हुआ, उसने कैबिनेट सचिव अथवा गर्वनर बनना अपने जीवन का ध्येय बना डाला अथवा जो व्यवसाय में लगा उसने अपने जीवन का उद्देश्य करोड़पति अथवा अरबपति बनना बना डाला, तो कहा जाएगा कि उसने अपने जीविका के 'साधन' को वस्तुत: 'साध्य' का दर्जा दे दिया। ऐसा करना घोर अनर्थकारी हो जाता है। स्पष्ट है कि जीविका के साधन में सफलता की मौलिक परिभाषा एक ही हो सकती है, अर्थात् यह पहचानना कि जिस पद पर मैं आसीन हूँ अथवा जिस भी व्यवसाय में मैं लगा हूँ, उस पद अथवा व्यवसाय का मौलिक उद्देश्य क्या था? वह पद अथवा व्यवसाय किस हेतु निर्मित किया गया था? उस उद्देश्य को पहचानने के उपरांत अपनी सारी शक्ति, सारा कौशल, सारी सामर्थ्य बस केवल उसी उद्देश्य की पूर्ति करते रहने में ही उस जीविका के साधन की सफलता निहित है। सफलता की इस मौलिक परिभाषा को जो भी निरंतर अपनी दृष्टि में बनाए रखेगा, वह जिस भी काम में लगेगा, जिस भी व्यवसाय में लगेगा, वह उस कठिन उपलब्धि को अवश्य प्राप्त करके रहेगा। जो एकमात्र भौतिक उपलब्धि संसार में वास्तव में

कमाने योग्य है, वह उपलब्धि है 'कीर्ति'। इतना ही नहीं, ऐसा व्यक्ति भले ही अनेकानेक अन्य भौतिक उपलब्धियों के मोहजाल में न फँसे, परंतु यह प्रकृति का विधान है कि ऐसा व्यक्ति कभी भी, किसी भौतिक अभाव से भी ग्रस्त नहीं हो सकेगा। उन भौतिक उपलब्धियों को ध्येय बनाकर भले ही वह कोई प्रयास न करे, पर वे उपलब्धियाँ अनायास उसकी दासी बनेंगी।

इस संदर्भ में एक दृष्टांत संभवत: बात को पूरी तरह स्पष्ट कर सकेगा। सन् 1962 में मैं एक कोर्स करने केंद्रीय पुलिस प्रशिक्षण संस्थान में गया था। उसके अंतर्गत हम अधिकारियों को देशाटन करना था और हम सब बंगलौर कुछ दिन प्रवास के लिए गए। ठहरे तो सब पुलिस मैस में, पर हमें बताया गया कि भोजन का प्रबंध एक होटल में किया गया है, जो न केवल बहुत सस्ता है, बल्कि अद्‌वितीय भोजन देनेवाला है। जब हम लोग वहाँ भोजन करने गए, तो पाया कि एक बड़ा घर सा है जिसके बाहर एक फूल की क्यारी में गड़े एक बाँस पर चीड़ की लकड़ी की तख्ती कील से ठोक रखी थी और सामान्य स्याही से उस तख्ती पर उस तथाकथित होटल का नाम लिखा था। हम सब खाना खाने के लिए फर्श पर बने एक लंबे प्लेटफार्म पर बिठाए गए और फिर हम सबके सामने अत्यंत स्वच्छ केले के पत्ते रखे गए और फिर 10-12 छोटे-छोटे बच्चों ने, (जिनकी उम्र 7-8 वर्ष से लेकर 12-13 वर्ष तक की ही होगी) खाना परोसना शुरू किया। खाने का दाम सवा रुपया था और सवा रुपए में जिसकी जितनी भूख हो, उसे उतना भोजन मिलना था। अत्यंत उत्साह से दौड़-दौड़ कर बच्चे हमें पूड़ी, सब्जी, दही, खीर आदि ला-ला कर खिलाते रहे। हम सब प्राय: भोजन कर चुके, तब भी बच्चे जोर दे-देकर हमारे लिए 'एक पूड़ी और', 'थोड़ी खीर और', अथवा 'थोड़ा दही और' देने की जिद करते रहे। मैं सोच में पड़ा कि जब दाम निर्धारित सवा रुपया ही देना था, तो जिस प्रकार की जिद कर-करके ये बच्चे हमें खिला रहे थे, उससे तो इस होटलवाले का दिवाला ही निकल जाएगा। बहरहाल, हम सब जब तृप्त हो लिए, तो सारे अधिकारियों का प्रमुख होने के नाते मैं बिल का भुगतान करने काउंटर पर गया। मैं वहाँ के भोजन तथा उससे भी अधिक वहाँ खिलाने की व्यवस्था से इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि मैं अपने को रोक न पाया और मुक्त कंठ से मैंने उनके भोजन और खिलाने की व्यवस्था की प्रशंसा की, परंतु जो बात मुझे खटक रही थी उसे भी कहे बिना न रह सका। अतिशय प्रशंसा के उपरांत मैंने कहा कि जहाँ हर चीज एक आदर्श के समान थी, वहाँ व्यवसाय में बच्चों का उपयोग करना अच्छा न लगा।

''इन बच्चों की उम्र तो पढ़ने और खेलने की है। उनका व्यवसाय में उपयोग करना अत्यंत अन्यायपूर्ण है,'' मैं कह गया।

मैंने इतना कहा भर था कि होटल मालिक ने बताया कि ये सारे ही बच्चे स्कूलों में पढ़ते हैं। ऐसे 100-150 बच्चे उनके रजिस्टर पर दर्ज हैं। जो सुबह के स्कूल में जाते हैं, वे शाम को होटल में खाना खिलाते हैं तथा जो शाम की 'शिफ्ट' में पढ़ने जाते हैं, वे दोपहर को भोजन खिलाते हैं। मेरी शंका का समाधान तो पूरी तरह उन्होंने कर दिया था, परंतु फिर भी मेरे मुँह से निकल ही पड़ा, ''फिर भी बच्चों का उपयोग व्यवसाय में करना मेरे गले के नीचे नहीं उतर रहा।''

इस पर जो उत्तर मिला, वह आश्चर्यजनक था। होटल मालिक बोले, ''बच्चों का इस्तेमाल तो हमारे लिए ऐसी अनिवार्यता थी कि जिसके बिना खाना खिला ही नहीं सकते।''

''एक नितांत सुविधा को अनिवार्य आवश्यकता कहना इतने सुंदर होटल की शोभा नहीं बढ़ा रहा है,'' मैं बोल उठा। इस पर जब उन्होंने इसी बात को बलपूर्वक दोहराया, तो मुझे पूछना ही पड़ा कि ऐसी अनिवार्यता आखिर क्या है?

इस पर होटल मालिक ने मुझे समझाया कि साहब, हम तो एक दाम सवा रुपया लेते हैं। आप खाते समय पूड़ी

पर पूड़ी, खीर के कटोरे पर कटोरे माँगते जाएँगे और ये बच्चे नितांत निस्पृहता से, बड़े प्यार से सारी चीजों को ला-लाकर आपको देते जाएँगे। अब इनकी जगह यदि वयस्कों को लगा दिया और आपने दसवीं, ग्यारहवीं या बारहवीं पूड़ी माँगी और कई चक्कर लगाने के कारण उस वयस्क के मन में यह भावना आ गई कि आखिर यह पेटू कितनी पूड़ियाँ खाएगा, तो ऐसी दुर्भावना से खिलाई गई पूड़ी आपके तन को क्या खाक लगेगी? खिलाते समय किसी भी बच्चे के हृदय में ऐसी भावना पैदा होने का प्रश्न ही नहीं उठता और इस तरह उनके द्वारा खिलाया गया भोजन आपके तन को पूरी तरह लगेगा।

होटल मालिक का यह उत्तर सुनकर मैं स्तब्ध रह गया। वह क्या बोल रहा था, उसे देखकर मैं आश्चर्यचकित हो गया।

पल भर में सारा चित्र स्पष्ट हो गया। होटल का एकमात्र उद्देश्य है, लोगों को भोजन कराना। भोजन की शुद्धता, ताजगी तथा भोजन बनानेवालों की भावनाएँ तथा खिलानेवालों की भावनाएँ, सभी का प्रभाव तो खाने पर पड़ता है। आखिर, माँ के हाथ का भोजन सर्वत्र इतना स्वादिष्ट क्यों लगता रहा है? विदित था कि इस होटल मालिक ने भोजन खिलाने के संदर्भ में क्रमशः हर बात का पहले पूरी तरह जायजा लिया और खाद्य सामग्री तथा दाम के अलावा खिलानेवालों की भावना की शुद्धता को भी पूरा महत्त्व दे रखा था। अर्थात्, इस होटल मालिक को होटल की मौलिक सफलता किसमें निहित है उसका संपूर्ण ज्ञान था और वह उसी ज्ञान के अनुरूप अपने होटल को चला रहा था। निस्संदेह, वह बहुत लंबा-चौड़ा मुनाफा नहीं कमा रहा था, परंतु होटल के मौलिक उद्देश्य अर्थात् 'भोजन खिलाने' में पराकाष्ठा की सफलता प्राप्त कर रहा था।

मैं जब उस घरनुमा होटल से बाहर निकला, तो फूल की क्यारी में गड़े बाँस पर कील से लगी खपच्ची पर एक कूँची से लिखे उस होटल के नाम की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए मैंने अपने मित्रों से यही कहा, ''जिस होटल में होटल की मौलिक सफलता इस पराकाष्ठा पर पहुँची हुई है, उस होटल का नाम संसार में कहाँ तक जाएगा, यह तो मैं नहीं जानता, परंतु 15 साल के अंतराल में यह नाम संपूर्ण भारत में सुविख्यात होकर रहेगा, इसमें मुझे किंचित् भी संशय नहीं है।''

अगले 15 साल भी न बीतने पाए थे कि उस होटल के नाम के होटल बंगलौर ही नहीं, दिल्ली, बंबई, कलकत्ता आदि अनेक शहरों में खुल गए और वह देश के एक प्रमुख भोजनालय के नाम से सुविख्यात है।

उस होटल का नाम है 'वुडलैंड्स'।

कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि जिस भी व्यक्ति ने अपने पद, व्यवसाय अथवा उद्योग में क्रमशः उनके उद्देश्य को भरपूर कुशलता से पूरा किया, वह व्यक्ति जीवनपर्यंत न केवल समस्त भौतिक अभावों से स्वयं मुक्त रहा, बल्कि उसने अपूर्व कीर्ति अर्जित की। जे.आर.डी. टाटा कहने को हजारों उद्योगपतियों में एक उद्योगपति ही तो थे, परंतु वे ही अकेले 'भारत-रत्न' की उपाधि से क्यों अलंकृत किए गए? चाहे पुलिस अधिकारी हो या अदना से अदना पुलिस का सिपाही, जिस भी पुलिसकर्मी ने 'न्याय' की भरपूर सेवा की, उसने अपार कीर्ति अर्जित की, क्योंकि पुलिस का निर्माण ही तब किया गया जब कुछ लोगों ने दूसरों पर अन्याय करना प्रारंभ किया। मुझे जीवन में, देखने-सुनने में अत्यंत सामान्य लगनेवाले ऐसे कई अध्यापक मिले हैं जिन्होंने पैसे या तनख्वाह पर ध्यान न देकर अध्यापक के नाते अपने विद्यार्थियों को इतने अद्भुत कौशल से ज्ञानार्जन कराया कि उनका ध्यान करते ही आज भी मस्तक अपने आप उन्हें नमन करके गौरव अनुभव करता है। उन अध्यापकों की कीर्ति अमर होकर रह गई। ऐसे ही अनेक सैन्य बलों में काम करनेवाले सैनिक हैं, डॉक्टर हैं, इंजीनियर हैं, जिन्होंने असाधारण कीर्ति अर्जित की है। इस सभी का मूल मंत्र वही था—'अपने क्षेत्र में मौलिक सफलता को समझना और उसे ही प्राप्त

करना उनके जीवन का ध्येय बना।'

यह एक अकाट्य सत्य है कि भौतिक जगत् में कमाने योग्य अन्य कोई तत्त्व नहीं है, केवल एक ही तत्त्व 'कीर्ति' है और वह कीर्ति केवल वही कमा सकता है, जिसने अपने पद, व्यवसाय अथवा उद्योग के मूल उद्देश्य को पहचाना हो और सतत उसी उद्देश्य की पूर्ति को ही अपनी सफलता का एकमात्र मापदंड माना हो।

स्मरण रहे कि 'कीर्ति ही जीवन है, अपकीर्ति मृत्यु।'

जीवन से जुड़े अनेकानेक अन्य दायित्वों में सफलता

इस क्षेत्र में भी सफलता का एकमात्र मापदंड वही होगा, अर्थात् 'उस दायित्व के मौलिक उद्देश्य की पूर्ति'। दायित्व चाहे पिता का हो, माता का हो, पुत्र का हो, भाई का हो, बहन का हो, रिश्तेदारी का हो, अथवा एक सामान्य नागरिक का हो, प्रत्येक दायित्व का कोई प्रमुख उद्देश्य अवश्य होता है। दृष्टांत के लिए माता अथवा पिता का दायित्व यह है कि अपनी संतान को ऐसी शिक्षा-दीक्षा दी जाए जिससे वह जीवन के हर क्षेत्र में मौलिक सफलता प्राप्त कर सके और अपने अभ्युदय को सुनिश्चित कर सके तथा उसे ऐसा बनाया जाए कि वह इस धरती का बोझ उठानेवाला तो बने, इस धरती का बोझ कभी न बनने पाए। बहुत वेदना होती है जब अच्छे-अच्छे संपन्न परिवारों में पिताओं को यह कहते सुनता हूँ कि ''मेरा जीवन अनेक अभावों से ग्रस्त रहा, मैं नहीं चाहता कि मेरी संतान उन अभावों से ग्रस्त हो। अत: मैं तो अपनी संतान की सारी इच्छाएँ पूरी करने में गौरव अनुभव करता हूँ।'' मानो पिता बनने का उद्देश्य संतानों को अभावों से मुक्त रखना ही हो। ऐसे लाड़-प्यार पानेवाले अनेक बच्चों को मैंने बिगड़ते देखा है। वे शायद इस मूल सत्य से अनभिज्ञ रहते हैं कि जो जितने कष्टों से गुजरने के बावजूद जीवन में उत्साह धारण किए रहता है, उस व्यक्ति का सामर्थ्य उतना ही विराट होता चला जाता है। संपन्न माता-पिता अपने बच्चों को अभावों से मुक्त भले ही रख लें, पर उससे उन बच्चों में जीवन की यथार्थताओं का सामना करने की सामर्थ्य उसी अनुपात में कम होती है। जिस बच्चे को अपूर्व प्यार से मन मारने का सबक नहीं सिखाया जाता, वह बच्चा नैतिक रूप से उतना ही निर्बल होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो गया होगा कि संदर्भ मनुष्य के जीवन का हो, जीविका के साधन का हो अथवा अन्य किन्हीं दायित्वों को पूरा करने का हो, सफलता की मौलिक परिभाषा सभी में केवल एक ही बनी रहती है, अर्थात् अपने तत्कालीन दायित्व के 'उद्देश्य की पूर्ति में सतत रत रहना।'

ऐसी सफलता प्राप्त करने के लिए एक ही मार्ग है—अपने अस्तित्व के उद्देश्य को स्पष्ट पहचानने के उपरांत उसे पूरा करने के लिए जितने भी उप-उद्देश्य पूरे करने हों, उन्हें निरंतर पूरा करते चले जाना। अत:, उप-उद्देश्य चाहे अपने को समर्थ बनाने का हो या जीवनयापन का साधन चुनने का हो, या अपने कार्यक्षेत्र के उद्देश्य को पूरा करने का हो अथवा अवकाश प्राप्त करने के उपरांत वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करके समस्त भौतिक निधियों से अपने को मुक्त रखने का हो या फिर संन्यास आश्रम में प्रवेश करने पर आत्मानुभूति अथवा तत्त्व-ज्ञान अर्जित करने का हो, अनेकानेक उप-उद्देश्य तो जीवन के काल के अनुरूप बदल सकते हैं, परंतु सफलता का स्वरूप तो एक ही रहेगा—'अपने तात्कालिक कर्तव्यों के उद्देश्य की पूर्ति में रत रहना।'

किसी भी फल की प्राप्ति से सफलता को जोड़कर उसे सीमा में बाँधना अनर्थकारी होगा। किसी फल से सफलता को बाँधने का मतलब तो यह होगा कि जिस दिन वह फल प्राप्त हो जाए, उस दिन के बाद का सारा जीवन ही निष्प्रयोजन हो जाना चाहिए। ऐसा होना तो बचे हुए संपूर्ण जीवन के साथ घोर अनाचार ही होगा। वास्तविक सफलता तो जीवनपर्यंत प्राप्त करते रहनेवाली निधि है। उसे जीवन के किसी भी काल से अलग किया ही नहीं जा सकता। वास्तविक सफलता, प्रयासों के अंतहीन सिलसिले की परिकल्पना है, उपलब्धियाँ उन्हीं प्रयासों का

परिणाम हैं। मात्र परिणाम होने के नाते उपलब्धि के उपरांत विश्राम की परिकल्पना तो संभव है, परंतु 'सफलता' में विश्राम का कोई स्थान ही नहीं है। सफलता वृक्ष है, उपलब्धियाँ केवल फल। उपलब्धियों का महत्त्व क्षणिक है, सफलता तो जीवंतता का प्रमाण है। उपलब्धियों का दीर्घकालीन संबंध कीर्ति से हो सकता है, सफलता से नहीं। सफलता की इस परिभाषा के आलोक में जीवन तभी सफल माना जाएगा, जब व्यक्ति अपने जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करे।

यह तो संभव है कि सफल जीवन बिताते हुए अनेकानेक भौतिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों के अंबार लगते चले जाएँ, परंतु जो बात बहुत स्पष्ट रूप से समझनी है, वह यह कि इन उपलब्धियों के अंबारों से सफलता का कोई वास्तविक स्थायी संबंध नहीं रहता। सफलता का संबंध हर क्षण में होनेवाले कर्तव्यों के उद्देश्य की पूर्ति से ही है। उसके पूरे होते ही 'सफलता' को अगले क्षण के उद्देश्य से अपना संबंध जोड़ना होता है। इन क्षणों में प्राप्त होनेवाले फलों से व्यक्ति अपना संबंध जोड़ ले, वह अलग बात है, परंतु उससे सफलता का क्षणिक के अतिरिक्त कोई स्थायी संबंध नहीं रह सकता।

इसीलिए किसी व्यक्ति की सफलता केवल उसके द्वारा प्राप्त उपलब्धियों के आधार पर करना भूल होगी। यह भूल कितने ही व्यापक रूप में होने लगे, फिर भी रहेगी भूल ही। इतना अवश्य है कि निरंतर ऐसी भूल करनेवाला चाहे व्यक्ति हो अथवा समाज या राष्ट्र, वह दिव्य नहीं बन सकता। जिस राष्ट्र को, जिस समाज को, जिस व्यक्ति को वास्तव में दिव्य बनना है, उसे 'उपलब्धियों' और 'सफलता' के इस मौलिक अंतर को अंगीकार करना ही होगा।

किसी बल्ब की सफलता राष्ट्रपति भवन अथवा तिरुपति के मंदिर में लगने में निहित नहीं है। उसकी सफलता लाखों रुपयों के झाड़-फानूस में लगने में भी निहित नहीं है। और न ही वह किसी गरीब मजदूर के कमरे में लगे होने पर असफल घोषित किया जा सकता है। इतना ही नहीं, वह बल्ब दस हजार घंटे जला, यह उसकी उपलब्धि हो सकती है, सफलता नहीं। उसकी मौलिक सफलता का एकमात्र प्रमाण यही रहेगा कि वह इस क्षण प्रकाश दे रहा है या नहीं? उसकी सफलता केवल सतत प्रकाश देने में निहित है, क्योंकि उसका अस्तित्व केवल प्रकाश देने के लिए ही है। जब तक वह प्रकाश देता रहेगा, वह सफल रहेगा। वह असफल तभी घोषित होगा, जब वह फ्यूज हो जाए और प्रकाश देने में असमर्थ हो जाए।

एक मधुमक्खी चाहे छोटे-से-छोटे छत्ते में रहे, चाहे बड़े छत्ते में, वह छत्ता किसी महल में लगा हो या जंगल में हो, मधुमक्खी के जीवन की सफलता तो केवल मधु का भंडार एकत्रित करने में ही निहित है। अब यदि कोई सौ-पचास मधुमक्खियों को पकड़कर, प्रशिक्षण देकर बहुत से करतब करना सिखा दे, तो वह मधुमक्खी अच्छे मनोरंजन का साधन भले ही बने, पर एक सफल मधुमक्खी नहीं कहला सकेगी। जो 'मधु' ही न लाए, वह 'मधुमक्खी' कैसी?

ठीक इसी तरह, भौतिक जगत् में मनुष्य ने जो भी अपने जीवन-यापन का साधन चुना है, उसके अंतर्गत किए गए प्रयासों की सफलता केवल उस कार्यक्षेत्र के उद्देश्य को पूरा करने में ही निहित है, अन्य कहीं भी नहीं। हर क्षेत्र का प्रत्येक पद किसी उद्देश्य-विशेष की पूर्ति के लिए सृजित किया जाता है और उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ कर्तव्य निर्धारित होते हैं। उन समस्त कर्तव्यों का एक ही प्रयोजन होता है और वह है उस पद के उद्देश्यों को पूरा करना। उन्हीं को पूरा करने में ही संपूर्ण सफलता निहित है। पुलिस का निर्माण केवल न्याय और सुरक्षा प्रदान करने के लिए किया गया था। अत: एक पुलिस सेवी की सफलता हर वर्ग के लिए न्याय और सुरक्षा सुनिश्चित करने में ही निहित होगी। अपार धनोपार्जन, उत्तम नियुक्तियाँ, उत्कृष्ट वार्षिक प्रविष्टियाँ, अपने बच्चों का पालन-

पोषण, अपने मूल्यों को सुरक्षित रखना अथवा उच्चतम पद आदि की प्राप्ति, किसी भी पुलिस सेवी की सफलता के द्योतक कभी नहीं हो सकते। एक होटल की सफलता यात्रियों के सुख और भोजन की उत्तमता में ही निहित होगी, न कि उसकी वार्षिक बैलेंस-शीट में अभूतपूर्व लाभ घोषित करने में। एक विद्यार्थी की सफलता उसके अपने शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आत्मिक तथा कलात्मक विकास एवं ज्ञानार्जन के उद्देश्यों को पूरा करने में ही निहित होगी, न कि टॉप करने में अथवा बड़े राजनीतिक नेता अथवा खिलाड़ी बनने में। किसी भी सत्ताधारी की सफलता अपने देश को सुरक्षित रखने, न्याय करने, देशवासियों को पुरुषार्थी एवं स्वावलंबी बनाने तथा उन्हें हर दृष्टि से 'स्व' के अधीन अर्थात् स्वाधीन बनाने में निहित है, न कि सत्ता में बने रहने में। एक अध्यापक अथवा गुरु की सफलता अपने अधीनस्थ प्रत्येक छात्र के चतुर्मुखी विकास तथा ज्ञानार्जन को सुनिश्चित करने में निहित होनी होगी, न कि ट्यूशन से प्राप्त होनेवाले द्रव्य के स्तर में, आदि-आदि।

सफलता के इस निर्विवाद स्वरूप की कसौटी पर समाज में अनेकानेक गतिविधियों में लगे लोगों का यही अंकन किया जाए, तो स्वत: विदित हो जाएगा कि सभी क्षेत्रों को मिलाकर वास्तविक रूप से सफल लोगों की गिनती किसी बड़े शहर में भी दस तक नहीं पहुँचेगी। सोचने की बात है कि जिस राष्ट्र अथवा समाज में असफल लोगों की भरमार हो, उस राष्ट्र अथवा समाज का भविष्य क्या हो सकेगा? इसी के विपरीत यदि कल्पना की जाए कि जो भी व्यक्ति जहाँ नियुक्त है, वहीं वास्तविक सफलता के पूरे स्वरूप को प्राप्त कर रहा है, तो उस व्यक्ति की, उस समाज की तथा उस राष्ट्र की गति क्या बनेगी? कल्पना मात्र से एक अद्भुत रोमांच हो जाता है।

समाज के प्रत्येक क्षेत्र में तथा प्रत्येक क्षेत्र की प्रत्येक गतिविधि किसी उद्देश्य विशेष को लेकर शुरू की गई थी, परंतु कालांतर में मनुष्य को छलावा देनेवाले तत्त्वों की संख्या इस तरह बढ़ती गई कि मनुष्य अपने कर्तव्य-क्षेत्र के उद्देश्यों को विस्मृत कर बैठा। फलस्वरूप, उस गतिविधि की सार्थकता ही समाप्त हो गई। वह गतिविधि, जो मानव समाज के हित के लिए आरंभ की गई थी, इस तरह मानव समाज के लिए एक अभिशाप बनकर रह गई। वह गतिविधि शिक्षा-जगत् से संबंधित हो अथवा प्रशासन से, न्यायतंत्र से संबंधित हो अथवा पत्रकारिता से, स्वास्थ्य-सेवाओं से संबंधित हो अथवा अभियांत्रिकी से, वाणिज्य से संबंधित हो या उद्योग से, प्रत्येक राष्ट्रवासी आज जो असहनीय बोझ अपने कंधे पर ढोते हुए कराह रहा है, वह बोझ वास्तव में राष्ट्र में व्याप्त असंख्य असफल लोगों की असफलता का ही बोझ है। जिस दिन से, जिस क्षण से, प्रत्येक राष्ट्रवासी अपने को वास्तविक रूप में सफल बनाने के लिए उद्यत हो जाएगा, उसी क्षण से इस संपूर्ण राष्ट्र का चित्र एक दिन में पलट जाए, तो विस्मय की बात न होगी।

यहाँ एक प्रश्न का उल्लेख करना संभवत: युक्तिसंगत होगा, क्योंकि उसका सीधा संबंध सफलता की मौलिक परिभाषा से है। प्रश्न केवल यह था कि हिंदू-दर्शन में मनुष्य की योनि में तो अनेक बार पुनर्जन्म की परिकल्पना की गई है, परंतु किसी भी अन्य योनि में जीव का पुनर्जन्म होने की कथा का उल्लेख कहीं नहीं मिलता, ऐसा क्यों है? सफलता की मौलिक परिभाषा समझ लेने से इस प्रश्न का उत्तर आसानी से मिल जाता है—अन्य समस्त योनियों के जीव स्वयं प्रकृति से प्रेरित होकर नितांत निरालस्यता से तथा हर मोह से परे रहकर अपने अस्तित्व के उद्देश्य की पूर्ति में निरंतर रत रहते हैं। अत: उस योनि के दायित्वों को पूर्ण सफलता से निभाने पर दूसरी योनियों में क्रमश: उन्नत होते जाते हैं। एक मनुष्य योनि ऐसी है जिसमें मनुष्य मायाजाल में फँसकर अपने जीवन के उद्देश्यों से विमुख होकर जीता है तथा असफल होता जाता है। अत: उसे मनुष्य योनि में बार-बार जन्म लेना पड़े तो विस्मय कैसा? जो मनुष्य मानव-जीवन के उद्देश्यों को पूर्ण करता हुआ जीवन बिताएगा, वह अनिवार्य रूप से जीवन के उस दिव्य फल 'मोक्ष' को अनायास प्राप्त करेगा क्योंकि इसी फल को प्राप्त करने हेतु उसे मनुष्य शरीर मिला था।

आवश्यकता है तो केवल इतनी कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों की ओर देखना बंद करके केवल अपना परम स्वार्थ देखे—अर्थात्, केवल अपने को परम सफल बनाने के लिए कृतसंकल्प हो, अपने स्थान के मौलिक उद्देश्य को पहचाने और फिर उस उद्देश्य और केवल उसी उद्देश्य को संपूर्ण सामर्थ्य और संपूर्ण कौशल से पूरा करने में लगा रहे। ऐसा होने पर वह वास्तव में उस परम मूल्य को प्राप्त करेगा, जो मोक्ष रूप 'सफलता' के नाम से जाना जाता है तथा जिस मोक्ष को प्राप्त करने के बाद अन्य कुछ भी प्राप्त करने की न तो आवश्यकता ही रह जाती है और न ही इच्छा। इतना ही नहीं, कोई भी व्यक्ति जिस-जिस पद, जिस-जिस स्थान पर पहुँचता जाए, यदि वह सतत अपने दायित्वों के उद्देश्य की पूर्ति में रत रहेगा, तो जीवनपर्यंत उसे कैसी भी भौतिक चीजों का अभाव छू नहीं सकेगा, क्योंकि प्रकृति का यह विधान है कि जो वास्तविक सफलता प्राप्त करता है, वह संपूर्ण जीवन अभावों से रहित बिताएगा। वास्तविक सफलता प्राप्त होने पर ही व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र दिव्य बन सकता है।

अतः, माँ भारत का कहना है—

''ऐ मेरे बच्चे! निस्संदेह विज्ञान ने अभूतपूर्व प्रगति की है। वह प्रगति इनसान के लिए वरदान तभी बन सकती है, जब उससे प्राप्त होनेवाले फलों और उपकरणों के छलावों से मनुष्य अपने को बचाकर रखे। अभी तो 'सफलता' का मुखौटा लगाकर केवल धन, ख्याति और प्रभुसत्ता ही प्रकट हुए हैं, आगे तो और न जाने कितने तत्त्व सफलता का मुखौटा पहनकर तुझे मोहित करने के लिए प्रकट होंगे। याद रख, सफलता का केवल एक ही रूप है, दूसरा संभव नहीं है। वास्तविक सफल्ता किसी भी फल की प्राप्ति में निहित नहीं है। वह तो केवल अपने अस्तित्व के उद्देश्य को पूरा करने में सतत रत रहने में ही निहित है। इसी सफलता को जीवन के प्रत्येक दिन, प्रत्येक क्षण में सुनिश्चित करना है। तुझे तो हर क्षण परम सतर्क रहना है और अपने जीवन-यापन के साधन में ही नहीं, अपितु सारे ही दायित्वों में निहित मौलिक उद्देश्य को कभी भी विस्मृत नहीं होने देना है। उसी उद्देश्य की पूर्ति में ही तेरी वास्तविक सफलता निहित है। उसी से तेरा तथा मेरा, दोनों का ही अभ्युदय सुनिश्चित किया जा सकता है। स्मरण रख कि कितना ही दिव्य रूप क्यों न अर्जित कर ले, जीवन-यापन का साधन अंततः मात्र साधन है, और साधन ही रहेगा, उसे साध्य बनाने की भयंकर भूल कभी मत करना। परम शक्तिमान, परमपिता सदा तेरे साथ है।''

❑

दिव्य मानव बनने की कुंजी

हमारे पूर्वजों में अनेक असाधारण पुरुष जन्मे हैं। पिछली शताब्दी ही क्या, इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भी ऐसी विभूतियों की कमी नहीं रही। पर आज वह प्रतिभा कहाँ लुप्त हो गई? क्यों लुप्त हो गई? ये अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं, जिनका उत्तर खोजना अत्यंत आवश्यक है।

मानव की वह शक्ति, वह गरिमा, वह परम आत्म-विश्वास, शौर्य, पराक्रम, सामर्थ्य, वह साहस, वह उत्साह सब कब, कैसे लुप्त हो गए? अपूर्व पुरुषार्थवाला मनुष्य इतना निर्बल, इतना असहाय, इतना दरिद्र, इतना व्याकुल, इतना दीन, इतना पीड़ित क्यों व कैसे हो चला?

स्पष्ट है कि मानव जिन मार्गों पर चलकर दिव्य बनता था, उन मार्गों को प्राप्त करने की कुंजी कहीं खो गई है। आज के युग में सामान्य प्राणी के पास इस पहलू पर विचार करने तक की जिज्ञासा नहीं दिखाई पड़ती। जिन थोड़े से विचारशील व्यक्तियों के अंदर जिज्ञासा है भी, उनको समय नहीं मिल पाता जो सोचकर विश्लेषण कर सकें कि आखिर मनुष्य जाति को और खास तौर पर माँ भारत के पुत्रों को क्या हो गया जो इस काल में दिव्य महामानव तो दूर, एक अच्छे स्तर के मानव के दर्शन होना भी इतना दुर्लभ होता जा रहा है।

मानव को जहाँ भौतिक उपलब्धियों में आशातीत सफलताएँ मिली हैं, वहाँ सारा संसार यह स्वीकार कर रहा है कि मनुष्य की कोई ऐसी अमूल्य निधि अवश्य खो गई है कि जिसके अभाव में वह मानवता से दूर, सुदूर होता चला जा रहा है।

वह निधि क्या है?

जहाँ-तहाँ यही सुनने को मिलता है कि पिछले जमाने में लोग बहुत दिव्य होते थे। ऐसे चरित्रवान होते थे कि उन पर सारा राष्ट्र सदियों तक नाज करता रहे। पिछले जमाने के चलन को ही श्रेष्ठ मानकर बहुधा आज के कुछ लोग रूढ़िग्रस्त होने लगते हैं।

पिछले युगों की गरिमा को पुन: पाने के लिए ऐसे ही कुछ व्यक्ति पुरातनवादी बन जाते हैं और उसी में कल्याण समझने लगते हैं। उनका तर्क होता है कि हमारे पूर्वज मंदिर में बैठकर शांति और शक्ति प्राप्त करते थे, तो हमें भी मंदिर जाना चाहिए, किंतु वे पूर्वज मंदिर में किस भावना से बैठते थे, यह वे बताने में असमर्थ रहते हैं। अत: आज की नई पीढ़ी को, जिसे मंदिर में कुछ नहीं मिलता, वहाँ जाने से कतराती है, वे ही बुजुर्ग कोसने लगते हैं। वे बालक तथा किशोर, जो आदर्शों के लिए तरस रहे हैं, उन्हें स्पष्ट रूप से मौलिक मान्यताओं के, मौलिक आस्थाओं के दर्शन कराने के बजाय सद्भावनायुक्त भद्र पुरुषजन केवल पुरानी आस्थाओं का परिचय ही करा कर रह जाते हैं। अमुक आचरण हमारे पूर्वजों के लिए हितकर था अत: हमें भी वह मान्य होना चाहिए, ऐसे परंपरावादी विचार, सच्ची आस्थाओं तथा दिव्य विचारों के भूखे किशोरों को ग्राह्य नहीं हो पाते। स्थिति और विषम तब हो उठती है, जब उन्हीं बुजुर्गों का अपना आचरण भी उन स्तरों तक नहीं पहुँचता। अंतत: अनुकरणीय आचरण का पूर्ण अभाव होने के कारण उन किशोरों के हाथ पाखंड ही लग पाता है। इसी कारण से ऊपरवाली पीढ़ी के प्रति उनके मन में सम्मान तथा विश्वास धीरे-धीरे घटता जा रहा है। तभी बुजुर्गवार 'आज के चलन' से हर प्रकार के हतोत्साहित और हताश होकर आहें भरते हैं कि ''जमाना कहाँ रसातल को चला जा रहा है!'' वे नहीं जानते कि आज का युगद्रष्टा युवक विचारशील है। वह अंधविश्वासी नहीं हो सकता। वह हर आस्था के लिए वजह पूछता है। हर आदर्श को तोलता है और तथ्यहीन मूल्यों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।

यह हमारा और हमारे देश का परम सौभाग्य है कि हमारा युवा वर्ग आँख मूँदकर चलने को तैयार नहीं है, केवल उस सत्य को अपनाने को तैयार है जो तर्क तथा सत्य पर आधारित हो।

हमारे पूर्वज अथवा इस संसार की पुरातन सभ्यताएँ कैसे इतनी ऊँचाइयों तक उठी थीं, उसके असली रहस्य को पहचानने में हम नितांत असफल रहे हैं। उसी रहस्य को सही तौर पर जान लेने से ही आगामी सफलताओं की असली कुंजी को हासिल किया जा सकता है।

वह विचित्र रहस्य केवल इतना ही है कि जीवन को कुछ आस्थाओं और कुछ मूल्यों के आधार पर ही अनिवार्य रूप से चलाया जाए, तभी व्यक्ति दिव्य बन सकता है। किसी भी काल के, किसी भी देश के मानव-रत्नों की जीवनी का विश्लेषण करने पर बहुत स्पष्ट रूप से विदित होने लगता है कि दिव्य व्यक्तियों अथवा दिव्य समाजों का निर्माण जब-जब हुआ, तब-तब समाज के लोगों में यही गुण और लक्षण विद्यमान थे।

वे मौलिक मूल्य मानव की जन्मजात कुछ मौलिक प्यासों से संबंधित हैं। जहाँ मौलिक आस्थाओं और मूल्यों पर से विश्वास घटना शुरू हुआ, वहीं से उस सभ्यता का पराभव भी शुरू हो गया। जब-जब मानव ने अपने तात्कालिक भोगों के लिए मौलिक मूल्यों को तोड़ना-मरोड़ना शुरू किया, तब-तब वह मानव-समाज पतन को प्राप्त हुआ।

आज के युग में पहले से शूरवीर, सामर्थ्यवान और पुरुषार्थी व्यक्तियों का अभाव मुख्यत: इस कारण से है कि इस काल में श्रेष्ठ पदों (वे पद चाहे प्रशासनिक हों या राजनीतिक, सामाजिक हों या संस्थागत) पर आसीन व्यक्ति मूल्यों से समझौता करना सीख गए हैं। श्रेष्ठ जन द्वारा भी जब मौलिक आस्थाओं और मान्यताओं को अवसरवाद की वेदी पर बलि चढ़ाते देखा जाता है, तो सामान्य व्यक्तियों में उन आस्थाओं एवं मान्यताओं पर से विश्वास उठने सा लगता है। धीरे-धीरे वे मान्यताएँ धूमिल होने लगती हैं तथा जब यह प्रक्रिया व्यापक रूप धारण कर लेती है, तभी समाज में शौर्यवान, उदार, उत्साही, आत्म-विश्वास से भरपूर, विवेक एवं पुरुषार्थी व्यक्तियों का व्यापक अभाव होने लगता है।

आज के युग में प्रतिभाशाली, असाधारण व्यक्तियों का अभाव एकाएक नहीं हो गया। हमारे देश में स्वतंत्रता प्राप्त होने के उपरांत मान्यताओं और आस्थाओं का जो व्यापक विघटन हुआ है, वही एकमात्र कारण है कि आज समस्त भारत के असाधारण व्यक्तियों की गिनती करने के लिए एक हाथ की उँगलियाँ भी ज्यादा हो गई हैं।

अत: यदि एक बार फिर इस पुनीत भूमि पर विवेकानंद, तिलक, महात्मा गांधी, रवींद्रनाथ टैगोर सरीखे सशक्त चरित्रों का निर्माण देखना है, तो हर व्यक्ति को अपना आचरण, अपनी वाणी तथा अपनी विचारधारा को प्रमाणित, शाश्वत तथा मौलिक आस्थाओं एवं मान्यताओं के अनुरूप ढालना पड़ेगा। युग-पुरुष जन्मजात नहीं होते हैं। वे अपना निर्माण स्वयं करते हैं।

शाश्वत मान्यताओं तथा आस्थाओं को जानना है, तो उसके लिए अन्यत्र कहीं भी जाने अथवा ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। वे तो शाश्वत सत्य पर आधारित हैं, उस शाश्वत सत्य तक प्रत्येक व्यक्ति की पहुँच है। आवश्यकता है तो केवल इतनी कि परखे हुए अपने ही सद्विवेक के अनुरूप, अपने विचारों को, अपनी वाणी को तथा अपने आचरण को ढाला जाए। स्वयं के सद्विवेक के प्रकाश में अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया जाए तथा कभी भी प्रलोभन, भय अथवा आलस्य से ग्रस्त होकर अपने विवेक के प्रतिकूल किसी भी व्यक्ति या परिस्थिति से समझौता न किया जाए।

महामानव बनने के अन्य सरल मार्ग

जब अपने विवेक के प्रकाश में हम संसार की दिव्य विभूतियों के जीवन पर दृष्टिपात करते हैं, तो पाते हैं कि दिव्य मानव बनने के तीन स्पष्ट मार्ग प्रत्येक प्राणी को उपलब्ध थे, उपलब्ध हैं और सदा ही हर काल में उपलब्ध रहेंगे। उन तीनों मार्गों में से कोई भी व्यक्ति किसी एक पर भी चल पड़े, तो संसार की कोई शक्ति उसे दिव्य महामानव बनने से नहीं रोक सकती।

पहला मार्ग

आदिकाल से महापुरुषों द्वारा निर्मित यह मार्ग वही मार्ग है, जिसमें व्यक्तियों ने प्रकृति द्वारा केवल मनुष्य को दिए गए उस अद्भुत अधिकार का उपयोग किया जिसके अधीन व्यक्तियों ने अपनी व्यक्तिगत सात शक्तियों में से किसी एक शक्ति का विकास पराकाष्ठा के स्तरों तक कर डाला। वे सात शक्तियाँ हैं—

1. शारीरिक, 2. मानसिक, 3. नैतिक, 4. आध्यात्मिक, 5. कलात्मक,
6. संवेदनशीलता तथा 7. विवेक।

(1) शारीरिक शक्ति का विकास जब चरम सीमा तक किया गया, तो कोई व्यक्ति गामा पहलवान अथवा मुहम्मद अली, तो कोई सर डॉन ब्रैडमैन बना।

(2) मानसिक शक्ति के चरम विकास के परिणामस्वरूप न्यूटन, आइन्सटाइन, रामानुजम और सी.वी. रमन जैसे महामानवों की प्रतिष्ठा हुई।

(3) नैतिक शक्ति का सृजन जब पराकाष्ठा तक किया गया, तो मानव सम्राट् अशोक, महाराणा प्रताप, तिलक, अकबर, महात्मा गांधी, जॉर्ज वाशिंगटन, मार्टिन लूथर किंग, खान अब्दुल गफ्फार खान आदि के नाम से विश्व में अमर हो गए।

(4) आत्मिक शक्ति विकास जब पराकाष्ठा तक पहुँचा, तो वही मानव शंकराचार्य, कबीर, महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहंस, महात्मा बुद्ध, महावीर, स्वामी दयानंद सरस्वती, हजरत मुहम्मद, ईसा मसीह, गुरु नानक आदि के नामों से समस्त विश्व के लिए एक प्रकाशपुंज बनकर गगन पर छा गया और कोटि-कोटि मनुष्यों के जीवन को सार्थक बना गया।

(5) कलात्मक शक्ति का जब विकास चरम सीमा पर पहुँच गया, तो वही मानव तानसेन, बीथोवन, रवींद्रनाथ ठाकुर, ओंकारनाथ ठाकुर, कालिदास, वड्र्सवर्थ, कीट्स, जयशंकर प्रसाद, हुसैन, लियोनार्डो डा विंची, लता मंगेशकर आदि नामों से विश्वविख्यात हुआ।

(6) संवेदनशीलता की शक्ति को पराकाष्ठा तक विकसित करके जोन ऑफ आर्क, डॉ. कोटनीस, महात्मा गांधी, मदर टेरेसा आदि के नाम से अनेक विश्व-विभूतियाँ बनीं।

(7) विवेक शक्ति का दिव्य स्तरों तक विकास करनेवाले महामानवों में मनु, पतंजलि, प्लैटो, रूसो, शैपनहावर, स्वामी रामतीर्थ, कबीर, विवेकानंद सरीखे अनेक नाम विश्वविख्यात हुए।

अत: जब-जब किसी मनुष्य ने परिस्थितियों और वातावरण से हार माने बिना अपनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आत्मिक, कलात्मक, संवेदनशील अथवा विवेक आदि अन्य मानवीय शक्तियों में से किसी एक का भी सृजन पराकाष्ठा के स्तरों तक कर डाला, वह व्यक्ति विश्व में महामानव की श्रेणी में पहुँच गया।

दूसरा मार्ग

अब यदि कोई सोचे कि अपनी शक्तियों में से किसी शक्ति का विकास करने में वह असमर्थ रहा और जीवन ऐसे मोड़ पर आ गया कि उनमें से किसी भी शक्ति को पराकाष्ठा तक पहुँचाने की उसमें सामर्थ्य नहीं है, तो फिर वह

दिव्य मानव कैसे बन सकता है?

सर्वप्रथम तो यह कि शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास शरीर की आयु पर अवश्य निर्भर करता है और यदि वह उपयुक्त आयु पर प्रारंभ न किया जाए, तो बाद में उसे करना दुर्लभ हो जाता है। परंतु अन्य सभी शक्तियों के विकास की सामर्थ्य हर व्यक्ति में प्रत्येक अवस्था में होती है, अत: किसी क्षण से प्रारंभ करके वह गगनचुंबी ऊँचाइयों तक पहुँच सकता है। फिर भी यदि कोई दिव्य मानव बनने का सरल मार्ग ढूँढ़ रहा हो, तो उसे यह दूसरा मार्ग भी उपलब्ध है।

कोई लड़का कितना दीन-हीन क्यों न हो, पर यदि कोई करोड़पति उस युवक को गोद ले ले, तो उस परिवार का सदस्य बनते ही समाज में उसकी गणना भी बड़े आदमियों में होने लगेगी। अर्थात् किसी अत्यंत छोटे का अभिन्न रिश्ता किसी बड़े घर से हो जाए, तो उसकी गणना भी बड़े लोगों में हो जाती है।

ठीक इसी प्रकार कोई व्यक्ति कितना ही साधारण क्यों न हो, पर यदि उसने अपने भौतिक जीवन का रिश्ता किसी 'दिव्य लक्ष्य' से कर डाला है, तो वह व्यक्ति अनायास ही एक दिव्य मानव कहलाने का अधिकारी बन जाता है।

रानियाँ और महारानियाँ तो अनगिनत हुईं, पर रानी लक्ष्मीबाई और रानी पद्मिनी दिव्यता प्राप्त कर गईं, क्योंकि उन्होंने अपने जीवन का रिश्ता एक दिव्य लक्ष्य—माँ भारत को स्वतंत्र कराने से जोड़ डाला था। इसी तरह चंद्रशेखर आजाद, भगत सिंह या सुभाषचंद्र बोस भी अपने जीवन का रिश्ता अपनी भारत माँ को स्वतंत्रता दिलाने के दिव्य उद्देश्य से जोड़कर अमर हो गए। जोन ऑफ आर्क, हैलेन कैलर अथवा मदर टेरेसा जैसी अत्यंत साधारण महिलाएँ अपने जीवन का रिश्ता दु:खी मानव की सेवा-सुश्रूषा जैसे दिव्य लक्ष्य से स्थापित करके विश्व में दिव्य महिलाओं की श्रेणी में प्रवेश कर गईं। राजे-महाराजे न जाने कितने हुए, पर 'न्याय' जैसे दिव्य लक्ष्य के साथ अपने जीवन का रिश्ता जोड़कर राजा हरिश्चंद्र, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, अकबर और जहाँगीर अमर मानव बन गए। 'अहिंसा' के दिव्य उद्देश्य के साथ अपने जीवन का रिश्ता जोड़कर विश्व को अहिंसा का संदेश देनेवाले महात्मा बुद्ध, सम्राट अशोक, महात्मा गांधी, मार्टिन लूथर किंग विश्व के महामानव कहलाए। इसी प्रकार मानव के अभ्युदय के दिव्य उद्देश्य से अपने जीवन को जोड़नेवाले अनगिनत ज्ञानी, महात्मा, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक एवं समाज वैज्ञानिक, महापुरुषों की श्रेणी में पहुँच गए।

अत: इस दूसरे मार्ग द्वारा सामान्य-से-सामान्य व्यक्ति भी यदि अपने जीवन का रिश्ता किसी 'दिव्य लक्ष्य' से कर ले, तो संसार की कोई शक्ति उसे एक दिव्य मानव बनने से रोक नहीं सकेगी। यह प्रकृति का विधान है कि किसी भी व्यक्ति के भौतिक जीवन का लक्ष्य जितना दिव्य होगा, वह व्यक्ति स्वयं भी उतनी ही दिव्यता प्राप्त करेगा।

तीसरा मार्ग

अब कोई कह सकता है कि यदि किसी में न तो कोई शक्ति ही दिव्य स्तरों की हो और न ही वह इतनी सामर्थ्य रखता हो कि अपने जीवन का रिश्ता किसी दिव्य लक्ष्य से कर सके। अर्थात्—यदि वह एक मामूली सिपाही है, मजदूर है, धाय है, तो क्या वह जीवन में दिव्य मानव नहीं बन सकता?

मानव जीवन की सबसे अद्भुत कुंजी इस तीसरे मार्ग के द्वार में लगी हुई है। इस मार्ग को अपनाकर छोटे-से-छोटा व्यक्ति भी महान् बनने की सामर्थ्य रखता है।

चंद रुपयों की एक ढिबरी आती है, जो हवाई जहाज के एंजिन के फ्लाई व्हील में लगती है। यदि वह ढिबरी अपना कार्य छोड़कर अलग हो जाए, तो हवाई जहाज का एंजिन जाम हो जाए और वह हवाई जहाज सैकड़ों

यात्रियों के लिए मौत का गोल बन जाए। परंतु कोई विचार करके स्वयं बता सकता है कि जब तक चंद रुपयों की वह प्राणहीन ढिबरी अपने कर्तव्य को संपूर्ण कौशल, संपूर्ण सामर्थ्य से निभा रही है, उसकी कीमत क्या होगी? विदित है कि उसकी कीमत स्वत: हवाई जहाज की कीमत के बराबर ही नहीं, अपितु अमूल्य हो लेगी, क्योंकि जहाज में बैठे यात्रियों के प्राणों का मूल्य भला कौन आँक सकता है? अत: जब एक निर्जीव ढिबरी अपने कर्तव्य को संपूर्ण सामर्थ्य से निभाती है, तो उसकी कीमत इतनी उठ जाती है कि आँकी नहीं जा सकती, तब कोई व्यक्ति कितना ही अदना क्यों न हो, कितने ही छोटे-से-छोटे काम में क्यों न लगा हो, वह भी अपने को दिव्य बनाने का सामर्थ्य रखता है। शर्त केवल इतनी है कि वह अपने कर्तव्यों का संपादन संपूर्ण कौशल तथा संपूर्ण सामर्थ्य से सतत अपने पुरुषार्थ की सीमा तक करता चला जाए।

प्रत्येक व्यक्ति को दिव्य काम करने का अवसर मिले, यह संभव नहीं पर प्रत्येक व्यक्ति साधारण काम को दिव्यता से कर डाले, यह नितांत संभव है और ऐसा करना केवल उस व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है।

शिशु उदयसिंह की आया पन्ना एक मामूली सी स्त्री थी, किंतु वह अपने असाधारण कर्तव्य-पालन तथा त्याग से स्मरणीय बन गई। उसने अपने कौशल से उदयसिंह की प्राण-रक्षा की थी। जब दुश्मन की फौजें दुर्ग में प्रवेश कर गईं, तो तत्काल उसने अपने उसी उम्र के शिशु को उदयसिंह के कपड़े पहना दिए और उदयसिंह को अपने बच्चे के कपड़े पहनाकर आया के कमरे में पलंग कर डाल दिया। फौज के हाथों पन्ना धाय का पुत्र मारा गया और शिशु महाराणा उदयसिंह बच गया। संपूर्ण कौशल और संपूर्ण सामर्थ्य से अपने कर्तव्य को करने से एक सामान्य सी पन्ना धाय महान् बन गई।

अब्दुल हमीद लाखों सिपाहियों की तरह भारत की फौज का एक साधारण सिपाही था। खेमकरन में उस छोटे से सिपाही ने अपना कर्तव्य अद्‌भुत कौशल और सामर्थ्य से किया, जिससे वह दिव्य बन गया।

सारांश यह है कि दिव्य मानव बनने का यह तीसरा मार्ग प्रत्येक छोटे-से-छोटे, अदना-से-अदना व्यक्ति को भी उपलब्ध है। शर्त केवल इतनी है कि उसका जो भी काम है, उसे वह असाधारण कौशल से, संपूर्ण सामर्थ्य से करता चला जाए। कालांतर में वह विश्व में विख्यात हो पाए या नहीं, परंतु अपने समाज में उसकी गिनती दिव्य मानवों में अनायास होने लगेगी, इसमें किंचित् भी संशय नहीं।

अत: माँ भारत का कहना है—

''ऐ वत्स! न जाने कितने व्यक्ति लाखों कीट-पतंगों की तरह पैदा हुए और चल बसे, पर कुछ ही दिव्य मानव बनकर संसार के लिए ऐसे चरण-चिह्न छोड़ गए कि जिनसे विश्व को मार्गदर्शन मिला। जीवन जीने योग्य बनाना है, तो उसे किन्हीं मूल्यों पर आधारित होकर चलना पड़ेगा। तात्कालिक स्वार्थ के लिए उन मूल्यों को तोड़ने-मरोड़ने के प्रलोभन से अपने को सर्वथा मुक्त रखना ही होगा। फिर दिव्य मानव बनने के लिए एक नहीं, तीन स्पष्ट और सुलभ मार्गों की कुंजी मिल जाने के उपरांत तू दिव्य पुरुष बन, दिव्य नारी बन और दिव्य बनकर न सिर्फ अपनी जन्म देनेवाली माँ की कोख को धन्य कर, अपितु मुझे भी गौरवान्वित कर।''

❑

महाशक्ति चरित्र

''शक्ति ही जीवन है, निर्बलता मृत्यु।''—यह अमर वाणी मानव-रत्न विवेकानंद की थी।

मृत्यु तो जड़वत है। मृत प्राणी यदि किसी का कुछ भला नहीं कर सकता, तो बुरा करने में भी असमर्थ है। पर निर्बल मनुष्य तो सबसे बड़ी घात अपने ही साथ करता है। वह तो अपने साथियों को भी निर्बल बनाने का कारण बन सकता है। राष्ट्र को अधोगति तक पहुँचा सकता है। अस्तु, निर्बलता मृत्यु से भी अधिक भयंकर है।

जब प्रकृति ने मुनष्य को अपनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि समस्त शक्तियों के स्वत: असीम स्तरों तक विकास करने का विलक्षण अधिकार दे रखा है, यदि फिर भी कोई निर्बल बना रहे, तो उस निर्बलता के अपराध का दायित्व व्यक्ति स्वयं के अतिरिक्त किसी और पर रख सके यह संभव ही नहीं है।

अत: वास्तविकता यह है कि ''शक्ति ही जीवन है, निर्बलता एक निंदनीय अपराध।''

ये वचन संभवत: कुछ कठोर प्रतीत हों, पर ये किसके हैं, यह जानना वांछनीय होगा।

जिसके माथे के आँचल को बलात् खींचा गया हो, जो संसार भर के सामने लज्जित की गई हो तथा कई दशकों के बाद भी जिसकी लाज ढकी न जा सकी हो, ये शब्द उसी माँ, 'भारत' के हैं। जिसके साथ इतना कठोर व्यवहार हो चुका हो, उसके मुख से किंचित् कठोर शब्द निकलें तो उन्हें स्वीकार ही करना होगा।

किसी ने कहा कि ''हर एक की मजबूरियाँ भी तो होती हैं!''

अब यदि 'मजबूरी' के तर्क को स्वीकार कर लिया जाए, तो उन असंख्य लोगों की भी निर्बलता को स्वीकार करना पड़ेगा जो अवैध रूप से पैसा बनाने के लिए 'मजबूर' हैं, जो भ्रष्टाचार करने के लिए 'मजबूर' हैं, जो पत्रकार जान-बूझकर केवल सनसनीखेज बनाने के लिए कभी थोड़ा, तो कभी अधिक, मिथ्या लिखने के लिए 'मजबूर' हैं, जो नेता असंख्य झूठ बोलने के लिए 'मजबूर' हैं, जो कालाबाजारी, चोरबाजारी, तस्करी तथा मौत के नुस्खों को बेचने के लिए 'मजबूर' हैं। मजबूरी का तर्क तो सभी के लिए समान होना पड़ेगा। अंतत: सभी केवल अपनी ही निर्बलताओं से ही तो मजबूर हैं।

कहने को पाषाण युग की अपेक्षा आज का मनुष्य सभ्य माना जाता है। पर संसार में सभ्यता नहीं, शक्ति ही पुजती है। सशक्त देश आज कुछ भी कर लेते हैं, कोई कुछ कहनेवाला नहीं। दुर्बल देशों के वासियों को जीने के भी लाले पड़ रहे हैं। अत: यदि स्वाभिमान से जीना है, तो इस देश को शक्तिशाली बनना ही पड़ेगा।

किसी देश की 'शक्ति' धन, वैभव अथवा ऐश्वर्य में निहित नहीं होती। देश की शक्ति प्रत्येक देशवासी के व्यक्तित्व की शक्ति पर निर्भर करती है। फिर यदि 'शक्ति ही जीवन है' और हमें जीना है, तो प्रत्येक भारतवासी को शक्तिशाली बनना ही होगा। इसका कोई भी विकल्प है ही नहीं।

संपूर्ण राष्ट्र अत्यंत सशक्त बन सके, उसके लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि संसार की विभिन्न शक्तियों में सर्वोपरि शक्ति कौन सी है, जिसे हमें अर्जित करना होगा?

मानव की विभिन्न शक्तियों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि समस्त शक्तियों में सर्वोपरि शक्ति केवल एक ही है : शक्तियों की साम्राज्ञी 'चरित्र की शक्ति'।

इस संदर्भ में एक अजीब विडंबना है। एक ओर तो देश का प्राय: हर व्यक्ति यह कहता पाया जाता है कि कहीं किसी वर्ग में चरित्र नहीं रह गया। दूसरी ओर यदि उसी का कोई भोला-भाला किशोर पुत्र पूछ बैठता है कि ''चरित्र क्या है? मैं क्या करूँ, जिससे मैं अपना चरित्र बना सकूँगा?'' तो इस प्रश्न का उत्तर किसी भी पिता के पास नहीं

मिलता। यह प्रश्न सहस्त्रों अत्यंत विवेकी व्यक्तियों के समक्ष रखा गया है। अध्यापक तथा प्राध्यापकों की बड़ी-बड़ी गोष्ठियों में भी रखा गया। प्राय: सभी इसे सुनकर मौन हो जाते हैं। जो उत्तर देने का प्रयास करते हैं, वे केवल अच्छे चरित्र के लक्षणों का वर्णन करना शुरू कर देते हैं। अच्छे चरित्र के लक्षणों का वर्णन तो हर भारतवासी अपनी माँ के दूध से ही पाता रहा है। कौन सी माँ होगी, जिसने अपने पुत्र के प्रथम झूठ बोलने पर शाबाशी दी होगी? अथवा कौन सी माँ होगी, जिसने अपने पुत्र को, पड़ोसी के यहाँ से कुछ चुरा लाने पर इनाम दिया होगा? सभी ने बचपन से सुना है कि श्रेष्ठ पुरुषों के अमुक लक्षण होते हैं और गिरे हुए व्यक्ति अमुक प्रकार आचरण करते हैं। परंतु फिर भी चरित्र निर्माण किसी व्यापक स्तर का हो सका हो, यह देखने में नहीं आया। इसके विपरीत, पूर्व काल की तुलना में, समाज में चरित्रवान व्यक्तित्व शनै:-शनै: कम ही होते जा रहे हैं।

इसका कारण संभवत: यही रहा कि अधिकांश गुरुजन स्पष्ट रूप से यह नहीं बता पाते कि चरित्र है क्या? इसकी परिभाषा क्या है? इसके निर्माण में कौन-कौन से तत्त्व लगते हैं? इसका निर्माण कैसे होता है? उसके निर्माण में कैसे-कैसे अवरोध आते हैं? क्यों आते हैं? तथा उनको कैसे पार किया जाता है? अथवा, यह कब, कैसे तथा क्यों क्षतिग्रस्त होता है?

अत: यदि यह आवश्यक है कि भारत की प्रत्येक संतान चरित्र-शक्ति का सृजन करके अत्यंत सशक्त व्यक्तित्ववाली बने, तो अनिवार्य हो जाता है कि उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर निकाले जाएँ। विदित है कि जब तक इन प्रश्नों के उत्तर नहीं निकलेंगे, तब तक सामान्य बालक-बालिकाओं से अपेक्षा करना कि वे अपने अंदर चरित्र-शक्ति का सृजन करें, न्यायप्रद न होगा।

थोड़ा सा चिंतन करने पर हम देखते हैं कि चरित्र का संबंध आचरण से है। आचरण, वाणी और कर्म से निर्मित होता है। वाणी और कर्म विचार के अधीन हैं। विचार बुद्धि के अधीन है और बुद्धि कभी तो विवेक के अधीन देखी जाती है तथा कभी अहंकार के अधीन।

अत: चरित्र-निर्माण की क्रिया से जिन-जिन तत्त्वों का संबंध है, वे हैं—

(1) अहंकार, (2) विवेक, (3) बुद्धि, (4) विचार, (5) वाणी तथा (6) कर्म।

प्रत्येक मानव के अंत:करण में कोई आवाज हर समय सलाह सी देती पाई जाती है। यह आवाज, चाहे विवेक की हो, चाहे अहंकार की, हमारे पास बुद्धि के ही माध्यम से आती है। जब यह विवेक के अधीन होकर हमसे आचरण कराती है, तो लोग उसे सदाचरण कहते हैं। जब यही बुद्धि विवेक-विरुद्ध अहंकार के अधीन होकर आचरण कराती है, तो उसे दुराचरण कहा जाता है।

चरित्र-निर्माण की मूल क्रिया को समझने से पहले इन छहों तत्त्वों के बारे में पर्याप्त जानकारी हो जाना आवश्यक होगा—

1. अहंकार एवं 2. विवेक

अहंकार क्या है?

शब्दकोशों में इसके अर्थ आत्माभिमान, गर्व, घमंड तथा आत्मसत्ता आदि दर्शाए गए हैं। परंतु यह वास्तव में जो है, तथा जिस अर्थ में इसका उल्लेख जगह-जगह 'माँ की पुकार' में किया गया है, वह इस शब्दार्थ से बिलकुल भिन्न है। इसे भली-भाँति समझ लेना आवश्यक होगा।

वस्तुत: 'अहंकार' प्रकृति की अधिष्ठात्री शक्ति है। अर्थात् पदार्थ को धारण करनेवाली शक्ति अहंकार ही है। यह

किस तरह पदार्थों को पदार्थता प्रदान करती है, वह इसके मूल को समझने पर स्पष्ट हो जाएगा।

हाइड्रोजन के अणु में एक इलेक्ट्रॉन है, और एक प्रोटॉन। एक निगेटिव चार्ज धारण किए होता है, तो दूसरा पॉजिटिव। प्राकृतिक विधान के अनुसार विपरीत चार्जवाले एक-दूसरे को आकर्षित करते हैं, अत: अन्य किसी बाधा के न होते, दोनों परमाणुओं को एक-दूसरे में विलीन हो जाना चाहिए था, पर ऐसा नहीं होता। इलेक्ट्रॉन प्रोटॉन के चारों ओर केवल नाचता रहता है। विदित है कि कोई शक्ति इन दोनों को मिलने से रोक रही है। भौतिक विज्ञानवाले उस शक्ति, या उन शक्तियों का, जो भी नाम रखना चाहें, रखें, पर वस्तुत: वह शक्ति अन्य कोई नहीं, 'अहंकार' ही है। अब यदि किसी विधि से इन दोनों परमाणुओं को बलात् मिला दिया जाए तो 'अहंकार' की वह शक्ति मुक्त होकर बाहर जाएगी। असंख्य हाइड्रोजन के अणुओं में जब ऐसा करा दिया जाता है तो हाइड्रोजन बम के रूप में जो अत्यंत प्रचंड शक्ति की उत्पत्ति होती है, वह वस्तुत: 'अहंकार' की शक्ति ही है।

इस तरह जब दो परमाणुओं के बीच में अहंकार शक्ति आती है, तो प्रथम पदार्थ के रूप में एक हाइड्रोजन अणु का निर्माण होता है। इसीलिए कहा गया था कि अहंकार पदार्थ को पदार्थता प्रदान करनेवाली शक्ति है। अर्थात् प्रकृति की अधिष्ठात्री शक्ति है।

इसी तरह यूरेनियम के अणु की नाभि में 239 न्यूट्रॉन एवं प्रोटॉन स्थित रहते हैं। उसके सारे प्रोटॉन पॉजिटिव चार्ज के होते हैं, और समान चार्जवाले एक-दूसरे को प्रतिकर्षित करते हैं, अत: इनको एक-दूसरे से दूर हो जाना चाहिए था, पर ऐसा नहीं होता। कोई शक्ति इन सभी पॉजिटिव चार्जवाले परमाणुओं को इकाई बनाए हुए है। वैज्ञानिक उस शक्ति अथवा उन शक्तियों के नाम जो भी रखें, पर वस्तुत: सब मिलाकर यह शक्ति अन्य कोई नहीं, 'अहंकार' ही है। अब यदि किसी भी विधि से यूरेनियम अणु की इस नाभि को तोड़ दिया जाए, तो किए गए टुकड़ों के अनुपात में वह अहंकार-शक्ति मुक्त हो जाएगी। इस तरह परमाणु बम में 'फिशन' द्वारा उत्पन्न होनेवाली शक्ति भी अहंकार ही है।

अस्तु, विदित है कि 'अहंकार' प्रकृति की प्रचंडतम् शक्ति है।

उपर्युक्त से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'अहंकार' की यह सामर्थ्य प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान रहती है। वस्तुत: हर पदार्थ के प्रत्येक अणु तक में अहंकार विद्यमान है।

सामान्यतया, अहंकार में महसूस अथवा अनुभूति करने की शक्ति नहीं होती। अनुभूति करने की सामर्थ्य केवल 'आत्म-तत्त्व' में ही होती है। परंतु प्रकृति की किसी विलक्षण क्रिया से, और यह क्रिया गर्भ में होती है, जब पदार्थों के पिंड, इस शरीर में, आत्म-तत्त्व प्रविष्ट हो जाता है, तो उस शरीर के अहंकार में भी चेतना आ जाती है तथा उसमें भी अनुभूति करने की शक्ति स्वत: सृजित हो जाती है। यह क्रिया वैसी ही है, जैसे सौर्यमंडल में सूर्य के होने मात्र से, चंद्रमा में, अपनी स्वयं की सामर्थ्य न होने पर भी, प्रकाश देने की सामर्थ्य आ जाती है।

इस तरह प्राणियों में अनुभूति करनेवाली दो शक्तियाँ बन जाती हैं। एक 'आत्म-तत्त्व' स्वयं तथा दूसरी 'चेतनामय अहंकार'। और यह 'चेतन अहंकार' फिर आत्मा पर छा जाता है। मनुष्यों में यह आच्छादन पूरी तरह नहीं हो पाता, अत: आत्मा का वह भाग जिस पर 'अहंकार' आच्छादित नहीं है, 'विवेक' के नाम से जाना जाता है।

मनुष्य में अहंकार का विकास कैसे होता है

जब भी मनुष्य की 'बुद्धि' और 'कर्मेंद्रियाँ' अहंकार के अधीन होकर क्रियाशील होती हैं, तो मनुष्य में जिस अद्भुत शक्ति का सृजन होता है, वह 'अहंकार' ही है। अर्थात् जब व्यक्ति अहंकार के आदेशों का पालन करता है तो 'अहंकार' का विकास होता है।

इसके विपरीत जब 'बुद्धि' तथा 'कर्मेंद्रियाँ' विवेक के अधीन होकर क्रियाशील होती हैं, तो जो शक्ति सृजित होती है वह 'नैतिक शक्ति' कहलाती है।

'अहंकार' और 'विवेक' की मौलिक विपरीतता के कारण इनके द्वारा सृजित होनेवाली 'अहंकार शक्ति' और 'नैतिक शक्ति' एक-दूसरे का विलोम होती हैं। एक-दूसरे की काट होती हैं।

इसकी मौलिक प्रकृति चुंबकीय है

जिस तरह, एक लोहे की शलाका, बिजली के तार तथा विद्युत, इन तीन तत्त्वों को एक विशेष प्रकार से सजाने पर विद्युतीय चुंबक की शक्ति सृजित होती है, उसी तरह 'बुद्धि' एवं कर्मेंद्रियाँ के साथ चाहे 'अहंकार' युक्त हो या 'विवेक', इन तीनों तत्त्वों के योगदान से जो 'अहंकार' तथा 'नैतिक' शक्तियाँ क्रमशः सृजित होती हैं, उनकी मौलिक प्रकृति नितांत चुंबकीय होती है। इसीलिए, जिन मनुष्यों में इन दोनों में से कोई भी शक्ति प्रचुर मात्रा में सृजित हो जाती है, उनके व्यक्तित्व में एक अद्भुत चुंबकीय आकर्षण पैदा हो जाना अनिवार्य है। ऐसे ही व्यक्तियों को अंग्रेजी में 'मैग्नेटिक पर्सनैलिटी' कहते हैं। दोनों की आकर्षण शक्ति में केवल इतना अंतर होता है कि जब बृहद् अहंकारयुक्त व्यक्तित्व की ओर कोई खिंचता है, तो उसके अंदर एक उद्विग्नता, किंचित् भय अथवा मन की चंचलता पैदा होती है, जबकि नैतिक शक्तियुक्त व्यक्तित्व की ओर आकृष्ट होने पर एक अपूर्व शीतलता, निर्भयता और शांति की अनुभूति होती है। इस अंतर का कारण यही है कि एक के मूल में उस प्रकृति की अधिष्ठात्री शक्ति सक्रिय है, जिस प्रकृति में ठहराव नहीं है तथा जो निरंतर चंचल, चलायमान है, तथा दूसरे के मूल में वह 'विवेक' अर्थात्—आत्म-तत्त्व है, जो परम शांति का साक्षात् स्वरूप ही है। इतना ही नहीं, जैसे लोहे की शलाका से सृजित होनेवाला विद्युतीय चुंबक केवल लोहे को आकर्षित करता है, उसी तरह अहंकार अथवा विवेक से सृजित होनेवाली चुंबकीय शक्तियाँ समस्त जीवों को आकर्षित करती हैं।

अहंकार के अन्य गुण

1. जैसे शारीरिक शक्ति शरीर में, मानसिक शक्ति मस्तिष्क में तथा आध्यात्मिक शक्ति आत्मा में वास करती है, 'अहंकार शक्ति' तथा उसकी विलोम 'नैतिक शक्ति' का, चुंबकीय होने के कारण, व्यक्ति के किसी स्थान-विशेष में वास नहीं होता। वह व्यक्तित्व का 'तेज-मंडल' अर्थात्—'हैलो' बनकर, चुंबकीय किरणों के रूप में व्यक्ति के शरीर से निरंतर बिखरती रहती है।

2. जिन कर्मेंद्रियों और बुद्धि के योगदान से अहंकार की शक्ति सृजित होती है, उन कर्मेंद्रियों तथा बुद्धि की शक्तियों का अद्भुत विकास करने की विलक्षण क्षमता अहंकार में होती है। ऐसी क्षमता नैतिक शक्ति में नहीं होती। वह केवल विवेक शक्ति का विकास करती है। यही कारण है कि जितनी तत्परता से 'बुद्धि' और कर्मेंद्रियों का सहयोग अहंकार को उपलब्ध हो जाता है, विवेक को उपलब्ध नहीं हो पाता।

3. भय, प्रलोभन तथा आलस्य इसके प्रमुखतम सहयोगी हैं। वस्तुतः ये तीन इसके मुख्य प्रेरणा-स्रोत हैं।

4. यह सतत भूखा रहता है। यदि इसका पोषण किया जाए तो ये दिन दूना, रात चौगुना बढ़ने की सामर्थ्य रखता है। इसके बढ़ने की कोई सीमा नहीं है। मनुष्य के सौभाग्य से, यह इतना संवेदनशील भी है कि, यदि व्यक्ति स्वयं इसका तिरस्कार करने पर उद्धत हो जाए, तो यह तत्काल सिकुड़ता भी उसी गति से है।

5. इसका आहार विवेक है। यह जब भी बढ़ेगा, व्यक्ति का विवेक उसी अनुपात में घटा हुआ मिलेगा।

6. इसका छद्म-कौशल इतना विलक्षण है कि जिस 'आत्म-तत्त्व' के चले जाने के उपरांत मनुष्य 'मैं हूँ!' की घोषणा तक करने में असमर्थ हो जाता है, अर्थात्—जो 'आत्म-तत्त्व' प्रत्येक व्यक्ति के 'मैं' का मूल है, उस

आत्म-तत्त्व के स्थान पर, हर व्यक्ति से जीवन-पर्यंत, यह अहंकार ही अपने को 'मैं' मनवाने में सफल रहता है।

7. इसका सबसे भयावह छद्म-कौशल यह है कि यह भरपूर मौजूद होते हुए भी मनुष्य को अक्सर आश्वस्त करा देता है कि उसमें अहंकार नहीं रहा।

8. यह इसका छद्म-कौशल ही है कि यह अपने द्वारा प्रेरित, किसी भी कुकृत्य का दायित्व अपने ऊपर आने ही नहीं देता। इसी के साथ, यह किसी भी सुकर्म का श्रेय अपने अलावा किसी के पास जाने नहीं देता। इसका तर्क-कौशल अद्वितीय है। इसके इस छद्म को केवल कुछ ही अत्यंत चतुर लोग पहचान पाते हैं, जो इसकी वास्तविक प्रकृति से पूरी तरह परिचित हो लिए हों।

9. 'दास' के रूप में अहंकार से बढ़कर मनुष्य का कोई मित्र नहीं। 'स्वामी' के रूप में, इससे बढ़कर मनुष्य का कोई शत्रु नहीं। अर्थात् जो इस पर सवार हो जाए, उसे यह सर्वस्व उपलब्ध कराता है। परंतु जिस पर यह सवार हो जाए, उसका यह सर्वनाश ही करा देता है।

10. जो भी इसकी मौलिक प्रकृति, इसके वास्तविक स्वरूप को पूरी तरह पहचान भर लेता है, यह तत्काल फिर जीवनपर्यंत उसका दास बनकर रहता है। पर यदि व्यक्ति अत्यंत सतर्क नहीं रहेगा, तो 'दास' से 'स्वामी' बनने में इसे तनिक भी देर नहीं लगती।

11. जो इसके अधीन होकर जीवन बिताता है, वह व्यक्ति अनिवार्य रूप से इसी के धाम में पहुँचता है। इसका धाम है प्रकृति। अर्थात् वह मिट्टी में मिल जाता है।

12. इसका तर्क-कौशल इतना प्रचंड है कि यदि व्यक्ति सतर्क नहीं है, तो व्यक्ति की निगाह में, जघन्य से जघन्य कृत्य को भी यह नितांत न्यायपूर्ण और वांछनीय सिद्ध कर सकता है।

13. 'प्रायश्चित्त' और 'पश्चात्ताप' नाम की क्रियाएँ इसकी बहुत बड़ी सहयोगी हैं। कभी जब व्यक्ति अपने कुकृत्य को पहचान भी लेता है तो व्यक्ति से तत्काल 'पश्चात्ताप' या 'प्रायश्चित्त' कराके, यह अपने को पूरी तरह सुरक्षित बनाने में सफल रहता है।

14. 'आत्मनिंदा', 'आत्मग्लानि', 'आत्मभर्त्सना', 'आत्महत्या', 'आत्म-तिरस्कार' आदि की क्रियाएँ इसकी सबसे प्रभावी संरक्षक हैं। इन क्रियाओं को कराके यह व्यक्ति को छद्म विश्वास दिलाता है कि अहंकार अच्छी तरह से जलील किया जा चुका है। वस्तुत: इन सभी का प्रभाव विपरीत ही होता है। इन क्रियाओं के सहयोग से यह और ढीठ हो जाता है। इसी तरह आँसू इसके परम मित्र हैं। उन्हें प्रकट कराके यह स्वयं व्यक्ति तथा दूसरों को भुलावा देने में सफल होता है कि 'पश्चात्ताप' कर लिया गया। पश्चात्ताप इसका मित्र है और यह उसकी सहायता से पूरी तरह सुरक्षित बना रहता है।

15. जब यह अपनी पूर्णता पर आता है, तो समस्त ब्रह्मांड में इसका विनाश करने की सामर्थ्य किसी में नहीं रहती। इसे फिर साक्षात् परमात्मा भी नहीं मार पाते। राम द्वारा केवल रावण ही मारा गया था, रावण का अहंकार तो अंत तक सुरक्षित ही रहा था।

16. मौलिक रूप से अहंकार तीन प्रकार का होता है—

(1) सात्विक, (2) राजसिक, (3) तामसिक।

वस्तुत: इन तीनों प्रकारों के स्तरों में भी असंख्य स्तर संभव हैं। परम सात्विक, दिव्य सात्विक, सामान्य सात्विक आदि से लेकर राजसिक के भी इसी तरह कई भेद संभव हैं तथा जब यह नीचे जाने लगता है, तो तामसिक, घोर तामसिक, घोरतम तामसिक गति तक पहुँचता है। एक दिव्य तांत्रिक महात्मा ने बताया था कि तंत्र के मार्ग में, निम्न

स्तर के अहंकारों को जगाकर उन्हें तृप्त करने की प्रक्रिया होती है और फिर उनका शमन किया जाता है। उनका कहना था कि जब अहंकार अपनी घोरतम तामसिकता पर आता है, तो जो रस सामान्य लोगों को दूध-जलेबी खाने में आता है, वही रस उस काल में, व्यक्ति को मुर्दों की कच्ची आँतों को खाने में आता है। इसकी तामसिकता किस पराकाष्ठा की संभव है, सामान्यजन इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

परम सात्विक अहंकार व्यक्ति को ब्रह्म-ज्ञान, ब्रह्म में लीन रहने के लिए प्रेरित करता है। दिव्य सात्विक अहंकार मनुष्य को उस परम तत्त्व के गुणगान करने, उसकी चर्चा करने तथा उसी से संबंधित दिव्य ग्रंथ लिखने के लिए मजबूर करता है। स्वांत: सुखाय ग्रंथ दिव्य सात्विक अहंकार को तुष्ट करने के लिए ही लिखे जाते हैं। लोक-कल्याण, लोक-सेवा, लोक-हित, सामान्य सात्विक अहंकार से प्रेरित होनेवाले कर्म हैं। लोक-सेवा के ही साथ अपनी भौतिक, अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाले तथा अपने स्वजनों के कल्याणार्थ कर्म, दिव्य राजसिक की श्रेणी के होते हैं। इसी तरह अपनी आवश्यकताओं को कृत्रिम रूप से बढ़ाकर उनका उपभोग करनेवाले मध्यम राजसिक अहंकार से प्रेरित माने जाएँगे तथा लोकहित के ध्यान से विमुख होकर अपनी भौतिक सुख-सुविधा को ही देखनेवाले समस्त कर्म निम्न राजसिक की श्रेणी में आएँगे। तत्पश्चात्, अपने हित के लिए दूसरों का अहित करने के लिए तत्पर होनेवाले तामसिक अहंकार से ग्रसित माने जाएँगे। फिर ऐसे कर्म करनेवाले जो बाद को उन्हीं के लिए अहितकर हों तथा साथ में दूसरों का भी अहित करें, अधिक तामसिक वृत्ति से प्रेरित माने जाएँगे। हिंसा, प्रतिहिंसा, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, प्रमाद, आलस्य आदि घोर तामसिकता के द्योतक हैं तथा क्रूरता, हत्या, निर्दयता अर्थात्—अन्य वीभत्स कर्म करने में सुख की अनुभूति करनेवाले, घोरतम तामसिक अहंकार से प्रेरित माने जाएँगे।

इस तरह समस्त प्रकार के सात्विक तथा उच्च कोटियों के राजसिक कर्म तो विवेक द्वारा भी अनुमोदित होते हैं, पर निम्नकोटि के राजसिक कर्म तथा समस्त प्रकार के तामसिक आचरण विवेक के प्रतिकूल रहते हैं।

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में ही नहीं, एक ही व्यक्ति में भी भिन्न-भिन्न समय में, भिन्न-भिन्न प्रकार के अहंकारों की अभिव्यक्ति संभव है।

17. जिस तरह एक टेपरिकॉर्डर में सारी होनेवाली ध्वनियाँ अंकित हो जाती हैं, उसी तरह चेतनामय अहंकार अर्थात् जीव भी इस प्रकार का दिव्य टेप है, जो निरंतर चलता रहता है और व्यक्ति द्वारा किसी भी भावना को धारण करके, कैसा भी किया हुआ विचार, बोला हुआ वचन अथवा किया हुआ कर्म तत्काल उस पर अंकित हो जाता है। इसी को 'संस्कार' कहा गया है। इस तरह जब तक अच्छा या बुरा, कैसा भी संस्कार इस चेतनामय अहंकार पर रहेगा, यह जीव उस आत्मा से बराबर संयुक्त बना रहेगा। प्रकृति का धर्म है कि प्रत्येक संस्कार के अनुरूप व्यक्ति को फल देते रहकर, व्यक्ति के संस्कारों का क्षय करती रहे। समस्त संस्कारों के क्षय होने पर ही चेतनामय अहंकार, अपने आत्म-तत्त्व को स्वत: मुक्त कर देता है। उल्लेखनीय है कि बिना किसी भी भावना से प्रेरित विचार, वचन अथवा कर्म करने पर कोई संस्कार जीवन पर अंकित ही नहीं हो सकते। निष्काम कर्म करने से जो कर्म के फलों के बंधन से मुक्त होने की बात श्रीकृष्ण ने गीता में बताई है उसके मूल में यही रहस्य है।

18. यह चेतन अहंकार की समस्त प्रकार की स्मृतियों का संग्रहालय है। इसमें तर्क शक्ति तथा विचार शक्ति का प्रयोग करके विश्लेषण करने की विराट सामर्थ्य है तथा नितांत अपने ही मानदंडों और मूल्यों के आधार पर निर्णय लेने की अद्भुत सामर्थ्य है। अपने निर्णयों का पालन कराने की क्षमता भी इसमें है।

19. मस्तिष्क से इसका संपर्क विचार शक्ति के माध्यम से ही होता है।

20. सत्य की परिभाषा है—''जो था है, और रहेगा''। अपरिवर्तनीयता तथा शाश्वतता 'सत्य' के लक्षण हैं। परंतु

हम देखते हैं कि—

(1) अहंकार, सत, रज, तम आदि के प्रकारांतों के अधीन है।

(2) अहंकार से प्रेरित आचरण करने पर इसका विकास होता है, अर्थात् इसका विकास तथा ह्रस दोनों ही संभव हैं, अर्थात्—यह अपरिवर्तनीय नहीं है।

(3) अहंकार स्वयं, मस्तिष्क तथा कर्मेंद्रियाँ, अर्थात्—जिन तीन तत्त्वों द्वारा यह सृजित होता है, वे स्वयं प्रकृति की सत्ता के तत्त्व हैं। और प्रकृति सत्य नहीं है।

(4) विकलांग होने पर अहंकार घट जाता है, जिससे प्रमाणित होता है कि विभिन्न इंद्रियों से यह शक्ति प्राप्त करता है। इंद्रियाँ स्वयं सत्य नहीं हैं।

अत: उपर्युक्त चार कारणों से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि अहंकार सत्य नहीं, केवल एक असत् शक्ति है।

21. सृष्टि में हर तत्त्व का एक ही विलोम है जैसे अंधकार का प्रकाश, मिथ्या का सत्य, भय की निर्भयता आदि। परंतु अहंकार इतनी प्रचंड शक्ति है कि एक नहीं दो दिव्य शक्तियाँ मिलकर ही इसका 'विलोम' बन पाती हैं। वे हैं 'विवेक' तथा 'नैतिक शक्ति'।

22. यदि व्यक्ति सतर्क नहीं है तो निम्नांकित कारणों से इसका बृहद् विकास संभव है—

(1) अपने मनोवांछित फलों को प्राप्त करने पर, अर्थात् अपने प्रयासों में सफल होने पर।

(2) किसी भी भौतिक उपलब्धि के प्राप्त होने पर, चाहे वह अप्रत्याशित ही क्यों न मिली हो।

(3) अनेक में से किसी भी प्रकार की भौतिक शक्ति प्राप्त होने पर, जैसे पद की, धन की, सत्ता की, पत्रकारिता की, संपर्क की, शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि कोई भी शक्ति।

(4) प्रशंसा, स्तुति तथा अच्छे कर्मों का श्रेय मिलने पर।

(5) अपनी शक्ति के प्रदर्शन पर।

23. प्रकृति की अधिष्ठात्री शक्ति होने के नाते यह मनुष्य को समस्त ब्रह्मांड पर विजय प्राप्त कराने की क्षमता रखती है।

24. अहंकार के अनुकूल आचरण करने पर कर्मेंद्रियाँ अहंकार को शक्ति प्रदान करती हैं। सशक्त होने पर अहंकार तत्काल कर्मेंद्रियों को और शक्ति देने की सामर्थ्य रखता है। एक-दूसरे को परस्पर सशक्त बनाने की इस विलक्षण सामर्थ्य द्वारा 'अहंकार' असीम स्तरों तक बढ़ने की संभावनाएँ रखता है।

25. अहंकार प्रकृति की दिव्यतम शक्ति है। प्रकृति में ठहराव अथवा शांतता संभव ही नहीं। इसीलिए अहंकार के वशीभूत व्यक्ति के अंतर्जगत् में व्यक्ति के अहंकार के अनुपात में अशांति तथा चंचलता विद्यमान रहना अनिवार्य है। क्योंकि व्यक्ति की वास्तविक शक्ति उसके अंदर व्याप्त शांति के सीधे अनुपात में होती है, इसीलिए जितना व्यक्ति में अहंकार अधिक होगा, उसकी वास्तविक शांति तथा शक्ति उसी अनुपात में कम होती है।

26. आत्म-तत्त्व से उदय होनेवाली प्यासों को, शरीर को सुख पहुँचानेवाली लालसाओं के रूप में परिणत करके उनका भौतिकीकरण करने की अद्भुत सामर्थ्य अहंकार में है।

27. भौतिक जगत् की सम्राज्ञी शक्ति होने के नाते जो इसके जितना वशीभूत होता जाएगा, वह उसी स्तर तक भौतिक जगत् में आसक्त होता जाएगा।

28. राजसिक तथा तामसिक अहंकार के वशीभूत व्यक्ति के लिए स्वार्थरहित दिव्य प्यार, परम शांति, परम आनंद

आदि की चर्चाएँ विष के समान लगती हैं। ऐसे व्यक्ति करुणा, दया, क्षमा आदि भावनाओं से विहीन होते हैं।

29. किसी भी शक्ति के प्राप्त होने पर, अथवा कैसी भी सफलता मिलने पर जब अहंकार जागृत हो जाए, तो यह इस बात का प्रभावी प्रमाण है कि वह व्यक्ति उस शक्ति अथवा सफलता पाने के योग्य अपने को नहीं मानता था। ऐसी स्थिति में शनैः-शनैः उसकी शक्ति तथा सफलताओं का घटना अनिवार्य हो जाता है। तभी नैपोलियन और हिटलर सरीखे पुरुष मिट्टी में मिल जाते हैं। सन् साठ और सत्तर के दशकों में बॉक्सिंग का 'हैवी-वेट' विश्व-विजेता, जिसने 'आई एम दि ग्रेटेस्ट' नाम की पुस्तक रची, सन् 1988 तक अपनी मुष्टिका तक बाँधने में असमर्थ हो जाता है।

30. निम्न राजसिक तथा तामसिक अहंकार बढ़ने पर व्यक्ति की वास्तविक शक्ति, आत्म-सम्मान तथा आत्म-विश्वास में भारी कमी आती है। ऐसा होने पर व्यक्ति अनेक प्रकार के भय, अनिश्चितता, निराशा तथा कायरता आदि से ग्रस्त होकर अनंत दुःखों के सागर में डूब जाता है।

इसे नियंत्रण में रखने के उपाय

अहंकार के संबंध में सर्वाधिक महत्त्व की बात यह है कि संसार में समस्त सृजनात्मक भौतिक प्रगति तथा समस्त भौतिक समृद्धियों का सर्वोपरि एकमात्र कारण भी अहंकार ही है। राष्ट्रीय शक्ति में भौतिक शक्तियों का बहुत बड़ा योगदान होता है। इस दृष्टि से अहंकार अत्यंत उपयोगी शक्ति है। परंतु अनियंत्रित होने पर निस्संदेह वह व्यक्ति का सर्वनाश ही करता है। अतः महत्त्व की बात इतनी ही है कि राष्ट्र तथा स्वयं अपने, दोनों के कल्याणार्थ, इसे नियंत्रण में रखकर अपना दास बनाकर जीने में जीने की वास्तविक कला निहित है। इस संदर्भ में जो करना है, वह केवल इतना कि—

1. निम्न कोटि के राजसिक और प्रत्येक प्रकार के तामसिक अहंकार से प्रेरित समस्त इच्छाओं का पूर्णतया हनन अथवा शमन किया जाए।

2. अन्य कोटियों के राजसिक अहंकार से प्रेरित इच्छाओं को सतर्कता से नियंत्रित रखा जाए।

3. सात्विक अहंकार से प्रेरित इच्छाओं को पूरी छूट दी जाए।

4. समस्त प्रकार के अहंकारों को हर परिस्थिति में छलकने तथा प्रदर्शित होने से प्रभावी रूप से रोका जाए।

अहंकार प्रकृति की प्रचंडतम शक्ति है। अतः किसी भी बाह्य शक्ति द्वारा इसे नियंत्रण में करना संभव ही नहीं है। यह केवल आंतरिक शक्तियों से नियंत्रित किया जा सकता है।

विधियों के अनुसार इसका दमन तीन प्रकार से संभव है—

1. विवेक और नैतिक शक्ति के माध्यम से इस पर सीधा प्रहार किया जाए।

2. उन पर प्रहार किया जाए, जो इसके विकास में सहयोग देते हैं।

3. स्वयं, अहंकार का ही उपयोग करके, कम-से-कम इसकी निम्न श्रेणियों की प्रवृत्तियों का तो संहार किया ही जाए।

1. विवेक और नैतिक शक्ति द्वारा इस पर सीधा प्रहार करना

1. इसके नियंत्रण के लिए सर्वाधिक प्रभावी विधि है इसे अपनी गलती कबूल करने पर मजबूर करना। अहंकार द्वारा गलत कृत्य, भय, प्रलोभन तथा आलस्य, इन्हीं तीन दुष्ट शक्तियों के प्रभाव से होते हैं। 'गलत कृत्य' वह 'कर्म' है जो सद्विवेकानुकूल न हो, अथवा अपने ही सद्विवेक के प्रतिकूल हो। विचार करना भी 'कर्म' है, वचन बोलना तथा कर्म करना तो 'कर्म' की परिभाषा में आता ही है। अतः यह मानकर चलना होगा कि मनुष्य द्वारा ही

गलतियाँ होंगी। मनुष्यत्व ही पहचान ही यही है। निज कल्याण तभी संभव है जब ये गलतियाँ कम होते-होते नगण्य रह जाएँ। यह तभी संभव है, जब जिस क्षण गलती होती है, उसके तत्काल बाद अहंकार को पकड़कर उस गलती की स्वीकारोक्ति करने पर उसे मजबूर किया जाए। निस्संदेह अहंकार अनेक दलीलें प्रस्तुत करके सिद्ध करना चाहेगा कि इस गलती के लिए वह नहीं, अमुक व्यक्ति, अमुक परिस्थिति जिम्मेदार थी। एक दफे को बाह्य जगत् में उन दलीलों को प्रस्तुत भी कोई भले ही कर ले, पर अंतर्जगत् की अपनी अदालत में अहंकार की कोई भी, कैसी भी दलील को रंचमात्र भी स्वीकार नहीं करना है। उससे तो केवल एक ही आग्रह करना है कि वह बस यह कह दे कि 'मैंने गलती की।' जब वह देखेगा कि कहीं कोई निकासी नहीं है, तो चाहे किंचित् झल्ला के, या चाहे अपने को इस झमेले से जल्दी मुक्त कराने के लिए, वह गलती स्वीकार कर लेगा। पर इससे भी काम नहीं चल पाएगा। इसे तब तक नहीं छोड़ना है, जब तक वह स्वीकारोक्ति नितांत विनम्रता और सच्चाई से नहीं की जाती। ऐसा होने के बाद फिर उसे छोड़कर सामान्य कर्मों में लगना होगा। किसी भी परिस्थिति में आत्म-ग्लानि, आत्म-निंदा, पश्चात्ताप अथवा प्रायश्चित्त के प्रपंच में नहीं फँसना है। उस गलती को दुबारा नहीं करेंगे, ऐसे संकल्प करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि दुबारा-तिबारा वही गलती होती भी है, तो फिर यही स्वीकारोक्ति की क्रिया को करते जाना है। चौथी या पाँचवीं बार ही, उस प्रलोभन, भय अथवा आलस्य, जिसके कारण वह गलती हो रही थी, की शक्ति स्वत: इतनी क्षीण हो जाएगी कि बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के मनुष्य स्वभावत: उससे ग्रस्त नहीं हो पाएगा और वह एक कमजोरी व्यक्तित्व से दूर हो जाएगी। इस विधि से अहंकार अत्यंत प्रभावी ढंग से नियंत्रित होता जाता है।

2. विवेकानुकूल आचरण से इसका व्यापक ह्रस होता है।

3. इस सत्य को अंगीकार करें कि, यदि इसको नियंत्रित न किया गया, तो हमारा कैसा भी वास्तविक कल्याण असंभव है, तथा यह हमें अंतत: मिट्टी में मिलाकर रख देगा।

4. इसके वास्तविक स्वरूप तथा इसकी लालसाओं की मौलिक कृत्रिमता को पहचानें। इस सत्य को पहचानें कि कोई भी प्यास वास्तविक हो, तभी उसे बुझाया जा सकता है। परंतु जब अहंकार की सभी प्यासें ही कृत्रिम हैं, तो कोई भी इनसान किसी भी कृत्रिम प्यास को नहीं बुझा सकता। इसीलिए निरंतर बुझाते रहने पर भी यह सदा प्यासे का प्यास ही बना रहता है।

5. 'दुनिया क्या सोचेगी?' इस विचार से आचरण करना उस काल में फिर भी वांछनीय हो सकता था, जब 'दुनिया' के मौलिक मूल्य एवं आस्थाएँ सत्य पर आधारित थीं। अज, जब सारे मूल्य ही विकृत हो चले हैं, तो अपने को दुनिया की निगाहों से आँकना भयंकर भूल होगी। हमारे थोड़े से गुणों को ही हमारा अहंकार दुनिया की तुलना में अत्यधिक घोषित करके हमारी प्रगति को अवरुद्ध कर सकता है। अत: अपना अंकन अपने ही सद्विवेक के मानदंडों के आधार पर करने का अभ्यास करें, दुनिया के जो भी मानदंड इनके विपरीत हैं, उनसे विमुख होने पर किंचित् भी संकोच न किया जाए। अर्थात्, जब तक हम अपने सद्विवेक की अनुकूलता में हैं, हम नितांत विनम्रता से दुनिया के विपरीत खड़े होने के अधिकारी हैं।

6. अपने से कहीं अधिक शक्ति अथवा उपलब्धियाँ अर्जित करनेवाले ऐसे विनयशील लोगों को दृष्टि में सदा बनाए रखें, जिससे हम देखते रहें कि जब अमुक का, इतनी शक्ति आदि अर्जित करने पर अहंकार जागृत नहीं हुआ, तो हम तो उससे कहीं नीची कोटि के हैं।

7. जब भी हमारे अहंकार पर कोई चोट करता है, तो प्रयास करके, चोट करनेवाले के विरुद्ध कैसी भी प्रतिक्रिया न करके, इसे शांति से चोट खाने देने पर, यह बहुत तीव्रता से घटता है। ऐसा करने से अपनी मौलिक

सामर्थ्य में अभूतपूर्व वृद्धि होती है। प्रतिक्रिया न करने पर दुनिया हमें कायर, डरपोक आदि समझेगी, इस मिथ्या प्रपंच से बचना होगा। दुनिया के सोचने से न तो कोई आज तक वीर बना है, और न कायर। उसकी सामर्थ्य जो है, वही रहती है।

8. हर क्रिया में अपने को केवल निमित्त मात्र स्वीकार करने पर भावना उस कर्म में फिर नहीं लग पाएगी। भावना न लगने पर, किए गए कर्मों से अहंकार विकसित नहीं हो पाता।

9. जब भी बन पड़े, इसकी आवाज को पहचानकर उसकी अवहेलना करने से यह बहुत कम हो जाता है।

10. इस सत्य को पहचाना जाए कि देखने में यह अत्यंत प्रचंड लगता है, पर मनुष्य के सौभाग्य से यह बहुत ही संवेदनशील है। स्वयं द्वारा इसका अनादर होने पर यह बहुत तीव्रता से घटता है। तभी पता चलता है कि इसका प्रचंड रूप केवल देखने का था। तभी इसकी कृत्रिमता की असली कलई भी खुलती है।

11. यह पहचानें कि दास के रूप में इससे बड़ा कोई मित्र नहीं है। अत: इसे अपना दास ही बनाने पर उद्यत रहें।

12. एक पहेली बहुत दिनों तक हल न हो पाई कि अन्य समुदायों की अपेक्षाकृत मुसलमानों में अहंकारी व्यक्ति बहुत ही कम क्यों पाए जाते हैं? राजनीति तथा सिनेमा जगत् में, जहाँ अहंकार व्यापक रूप में पाया जाता है, वहाँ के भी मुसलमानों में अहंकार नगण्य ही सा रहता है। जो अपवाद भी मिले तो पता करने पर पता चला कि वे नाम के मुसलमान हैं, केवल जुम्मे की नमाज पढ़कर मजहब के दायित्व को पूरा करते हैं। कोई धर्म विशेष अहंकार का इतना प्रभावी नियंत्रण कर सके, यह तो उस धर्म का बहुत ही श्रेष्ठ गुण माना जाएगा। इस बात का भेद निकालने के लिए जब कुरान को जानने की कोशिश की तो पता चला कि हर मुसलमान को पाँच वक्त नमाज पढ़ना अनिवार्य है तथा हर नमाज में हर नमाजी को कम-से-कम सत्तरह बार कहना पड़ता है कि ''या अल्लाह, मैं तो जर्रा हूँ...।'' जो नित्य अपने को बार-बार स्मरण दिलाएगा कि 'वह तो जर्रा है' फिर उसके अहंकार के बढ़ने का प्रश्न ही कहाँ उठ पाएगा।

इस रहस्य को जो भी अपनाएगा, उसका अहंकार सतत नियंत्रण में रहेगा, इसमें संशय नहीं। जब मालूम है कि अहंकार हमारा नाश करेगा, तो यदि कोई नास्तिक भी हो, तो भी, केवल अहंकार को नियंत्रित रखने के लिए ही सही, भगवान् को एक दिव्य हस्ती मानकर अपने को लघु घोषित करने लगे, तो लाभ-ही-लाभ रहेगा।

2. अहंकार के विकास में सहयोग देनेवाली
शक्तियों पर प्रहार करना

1. पद की शक्ति संविधान की देन है। धन की शक्ति समाज की देन है। संपर्क शक्ति दिव्य मानवों की देन है। पत्रकारिता की शक्ति राष्ट्र की धरोहर है, आदि, ऐसा सोचकर, अपनी समस्त शक्तियों को राष्ट्र अथवा समाज की धरोहर मानकर, उनका उपयोग उन शक्तियों के स्वामी की हैसियत से न करके, केवल एक मुनीम की हैसियत से करने पर, अहंकार का प्रभावी दमन होता है।

2. किसी भी शक्ति अथवा उपलब्धि के प्राप्त होने पर अहंकार छलकने लगे, तो यह प्रमाणित करता है कि हमारी क्षमता उस सफलता को अपने अंदर समाहित कर लेने की न थी। यह गतिविधि वस्तुत: हमारी लघुता, हमारे छोटेपन को प्रमाणित करती है। यदि हम वास्तव में अपने को बड़ा मानते हैं, तो उस अहंकार का शमन करके, अपने बड़प्पन को सिद्ध करके स्वयं को दिखाना होगा।

3. सफल होने पर—

(1) इस सफलता का श्रेय कहीं भी अन्यत्र दें। निश्चित है कि ऐसा करने में अहंकार विरोध करेगा। परंतु स्मरण

रखना होगा कि यदि अहंकार को श्रेय लेने दिया गया, तो हमारी आगामी प्रगति अवरुद्ध होती जाएगी। श्रेय ग्रहण करके, ख्याति अर्जित करने की अपेक्षा, अपनी आगामी प्रगति सुनिश्चित बनाए रखना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। अत: अहंकार को बुरा लगे तो लगे, उसे श्रेय लेने से रोकने में ही हमारा वास्तविक कल्याण है।

(2) यदि यह न हो सके तो अपनी सफलता का श्रेय परिस्थितियों को तथा संभव हो, तो भगवान् को देना है।

(3) अपने समस्त कर्मों को किसी भी वांछित फल की प्राप्ति का हेतु न मानकर, केवल अपने को ही पूर्णता दिलाने के लिए कर्म करने से अहंकार का किंचित् भी विकास नहीं हो पाता।

(4) प्रत्येक उपलब्धि को धरोहर के रूप में मानकर उपयोग करना। जिस तरह दस करोड़ के होटल के एक कमरे का पूरी तरह उपयोग करते समय उस होटल के मालिक होने का अहंकार नहीं हो पाता, उसी तरह अपनी ही अनेक उपलब्धियों का अहंकार नितांत वृथा है। अंतर केवल इतना है कि होटल का कमरा कुछ दिनों बाद ही छोड़ना पड़ता है, और अपनी उपलब्धियाँ कुछ वर्षों बाद छोड़नी पड़ती हैं। वास्तविकता तो यह है कि सारी ही उपलब्धियाँ पुन: समाज में पहुँचना अनिवार्य है। हमारे जीवन काल में नहीं जाएँगी तो हमारी संतान अथवा उनकी संतान के काल में चली जाएँगी। उपलब्धियाँ जहाँ भी तीन पीढ़ियों से अधिक ठहरी हैं, बिना अपवाद के वे ऐसे ही परिवारों में ठहर सकी हैं, जिन्होंने अपने निम्न कोटि के राजसिक तथा तामसिक अहंकार का प्रभावी शमन किया तथा अन्य प्रकार के अहंकार को नियंत्रण में रखा।

(5) अपनी प्रशंसा और स्तुति कितनी ही मन को लुभानेवाली क्यों न हो, केवल कानों तक ही सीमित रखी जाए। इसमें जो सत्य है, वह यह कि प्रशंसा या स्तुति वस्तुत: हमारे गुण अथवा प्रयासों की होती है, हमारी नहीं। यदि अहंकार के कारण उन गुणों अथवा प्रयासों में कमी आ गई, तो हम तो दूर, वे गुण एवं प्रयास भी प्रशंसा अथवा स्तुति के योग्य नहीं रह जाएँगे।

(6) अपनी छोटी-बड़ी प्रत्येक असफलता का दायित्व अपने और केवल अपने ही ऊपर डालने का अभ्यास किया जाए। इससे अहंकार नियंत्रण में तो आता ही है, आगामी सफलताओं का मार्ग भी प्रशस्त होता है।

(7) किसी के प्रति कुछ अच्छा करने अथवा कुछ भी देने के अहंकार का शमन दो निर्विवाद रूप से सत्यों को अंगीकार करने पर स्वत: हो जाता है—

(1) यह कि किसी को सुख पहुँचाने में वस्तुत: हमारा ही परम स्वार्थ सिद्ध होता है; क्योंकि उस माध्यम से एक तो हमें अपने जीवन के मौलिक प्रमुख उद्देश्य को पूरा करने का अवसर मिलता है, साथ ही अपने स्वयं के सुख के भंडार का सृजन करने का मौका। अपनी इससे बड़ी और क्या स्वार्थपूर्ति हो सकती है?

(2) संसार में कोई भी किसी को कुछ भी नहीं दे सकता। सब अपने ही कर्मों के द्वारा जो कमाया हुआ है, उसे ही पा सकते हैं। अन्यथा संभव ही नहीं। अत: जिसे हमारे द्वारा मिला, निर्विवाद रूप से उसी की कमाई थी। उसका उसे सौंपने में अहंकार कैसा?

पानेवाले लोग कृतज्ञता ज्ञापित करते रहते हैं, इसीलिए प्राय: लोगों को यह महसूस होने लगता है कि उसके द्वारा अमुक पर एहसान हुआ। वास्तविकता यह है कि जो हमसे कुछ भी पाता है, वह हमें ही उपकृत करता है।

3. तीसरे वर्ग की विधि : अहंकार के नियंत्रण में स्वयं अहंकार का उपयोग

मनुष्य की सबसे विकट समस्या तामसिक और निम्नकोटि के राजसिक अहंकारों के शमन करने की होती है।

उपर्युक्त दोनों वर्गों की विधियाँ तभी कारगर होंगी, जब विवेक तथा नैतिक शक्ति पर्याप्त नहीं तो कुछ स्तर तक अवश्य बना ली हो। पर जिसमें अहंकार व्यापकता से विद्यमान होगा, उसका विवेक अत्यंत अल्प होना अनिवार्य

है। विवेक अल्प होता है तो नैतिक शक्ति भी नगण्य ही रहती है। ऐसी परिस्थिति में अहंकार का नियंत्रण स्वयं द्वारा ही संभव हो सकता है। मनुष्य के सौभाग्य से अहंकार की एक मौलिक प्रवृत्ति इस संदर्भ में बहुत उपयोगी सिद्ध होती है।

अहंकार मौलिक रूप से प्रशंसा एवं स्तुति का बहुत बड़ा लोभी है। समाज में यह स्तुति अथवा प्रशंसा तभी मिल सकती है जब व्यक्ति अपना आचरण श्रेष्ठ प्रकार के राजसिक तथा सात्विक अहंकारों से प्रेरित होकर करे। अहंकार के इसी लोभ का लाभ उठाते हुए उसे यदि प्रशंसनीय तथा स्तुत्य कर्मों में लगाए रखा जाएगा तो उसका तामसिक तथा निम्न कोटि के राजसिक अहंकारों से काफी हद तक विमुख रहना उसके लिए अनिवार्य हो जाएगा। इस तरह जब निम्न कोटि के अहंकारों से व्यक्ति विमुख होगा तो विवेक तथा नैतिक शक्ति का विकास अनिवार्य होगा। जब ये दोनों श्रेष्ठ शक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में सृजित हो जाएँगी, तो फिर श्रेष्ठ राजसिक अहंकार को नियंत्रित करना सुलभता से संभव हो जाएगा।

अत: आरंभ काल में, तीसरी विधि के अधीन अहंकार को प्रशंसनीय एवं स्तुत्य आचरण करने के लिए प्रोत्साहित करना श्रेयस्कर होगा।

अहंकार के स्तर के अंकन की विधियाँ

जब यह विदित हो चुका कि निज कल्याण के लिए अहंकार को सतत कम करते हुए उसे नियंत्रण में रखना ही है, तो यह भी आवश्यक हो जाता है कि अपने अंदर अहंकार के स्तर का अंकन कराने की विधि जानी जाए।

अपने रक्तचाप की तरह अहंकार का अंकन भले ही अंकों में न नापा जा सके, पर प्रत्येक व्यक्ति अच्छी तरह यह आँक सकता है कि पूर्वकाल की तुलना में उसका अहंकार घटा है या बढ़ा है।

यह अंकन तीन प्रकार से संभव है :

1. अपने अंत:करण में व्याप्त शांति के स्तर को पहचानने से

जब अहंकार बढ़ता है तो अंतर्जगत् में शांति घटती है, तथा जब वह घटता है तो शांति बढ़ती है। अत: पूर्व काल की अपेक्षा हम अपने को अधिक शांत अनुभव करते हैं तो यह अहंकार के घटने का प्रमाण होगा।

2. अपनी शक्तियों का उपयोग तथा अपनी उपलब्धियों का उपभोग करते समय अथवा प्रशंसा होने पर रस की अनुभूति के स्तर से

हमारे पास जो भी शक्तियाँ हैं, पद की, धन की, शारीरिक, मानसिक आदि कैसी भी शक्ति हो, उसका उपयोग अथवा उपभोग करते समय जिस स्तर के रस की अनुभूति होती है, वही हमारे अहंकार के स्तर का द्योतक है, ऐसा स्वीकार करना होगा।

एक दृष्टांत से संभवत: बात स्पष्ट हो सकेगी।

एक जनपद में एक अत्यंत धनाढ्य व्यक्ति थे। लोगों ने उनके बारे में बताया कि वे किसी भी कानून को तोड़ने में नहीं हिचकते। जब कोई अपराध कर बैठते, तो उस अपराध से त्रस्त व्यक्ति को दस, पंद्रह, बीस हजार, जैसा आवश्यक हुआ, देकर उसे कानून के दरवाजे तक जाने में असमर्थ कर देते। एक बार सड़क पर एक ठेलीवाला जा रहा था। ये धनिक पीछे से अपनी बड़ी अमरीकन गाड़ी से रफ्तार में आते हुए उस ठेली को टक्कर मारते हुए चले गए। ठेली तथा फल तहस-नहस हो, दूर जा गिरे। चीत्कार करते ब्रेक लगाकर गाड़ी रोकी। उसी रफ्तार से गाड़ी पीछे लाए। स्तंभित ठेलीवाले से पूछा, ''ठेली कितने की थी?'' उत्तर मिला, ''साढ़े पाँच सौ की।'' ''फल कितने के थे?'' उत्तर मिला, ''ढाई सौ के।'' गाड़ी में बैठे-बैठे एक हजार के नोट ठेलीवाले की ओर फेंकते हुए बोले,

''ये एक हजार हैं, सब कुछ नया ले लेना।'' यह कह, उसी रफ्तार से गाड़ी हाँक दी।

विदित है कि उस एक हजार रुपए की रोकड़ से उन्हें कितना रस मिला होगा। मानो 'कानून तो मेरे बटुए में रहता है!' 'मैं क्या नहीं खरीद सकता?' 'मेरा कौन क्या बिगाड़ सकता है?'

इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति है। पचास हजार की रोकड़ एक को देता है, दस मिनट बाद ही अस्सी हजार की रोकड़ दूसरे को देता है, उसके पाँच मिनट बाद साठ हजार की रोकड़ किसी तीसरे को देता है। इतनी सारी रोकड़ देने पर भी उसे किंचित् भी रस नहीं प्राप्त होता, क्योंकि वह स्टेट बैंक का कैशियर मात्र है।

धन तो दोनों ने वितरित किया। परंतु मात्र एक हजार रुपए में जो रस उन धनवान ने पाया, उससे कई गुनी रोकड़ देने पर भी उस रस का सहस्त्रांश भी बैंक के कैशियर को न मिला। विदित है कि रस के स्तर में अंतर, केवल रोकड़ से अहंकार के जुड़ने, तथा न जुड़ने से ही आया।

संसार में रहकर हमें कर्म तो करने ही होंगे। कर्म करने पर धन ही नहीं, न जाने कितनी विभिन्न शक्तियों का संकलन हमारे व्यक्तित्व में हो जाने की संभावनाएँ बन सकती हैं। वही शक्तियाँ, कोई उस धनाढ्य की तरह उपयोग कर सकता है, तो कोई स्टेट बैंक के मुनीम की तरह। वास्तविकता इतनी ही है कि अपने आचरण में हम जितनी मुनीमियत बढ़ाते जाएँगे, अहंकार उतना ही घटता जाएगा तथा हम उतने ही शक्तिशाली होते जाएँगे। वास्तविक शक्ति जितनी अधिक बढ़ेगी, हम उतनी ही विशाल भौतिक शक्तियों के संपादन की योग्यता अर्जित करते जाएँगे। जो अल्प शक्ति पाकर संतुलन खो देता है, वह प्रबल शक्तियाँ प्राप्त करने का अधिकार भी खो बैठता है।

इसी तरह जब हमारी व्यापक प्रशंसा हो, या लोग स्तुति करें, तो हमें वह कितना रस देती है, अर्थात् वह सब सुनकर कितनी देर तक, कितनी गहराई तक सुख का अनुभव करते हैं, उसी के स्तर से अपने अंदर व्याप्त अहंकार के स्तर का परिचय मिल सकता है।

3. आलोचना या निंदा से चुभन के स्तर से

जब मालूम है कि रस के अनुपात से हमारे अहंकार का अंकन होना है, तो अपनी निगाह में उठने के लिए व्यक्ति कृत्रिम उदासीनता लाकर अपने को धोखा भी दे सकता है। वैसे भी, प्रशंसा के सामने कानों को मानसिक रूप से बंद करना इतना कठिन काम भी नहीं है। परंतु निम्नलिखित तीसरी विधि में, यदि थोड़ा भी अहंकार है, तो हमसे वह छुपाए न छुप सकेगा।

जब कोई हमारा अहित करे, या हमारी आलोचना अथवा निंदा करे, तो ऐसा होने पर तत्काल हमारे अंदर किस स्तर का क्लेश उत्पन्न होता है? और वह चुभन कितनी तीव्रता से, कितनी देर तक हमें सताती रहती है? इसे पहचाना जाए। जिस तीव्रता का वह क्लेश होगा तथा जितने लंबे काल तक वह चलता रहेगा, बस, उसी स्तर का अहंकार हममें है, यह स्वीकार करना होगा।

जब व्यक्ति इस परीक्षा में कैसा भी प्रभाव अनुभव न करे, तो वास्तव में वह परम विश्वास से मान सकता है कि उसने अपने अहंकार पर विजय प्राप्त कर ली है। पर फिर उसे अत्यंत सावधान रहना होगा कि कहीं उसमें अहंकार न होने का अहंकार तो जागृत नहीं होने लगा।

उपर्युक्त विधियों से अपने अहंकार का निरंतर अंकन करते हुए, जो भी अपने अहंकार को सर्वदा नियंत्रित रखने में सफल रहेगा, वह जीवनपर्यंत पराभव को नहीं प्राप्त हो सकता।

सत्य, अनंत ज्ञान, चैतन्यता, अक्षय ज्योति, अनंत शांति, परम आनंद, अनंत शक्ति, अनंत प्यार आदि सरीखे दिव्य तत्त्वों का प्रतिनिधि 'आत्म-तत्त्व' है। यथार्थ तो यह है कि ये समस्त तत्त्व जिन भी धातुओं से बने हैं, उन सभी

धातुओं को मिलाकर जो तैयार हो, वही 'आत्म-तत्त्व' है। अत: जब भी किसी व्यक्ति के अंदर से सत्य, ज्ञान, चैतन्यता, ज्योति, शांति, आनंद, शक्ति, तेज अथवा प्यार सरीखे तत्त्व उमड़ते देखें, तो जान लेना चाहिए कि उस व्यक्ति की निर्मलता का स्तर ऊँचा है तथा विवेक अहंकार पर प्राय: विजयी होता रहा है।

सब जानते हैं, और मानते भी हैं, कि यही समस्त तत्त्व, सृष्टि में सर्वाधिक माधुर्य एवं दिव्य आनंद प्रदान करनेवाले तत्त्व हैं। सामान्यतया जो व्यक्ति इन तत्त्वों को जितना अधिक व्यवहार में लाता है, वह जगत् में उतना ही अधिक सम्मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति और प्यार पाता है।

अब प्रश्न उठता है कि जब इतने दिव्य तत्त्वों का भंडार, अनंत मात्रा में, हमारे ही अंदर विद्यमान है, तो फिर हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण अनंत माधुर्य और आनंद में क्यों नहीं बीत पाता? मानव हजार दु:खों के बीच पड़ा कराहता क्यों देखा जाता है?

इसका मूल कारण यह है कि आत्म-तत्त्व में व्याप्त उपर्युक्त तत्त्वों की किरणों के पूरी तरह बिखरने में हमारा अहंकार एक बड़ी बाधा पैदा करता है। कितना भी बढ़िया दर्पण हो, यदि उसके ऊपर कोई मोटा आवरण पड़ जाए तो वह सूर्य की सतरंगी किरणों में से किसी भी किरण को प्रतिबिंबित करने में असमर्थ रहेगा। ठीक इसी तरह अनंत तेज-पुंज आत्म-तत्त्व पर, अहंकार एक आवरण-सा डाल देता है। अत: अहंकार जितना अधिक गहन होगा, व्यक्ति में उतना ही कम माधुर्य और आनंद पाया जाएगा।

मनुष्य के सौभाग्य से उसके अहंकार का यह आवरण आत्म के कितने भी बड़े भाग पर छाया हुआ हो, पर वह उसे पूरी तरह ढक सके, यह संभव नहीं है। चाहे वह भाग अत्यंत अल्प हो, पर कुछ भाग अवश्य ही उस आवरण से बचा रह जाएगा। आत्मा के इसी अनढके भाग को 'विवेक' कहा जाता है। हर व्यक्ति इस प्रकार अपने इसी विवेक के प्रकाश में, क्या सही है क्या गलत, उसे आँक सकने का अधिकार पाता है।

यहाँ एक बात स्पष्ट करना युक्तिसंगत होगा।

कुछ लोग इस आवरण को 'माया' कहते हैं। सांसारिक वैभव तथा इंद्रियों द्वारा प्राप्त सुख, दु:ख आदि ही 'माया' के नाम से जाने जाते हैं। विदित है कि जो स्वयं में उन अमृत समान तत्त्वों का भंडार है, उस 'आत्म-तत्त्व' को अपने ही स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी भी किस्म की प्यास लगे यह संभव नहीं है अत: सांसारिक वैभव इत्यादि तत्त्वों की समस्त प्यासों का उद्गम आत्म-तत्त्व नहीं, 'अहंकार' है। इस प्रकार 'माया' की प्यास, वस्तुत: केवल अहंकार में ही व्याप्त रहती है। अत: जिस आवरण को 'माया' का आवरण कहा गया, वह मूलत: केवल 'अहंकार' का है।

स्पष्ट है कि विवेक आत्म-तत्त्व का अंश होने के नाते, जो भी निर्देश देगा वह कभी भी गलत नहीं होना चाहिए। विवेक के स्तर में भिन्नता होने के कारण उसकी सामर्थ्य में अंतर हो सकता है, पर गुणात्मक रूप से, उसके द्वारा दिए गए निर्णय सत्य के अतिरिक्त किसी भी तत्त्व पर आधारित हो ही नहीं सकते। फिर भी, देखा जाता है कि इस 'सत्य' के स्वरूप 'विवेक' से कभी-कभी गलत निर्णय भी हो जाते हैं। ऐसा क्यों व कैसे होता है, उसके कारणों को जानना अनिवार्य हो जाता है। इसे पहचानने के लिए हमें उन तत्त्वों को जानना अनिवार्य हो जाता है। इसे पहचानने के लिए हमें उन तत्त्वों को जानना होगा जिनके आधार पर स्वयं 'विवेक' निर्णय करता है।

'विवेक' द्वारा सभी निर्णय, बुद्धि में पहले से ही बने हुए मानदंडों, मूल्यों, आस्थाओं एवं मान्यताओं के आधार पर होते हैं।

अत: यदि बुद्धि में मूल्य एवं मान्यताएँ ही गलत स्थापित हो गई हैं, तो उस व्यक्ति के विवेक द्वारा लिए गए

सारे ही निर्णय अनिवार्य रूप से गलत हो जाएँगे।

अत: सर्वप्रथम जो भी मानदंड, मौलिक मूल्य अथवा मान्यताएँ व्यक्ति ने, जाने या अनजाने में, जीवन में स्वीकार की हुई हैं, उन्हें परखना अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। सदियों से परखी हुई कुछ मान्यताएँ, कुछ मौलिक मूल्य, समस्त विश्व में सार्वलौकिक रूप से स्वीकार किए जा चुके हैं। उदाहरण के लिए सत्य, दिव्यता, विवेक, क्षमा, करुणा, ज्ञान, प्रेम, पूर्णता, मोक्ष, शांति, शक्ति, आनंद सरीखे बहुत से ऐसे तत्त्व एवं गतियाँ हैं, जो सार्वलौकिक रूप से शाश्वत एवं सर्वमान्य हैं। इन मूल्यों को प्राप्त करना सर्वसम्मति से, प्रत्येक पंथ, प्रत्येक संप्रदाय, प्रत्येक मजहब, यहाँ तक कि नास्तिकों द्वारा भी श्रेष्ठतम 'साध्य' माना गया है। ये समस्त तत्त्व एवं गतियाँ मानव की सदियों की ढूँढ़ के उपरांत प्राप्त हुए।

हालाँकि, सार्वलौकिक मूल्यों में से प्रत्येक मूल्य को अपने विवेक से भी परखना श्रेयस्कर होगा, परंतु यदि कोई इस प्रयोग में अपना समय नष्ट नहीं करना चाहता, और उपर्युक्त शाश्वत मूल्यों को ही अपनाकर जीवन बिताता है, तो भी उसका अभ्युदय सुनिश्चित रहेगा।

पर हम देखते हैं कि इसके विपरीत वर्तमान युग में इन शाश्वत मूल्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे मूल्य लोगों के दिलों में घर कर गए हैं, जिनके कारण मानव खोया-खोया सा अनुभव करने लगा है। वैभव, अपार धन, ख्याति, प्रभुसत्ता इत्यादि ऐसे मूल्य बन गए हैं, जिनके पीछे हजार-दो हजार नहीं, बल्कि विश्व के अधिकांश मनुष्य दौड़ते पाए जाते हैं। जब सारा संसार किसी दिशा-विशेष में दौड़ रहा है, और हम अपने को उस दिशा में दौड़ता नहीं पाते, तो मन में भयानक शंका होने लगती है कि कहीं हम ही तो गलती पर नहीं हैं? फिर आत्म-विश्वास की कमी हो जाने पर, हमारी भी, उसी दौड़ में लग जाने की संभावना अत्यंत प्रबल होती जाती है। अत: उस दौड़ में पड़कर हम कहीं खो न जाएँ, इस संभावना से बचने के लिए आवश्यक हो जाता है कि हम उन समस्त मूल्यों को परखें और पहचानें कि कौन सा मूल्य हमें कहाँ पहुँचाएगा।

प्रत्येक व्यक्ति जीवन में जिसे मूल्यवान समझता है उसे प्राप्त करना ही अपने जीवन का उद्देश्य बनाता है। जो गति जीवन के उद्देश्य की होती है, वही गति जीवन की भी होगी, यह प्रकृति का एक अकाट्य विधान है। अत: यदि कोई व्यक्ति सीमित अथवा नश्वर उद्देश्यों को लेकर जीवन चलाएगा तो उसकी गति भी सीमित एवं नश्वर होगी। इसके विपरीत, जिसके जीवन के उद्देश्य असीम, अनंत हैं, वह व्यक्ति उस चिरस्थायी अमरता को प्राप्त करेगा, जिसे प्राप्त करने के बाद कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रह जाता। अत: मूल्यों को बिना परखे जीवन बिताना, जीवन के साथ एक अत्यंत भयंकर खिलवाड़ है, जिसका भुगतान उस अमूल्य निधि को देकर होता है, जिसका नाम 'जीवन' है।

इसके अतिरिक्त, आधुनिक मानव, अत्यंत चतुर दलीलों को रखकर आधुनिक नश्वर मूल्यों में अपनी आस्था बनाता जा रहा है। पुरातन मूल्य किस आधार पर शाश्वत घोषित हुए, इसका प्रमाण न मिलने पर उन्हें ठुकराने में संकोच अनुभव नहीं करता। ऐसी परिस्थिति में यह अनिवार्य हो जाता है कि हर मूल्य की साधुता आधुनिक मानव के लिए अत्यंत विश्वसनीय एवं वैज्ञानिक ढंग से प्रमाणित की जाए। किसी भी तत्त्व को प्रमाणित करने के लिए किसी कसौटी का होना अनिवार्य है।

अत: स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या कोई ऐसी कसौटी संभव है, जो सभी मूल्यों की त्रुटिहीन 'परख' कर सके?*

जब मूल्यों को परखने की समस्या आती है, तो स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि उन्हें कौन परखेगा?

विवेक की यह अलौकिक दिव्यता का ही प्रमाण है कि मूल्यों को भी परखने की सामर्थ्य केवल 'विवेक' में ही

है। अत: मूल्यों की परख प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही विवेक से करनी होगी।

पर फिर प्रश्न यह उठता है कि जब विवेक की गति का मौलिक आधार वही मूल्य हैं, तो फिर मूल्यों की परख 'विवेक' द्वारा किस आधार पर की जाएगी?

मूल्यों की परख के आधार की जानकारी प्राप्त करने के लिए एक प्रयोग आवश्यक हो जाता है।

क्षण भर को मान लें कि हमारे अंत:करण में कोई भी मूल्य स्थापित नहीं है। ऐसी स्थिति में हम कर्म किस आधार पर करेंगे?

हिंदू दर्शन के अनुयायी कह सकते हैं कि जब जीव अपने पूर्व संस्कार लेकर जन्म लेता है, तो मानव की ऐसी अवस्था संभव ही नही है, जिसमें जीव में पूर्व संस्कारों के आधार पर कोई-न-कोई मूल्य व्याप्त न हों।

इस तर्क को भी मानते हुए परम विश्वास से यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में एक ऐसी अवस्था फिर भी रहीं, जब पूर्वजन्म के समस्त संस्कार तथा उन संस्कारों द्वारा जनित मूल्यों, यहाँ तक कि उसकी बुद्धि तक का, कैसा भी योगदान उसके कर्मों में प्रवेश नहीं कर पाया था।

वह अवस्था थी—जब मानव ढाई-तीन महीने का शिशु था।

अत: परखना होगा कि जिस काल में मूल्य, विवेक और बुद्धि, तीनों की गति शून्य थी, तब मानव किस आधार पर कर्म करता था। विदित है कि यदि उन आधारों का ज्ञान हो जाए, तो उन्हें मनुष्य की प्रेरणा के 'मौलिक आधार' स्वीकार करने में कैसी भी कोई आपत्ति संभव नहीं होगी। वास्तव में वे मौलिक ही हैं, यह तो इसी से प्रमाणित होता है कि विश्व भर के शिशुओं के आचरण में एक ऐसी समानता है जो देश, काल, संस्कृति, जाति, वर्ण, संप्रदाय आदि किसी भी किस्म के भेद को नहीं मानती।

'मूल्यों के मूल्यांकन' के संदर्भ में जब शोध किया गया तो पता चला कि 'मूल्य', 'विवेक' तथा 'बुद्धि'—तीनों के नितांत निष्क्रिय होने पर भी, प्रत्येक शिशु किन्हीं मौलिक लालसाओं से प्रेरित होकर, उन्हीं को तुष्ट करने हेतु विभिन्न कर्म करता पाया जाता है। वे लालसाएँ हैं—

1. जीवित रहने की — भूख के मारे प्राण निकलने को होते हैं तो चिल्लाने लगता है।

2. सुखमय स्थिति की — पेट में दर्द हुआ नहीं कि चिल्लाने लगता है। दु:ख नहीं चाहता।

3. प्यार की — कितना भी चिल्ला रहा हो, कोई भी उसे छाती से लगा ले तो एक बार तो चुप हो ही जाता है।

4. स्वतंत्रता की — उसके हाथों या पैरों को यदि कोई हिलने न दे, तो थोड़ी ही देर में चिल्लाने लगेगा।

5. प्रकाश की — एकाएक अँधेरा हो जाने पर चिल्लाने लगता है।

6. शांति की — कोई भारी शोर हो जाए तो घबराकर चिल्लाने लगता है।

7. व्यक्त करने की — यदि चिल्ला रहा हो और कोई उसका मुँह बंद करना चाहे तो और छटपटा- कर चिल्लाता है।

8. सतत कर्मशील रहने की — यदि जागृत है तो बराबर अपने हाथ-पैर फेंकता ही रहता है।

9. स्वच्छता की — मल-मूत्र में पड़ा हो तो चिल्लाने लगता है। आदि-आदि।

अत: प्रश्न उठता है कि इन लालसाओं का स्रोत कहाँ है?

लालसाओं के आधार पर आचरण में व्यापक समानता होने के कारण यह तो साफ विदित हो रहा है कि इनका उद्गम जहाँ से भी हो, वह तत्त्व सभी में एक ही होना चाहिए। मनुष्य की संरचना को देखते हुए दो ही तत्त्व ऐसे हैं,

जो मनुष्य में जन्मजात उपलब्ध रहते हैं तथा जिनसे इन लालसाओं के उदय होने की अपेक्षा की जा सकती है। एक 'आत्म-तत्त्व' तथा दूसरा चेतनामय 'अहंकार'। इन दोनों में आत्म-तत्त्व ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है, जो सभी में अभिन्न रूप से एक है। भिन्न-भिन्न शिशुओं के अहंकारों के स्तर में तो व्यापक भिन्नता होना वैसे भी स्वाभाविक है।

अत: अनिवार्य निष्कर्ष यही निकलता है कि समस्त लालसाओं की प्रेरणाएँ केवल 'आत्म-तत्त्व' से ही आती होंगी।

पर हम जैसे ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वैसे ही दो असंगतियाँ सामने प्रस्तुत हो जाती हैं। प्रथम तो यह कि प्यार की लालसा को छोड़कर बाकी सारी लालसाएँ शरीर से संबंधित हैं। और शरीर संबंधी लालसाएँ आत्मा से उदय हों, यह संभव नहीं है। दूसरी बात यह कि निस्संदेह शिशुओं के आचरणों में अद्‌भुत समानता है, पर उन्हें फिर भी अभिन्न रूप से एक सा नहीं कहा जा सकता। आत्मा से प्रेरित समस्त आचरणों में नितांत अभिन्नता होना अनिवार्य था।

दूसरे शब्दों में, एक ओर तो उन आचरणों में इतनी भिन्नता भी नहीं है, जो यह कहा जा सकता कि वे आत्म-तत्त्व के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत से प्रेरित हो सकें। दूसरी ओर, वे इतने अभिन्न भी नहीं, जो यह स्वीकार किया जा सकता कि वे केवल आत्म-तत्त्व से ही प्रेरित हैं। अत: इन लालसाओं का मूल उद्‌गम कहाँ है, यह एक पहेली-सी बन गई, खास तौर पर इसलिए कि बुद्‌धि के नितांत निष्क्रिय अवस्था में होने के कारण, केवल 'आत्म-तत्त्व' और 'अहंकार' ही दो तत्त्व रह जाते हैं, जो इन लालसाओं का उद्‌गम हो सकते हैं। अन्य कोई भी शक्ति मनुष्य में जन्मजात होती ही नहीं।

वस्तुत: यह पहेली इतनी जटिल नहीं सिद्‌ध हुई। आत्म-तत्त्व से उदय होनेवाली लालसाएँ नहीं, अपितु उत्कट मौलिक प्यासें, नितांत एकरस और शाश्वत होने के कारण, संसार में पहले से ही सुविख्यात हैं। वे प्यासें हैं—

1. अमरत्व की
2. परम आनंद की
3. दिव्य प्रेम की
4. मोक्ष की
5. परम तेजोमय स्थिति की
6. परम शांति की
7. शाश्वतता की
8. परम शक्तिमान बनने की
9. परम पवित्रता की, आदि-आदि।

अत: होता यह रहा कि आत्म-तत्त्व की 'प्यासें' जब अपने मौलिक वेग से उठीं तो उनका स्वरूप वही था, जो आत्म-तत्त्व से उठनेवाली प्यासों का होना चाहिए था। परंतु इससे पहले कि वे अपने को तृप्त करवाने के लिए शिशु के आचरण में प्रकट होतीं, बीच में ही अहंकार उन सभी प्यासों का भौतिकीकरण करता चला गया। 'अहंकार' तो भौतिक जगत् का अधिष्ठाता ही है और शरीर नितांत भौतिक तत्त्वों से बना है। अत: अहंकार को उन सभी 'प्यासों' को शरीर के लिए प्रासंगिक 'लालसाओं' में परिणत करने में किंचित् भी कठिनाई नहीं हुई। यही कारण रहा कि 'प्यासों' की अभिन्नता होने के बावजूद आचरण में प्रकट होनेवाली 'लालसाओं' में किंचित् भिन्नताएँ दृष्टिगोचर

होती रहीं। और जहाँ शिशुओं के आचरण में समानता तो विश्वव्यापी मिलती रही, अभिन्नता नहीं मिल सकी, क्योंकि प्यासों का भौतिकीकरण तो प्रत्येक शिशु का अहंकार केवल अपने ही स्तर के अनुरूप कर सकता था, और अहंकार के स्तरों में अभिन्नता हो सके, यह संभव नहीं था।

इस तरह आत्म-तत्त्व से उदय होनेवाली 'अमरतत्त्व' की मौलिक प्यास का भौतिकीकरण करके अहंकार ने, शरीर को जीवित रखने की लालसा में परिणत कर दिया।

'परम आनंद' की मौलिक प्यास को, मात्र सुख की लालसा में बदलकर रख दिया।

'कारणरहित दिव्य प्रेम' की मौलिक प्यास को, सुरक्षा की अनुभूति के निमित्त, प्यास की लालसा में प्रकट किया।

'मोक्ष' की मौलिक प्यास को केवल शारीरिक स्वतंत्रता सुरक्षित रखने की लालसा में परिणत कर दिया।

'परम तेजोमय स्थिति' की मौलिक प्यास को मात्र अपने चारों तरफ प्रकाश रखने की लालसा में बदल दिया।

'परम शांति' की मौलिक प्यास केवल शोरगुल से दूर रहने की लालसा बनी।

'शाश्वतता' की मौलिक प्यास अपने को व्यक्त करके अपने अस्तित्व को जताने की लालसा में उदय हुई।

'परम शक्तिमान' बनने की मौलिक प्यास निरंतर हाथ-पैर चलाकर केवल अपने शरीर को सशक्त करने की लालसा में परिणत होकर प्रकट हुई।

'परम पवित्रता' की मौलिक प्यास, मात्र अपने शरीर को स्वच्छ रखने की लालसा के रूप में आचरण में आई।

यह सब क्यों और कैसे होता रहा है, इसके भेद को समझने पर इन गतिविधियों को समझना बहुत सहज हो जाएगा। पर इस रहस्य को समझने के लिए 'आत्म-तत्त्व' तथा 'अहंकार' के बारे में कुछ और जानकारी हो जाना आवश्यक होगा।

'आत्म-तत्त्व' प्रकृति से बहुत परे, एक 'परम तत्त्व' की सत्ता का अंश है, जबकि अहंकार भौतिक जगत् अर्थात् प्रकृति की सत्ता की सम्राज्ञी शक्ति है। 'परम तत्त्व' तथा 'प्रकृति' गुणात्मक दृष्टि से एक-दूसरे के एकदम विपरीत हैं। एक पूर्णतया अदृश्य है, तो दूसरा नितांत प्रकट। एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, तो दूसरा स्थूल। एक काल, फासले तथा वजन से परे है, तो दूसरा इन तीनों के अधीन, आदि-आदि। यही कारण है कि क्रमश: इन दोनों के प्रतिनिधि, अर्थात् —'आत्म-तत्त्व' तथा 'अहंकार' भी गुणात्मक दृष्टि से एक-दूसरे से पूरी तरह विपरीत हैं। परंतु कुछ बातों में दोनों में अद्‌भुत समानता भी है। आत्म-तत्त्व तथा अहंकार दोनों ही अपनी-अपनी सत्ता की प्रचंड शक्तियों के पुंज हैं। मनुष्य में दोनों ही जन्मजात विद्यमान रहते हैं। दोनों ही अपनी-अपनी कुछ मौलिक प्यासों से ग्रस्त रहते हैं। दोनों ही शरीर के माध्यम से अपनी-अपनी प्यासों को तुष्ट करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं। वस्तुत: इस संदर्भ में, दोनों में एक अद्‌भुत स्पर्धा होती रहती है। दोनों में 'अनुभूति' करने की विलक्षण सामर्थ्य होती है। इतना अवश्य है कि दोनों की अनुभूति करने की सामर्थ्य में विराट अंतर है। उसी अंतर को समझने पर दोनों की असलियत का पता चलता है और संसार में मनुष्यों के समस्त आचरणों के मूल में क्या है, इसका भी पता मिलता है। इसी के साथ इस समस्या का समाधान भी मिल जाता है, जिसे लेकर यह सारा चिंतन प्रारंभ किया गया था। अर्थात्, प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, विचार, परिस्थिति तथा गतिविधि का त्रुटिविहीन मूल्यांकन किस कसौटी पर किया जाए, जिससे बुद्‌धि में केवल वही मूल्य एवं मान्यताएँ स्थापित हो सकें, जिनके आधार पर विवेक द्‌वारा लिए गए निर्णय कालांतर में कभी गलत सिद्‌ध न हो सकें।

आत्म-तत्त्व तथा अहंकार में अनुभूति करने की सामर्थ्यों में अंतर

हम जान चुके हैं कि हमारे अंदर अनुभूति करने की सामर्थ्य केवल दो तत्त्वों में है—एक, आत्म-तत्त्व; दूसरा,

चेतनामय अहंकार। जहाँ 'आत्मा' की यह सामर्थ्य मौलिक है, वहाँ अहंकार के अंदर यह नितांत मसनूई है : एक 'मिराज'—मृगतृष्णा—के सदृश है। इसीलिए अहंकार से उदय होनेवाली समस्त लालसाएँ भी उतनी ही कृत्रिम होती हैं। बात यहाँ तक ही होती तो शायद मनुष्य इतना भ्रमित न हो पाता। पर अहंकार जिस तरह आत्मा की मौलिक प्यासों का भौतिकीकरण कर डालता है, उससे उन मौलिक प्यासों का स्वरूप पूरी तरह बदल जाता है। उदाहरणार्थ, आत्मा की परम आनंद की प्यास केवल मात्र इंद्रियजन्य सुखों की लालसा में बदली। इस तरह अहंकार से प्रेरित लालसाओं को देखकर मनुष्य की जन्मजात मौलिक तथा वास्तविक प्यासों का अनुमान तक नहीं लगाया जा सकता।

इसमें संदेह नहीं कि अहंकार की ही लालसाओं को अपनी मौलिक प्यास के रूप में, मनुष्य उन्हें पूरी यथार्थता से अनुभव करता है, और क्योंकि अपनी मौलिक प्यासों को पूरा करना प्रत्येक जीव का वांछित परम धर्म है, इसीलिए मनुष्य उन्हें ही तुष्ट करने में संपूर्ण जीवन ही लगाता देखा जाता है।

इसमें भी किंचित् संदेह नहीं है कि उन्हीं लालसाओं से प्रेरित होकर मनुष्य वे भौतिक उपलब्धियाँ भी प्राप्त करता है, जो किसी भी राष्ट्र को सशक्त बनाती हैं। अत: राष्ट्रीय संदर्भ में इनका महत्त्व अमूल्य है।

परंतु यदि अपने इस अहंकार के व्यवसाय से मनुष्य 'आत्म-तुष्टि' की किंचित् भी कामना करे, तो वह अवश्य एक बहुत गंभीर भूल होगी। वस्तुत: किंग सोलोमन से यही भूल हुई थी। बाइबिल के 'इक्लिजियास्टीज' शीर्षक अध्याय में सोलोमन ने लिखा कि ''अभूतपूर्व धन-दौलत, ऐश्वर्य, ख्याति, प्रभुसत्ता, अद्‌भुत बुद्‌धिमत्ता तथा हर संभव भोगों का सुख अर्जित करने के बाद, जीवन की संध्या में ऐसा लग रहा है मानो जीवनपर्यंत जो भी प्रयास किए, वे हवा को पकड़ने के सदृश थे।'' अर्थात् इतनी उपलब्धियों के उपरांत भी उसने अपना हृदय रीता और हाथ खाली ही पाए। दूसरे शब्दों में, वह जितना प्यासा जन्मा था, उतना ही प्यासा अंत तक बना रहा। निस्संदेह उसने अपने राष्ट्र को चरम सीमा पर पहुँचाया था, पर उन प्रयासों से आत्मतुष्टि मिलना संभव नहीं था।

जिस अद्‌भुत प्यास से प्रेरित होकर एक पतंगा किसी दीपक की ओर लालायित होकर जाता है, वह प्यास दर्पण पर पड़नेवाले उसी दीपक के प्रतिबिंब पर मँडराने से क्या कभी बुझ सकेगी? खास तौर पर तब, जब उसकी लौ को भी विकृत कर दिया गया हो। मानव की वास्तविक तुष्टि तो आत्म-तत्त्व से उदय होनेवाली प्यासों के तुष्ट होने पर ही हो सकती है, उसके भौतिकीकृत प्रतिबिंबित स्वरूप को तृप्त करने से नहीं।

अहंकार से जनित लालसाओं की कृत्रिमता वस्तुत: इसी बात से प्रमाणित हो जाती है कि उनको पूरा करने पर, बजाय तृप्त होने के, मनुष्य और अधिक लालायित अनुभव करता है। किसी भी प्यास के बुझने से जो तुष्टि हृदय को मिलती है, वह उन लालसाओं को पूरी करने के उपरांत इसीलिए नहीं मिल पाती क्योंकि वे न तो मौलिक हैं और न ही वास्तविक। मनुष्य उन्हें अपने जन्म से साथ लेकर नहीं आया था। इसके विपरीत आत्मा की प्यासें जन्मजात हैं। इसीलिए आत्मा की अनेक प्यासों में से कोई भी एक, यदि कुछ ही क्षणों के लिए तृप्त होती है, तो वह घट-घट की समस्त प्यासों को सदा के लिए तुष्ट कर जाती है।

आत्म-तत्त्व और अहंकार की अनुभूतियों में गुणात्मक अंतर होने से उत्पन्न व्यावहारिक समस्याएँ

1. सामान्य मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या यह है कि आत्मा से उदय होनेवाली प्यास को तुष्ट करने का कोई सीधा तरीका उसे नहीं मिलता। इंद्रियों का विषयों से संयोग होते ही सुख प्राप्त होने की बात तत्काल हृदय में उतर जाती है। लोक सेवा, उदारता, दया, करुणा, दान आदि के माध्यम से सुख से भी दिव्य, आनंदों का सीधा रिश्ता, तुरंत नहीं, तो दो-एक दिन में ही स्पष्ट नजर आने लगता है। परंतु आत्मा की 'परम आनंद' सरीखी प्यास का प्रत्यक्षत: ऐसा कोई सीधा रिश्ता संसार की किसी चीज से दिखता ही नहीं।

2. फिर, परम आनंद की परिभाषा सुनकर भ्रांति और अधिक बढ़ जाती है। बताया गया कि ''कारणविहीन आनंद ही परमानंद है।'' यह हैरानी तब पूरी हो जाती है, जब बताया जाता है कि 'परमानंद' तो प्रत्येक व्यक्ति के अंदर जन्मजात व्याप्त रहता है। तर्क से परे इन बातों पर कैसा भी विश्वास जमना संभव नहीं हो पाता। आखिर अगर परमानंद प्रत्येक मनुष्य के अंदर जन्म से ही व्याप्त रहता है तो सामान्य मनुष्य जीवन भर अनेक दु:खों से कैसे पीड़ित रहता है।

3. जो अधिक जानकार हैं, वे बताते हैं कि सृष्टि में सामान्यतया देखे जानेवाले कारण और परिणाम के रिश्ते को देखते हुए, परमानंद को कारणविहीन आनंद कहना ही उपयुक्त होगा। पर यथार्थ में वह इतना कारणविहीन भी नहीं है। परम आनंद, परम शांति के प्राप्त होते ही अपने आप अंत:करण को आप्लावित करने लगता है। परम शांति खोजने के लिए आत्मा को अपने उद्‌गम को प्राप्त करना होगा। आत्मा का उद्‌गम 'पूर्णता' है। अत: पूर्णता प्राप्त करने पर ही परम शांति संभव है। जब पूछा जाता है कि शरीर रहते पूर्णता कैसे प्राप्त की जा सकती है, तो बताया जाता है कि मनुष्य के शरीर के लिए शरीर रहते पूर्णता प्राप्त करना अवश्य असंभव है, पर मनुष्य के सौभाग्य से पूर्णता प्राप्ति के मार्ग पर लगते ही, तथा उस पर सतत लगे रहने पर, वही परम शांति मनुष्य को उपलब्ध हो जाती है जो पूर्णता प्राप्त करने पर उपलब्ध होती। किसी तरह इस सबको स्वीकार भी करके जब पूछा जाता है कि 'पूर्णता' क्या है, तो बताया जाता है कि पूर्णता क्या है इसे व्यक्त करना संभव नहीं, पर यदि मनुष्य अपने विचार, वाणी तथा कर्मों को अपने विवेक के अनुकूल बनाए रखने का सतत प्रयत्न करता रहे, या अपने समस्त कर्मों को करने की एकमात्र नीयत से अपनी संपूर्ण सामर्थ्य लगाता रहे और या फिर, अपने को शून्य मानकर संपूर्ण श्रद्‌धा और विश्वास से, अपने को उस पूर्ण के पूरी तरह हवाले कर दे, तो इन तीनों में से किसी भी साधन को अपनाने पर माना जाएगा कि वह पूर्णता के मार्ग पर लग लिया है।

इतनी सारी पेचीदगियों से भरा मार्ग सामान्य मनुष्य की समझ में उतर नहीं पाता। फिर, इन साधनों का 'पूर्णता' से क्या नाता है? इन्हें अपनाकर परम शांति क्यों व कैसे आ जाती है? परम शांति का परम आनंद से रिश्ता क्या है? एक को प्राप्त करके दूसरा स्वत: क्यों व कैसे प्राप्त हो जाता है? तथा परमानंद ही आत्मा की मौलिक प्यास है इसका प्रमाण क्या है? आदि-आदि तमाम प्रश्नों के तर्कसंगत उत्तरों के अभाव में वह यही मान बैठता है कि ये सारी बातें कपोल कल्पना हैं। ऐसा सोचने में मनुष्य के अंदर बैठे अहंकार से उसे जबरदस्त सहायता मिलती है।

इन भ्रांतियों का मूल कारण है प्रकृति के विभिन्न नियमों तथा विधानों से अनभिज्ञता तथा जानकार लोगों की बातों पर अविश्वास।

4. मनुष्य की चौथी समस्या का कारण है आत्मा तथा अहंकार की पारस्परिक घोर विपरीतता। इसी के कारण जब तक व्यक्ति अपने अहंकार के आदेशों पर चलता रहता है, आत्मा की मौलिक प्यासों के बारे में स्मरण करानेवाला भी कोई नहीं रहता और अहंकार का राज निर्विरोध चलता है। इसके विपरीत पूर्णता, परम शांति, परम आनंद आदि की चर्चाएँ सुनकर अहंकार अत्यंत उद्‌विग्न होने लगता है। वह जानता है कि अगर भूल से भी मनुष्य को, आत्मा को तुष्ट करने का कोई भी साधन मिल गया, तो फिर उसकी सत्ता तथा उसका महत्त्व सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाएगा। इसीलिए पूर्णता, परम शांति, परम आनंद आदि की बातें भी अहंकार को विष के समान लगती हैं और वह बुद्‌धि को हर संभव दलीलें देकर, इन सब बातों को कपोल-कल्पित मिथ्या तथा तर्क से विहीन घोषित करने में अपनी सारी शक्ति लगा देता है। अत: ऐसे में मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़-सा होने लगता है। किंकर्तव्यविमूढ़ इसलिए कि एक ओर तो अहंकार की बातें नितांत तर्कपूर्ण और दिमाग में उतरनेवाली होती ही हैं, पर दूसरी तरफ पूर्णता, परम शांति, परम आनंद के बारे में मात्र चर्चा भी उसके अंत:करण में ऐसी विचित्र सी शांति

देती है जैसी सामान्यतया उसके अनुभव में कभी नहीं आई होती है। उस अनुभव को अहंकार के सारे तर्कों के बावजूद ठुकराना भी संभव नहीं हो पाता।

5. आत्म-तत्त्व तथा अहंकार दोनों एक-दूसरे के परस्पर विरोधी होने के कारण इनकी माँगें एकदम विपरीत हैं। यदि आत्मा की माँग है संपूर्ण इंद्रियनिग्रह, तो अहंकार की माँग है इंद्रियों को समस्त भोगों को भोगने की पूरी छूट। अहंकार की लालसाएँ, उद्विग्नताएँ बढ़ाती हैं, तो परमानंद की प्यास बुझाने के लिए समस्त उद्विग्नताओं से मुक्ति अनिवार्य है। आत्मा की प्यास बुझाने के लिए अंतर्जगत् में स्थित होने का मन करता है, तो अहंकार की लालसाएँ मनुष्य को बाह्य जगत् में घूमने के लिए ही प्रेरित करती हैं आदि-आदि। इसका अनिवार्य फल यह होता है कि अहंकार की लालसाओं को तृप्त करनेवाले व्यक्तियों, विचारों, वस्तुओं तथा गतिविधियों में मनुष्य शनैः-शनैः और अधिक आसक्त होता है और वे ही उसके लिए सर्वाधिक मूल्य के हो जाते हैं। इसके विपरीत आत्मा को तुष्ट करनेवाले सारे तत्त्व धीरे-धीरे अप्रासंगिक और मूल्यरहित होते जाते हैं। अर्थात् एक की माँगें पूरी करने पर उसी अनुपात में दूसरे से दूरी हो जाना अनिवार्य है।

संशयों, अविश्वासों तथा शंकाओं से घिरा मनुष्य उपरोक्त पाँचों समस्याओं के कारण आत्मा की तुष्टि के मार्ग को अगम्य मानकर उससे विमुख होता जाता है, और सोलोमन की तरह असंख्य विचारशील जन यह महसूस करते पाए जाते हैं कि व्यक्तियों, विचारों, वस्तुओं तथा गतिविधियों के मौलिक अंकन में कहीं-न-कहीं कोई बहुत गंभीर गलती अवश्य हो गई, क्योंकि अनेकानेक उपलब्धियों के होते हुए भी उनके जीवन में एक ऐसा अवर्णनीय खालीपन अनुभव होता है, जिसे भरे बिना सारा ऐश्वर्य, सारी उपलब्धियाँ नितांत सारहीन और नीरस लगती हैं। इस संपूर्ण गतिविधि का सबसे दर्दनाक पहलू यह है कि इस खालीपन की अनुभूति भी प्रायः उन वैभव संपन्न लोगों को ही हो पाती है जो जीवनपर्यंत उस ऐश्वर्य और वैभव को प्राप्त करने के लिए प्रयास करते रहे और उनको प्राप्त करने के उपरांत उनकी निरर्थकता की अनुभूति कर पाए। जो निचले अथवा मध्यम वर्ग के लोग हैं, उन्हें उन उपलब्धियों के खोखलेपन का आभास भी नहीं मिल पाता। अहंकार का यही विलक्षण कौशल है कि जब तक मनुष्य उपलब्धियाँ प्राप्त नहीं कर लेता, उसकी लालसा को उनकी निगाह में कृत्रिम सिद्ध कर पाना असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। अतः संसार के अधिकांश लोगों को तो अंत तक भी आत्मा की मौलिक प्यासों का बोध तक नहीं हो पाता और वे अहंकार के छलावे के अधीन होकर ही जीवन बिता जाते हैं। यही कारण है कि संसार में अहंकार के मानदंडों के आधार पर मूल्यों और मान्यताओं का चलन व्यापक रूप से पाया जाने लगा।

अहंकार के इस भयंकर छलावे का भेद कैसे खुले?

अहंकार के छलावे से मुक्त होने के लिए केवल कुछ सच्चाइयों तथा अपवाद-रहित कुछ नियमों को अंगीकार करने की आवश्यकता है। बहुत से लोगों को यह भ्रम रहता है कि आत्मा के कल्याण के मार्ग को पकड़ने पर संसार से संन्यास लेना पड़ता है। वस्तुतः स्थिति इसके ठीक विपरीत है। अहंकार की यथार्थता का परिचय हो जाने पर फिर अहंकार व्यक्ति का स्वामी कभी नहीं बन सकता। वह फिर व्यक्ति का दास बनकर सक्रिय होता है। सामान्य जन, अज्ञानतावश संसार के होकर जीते हैं। जिसे वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है, वह संसार को अपने अधीन रखकर जीता है। संसार में संन्यास का कहीं भी प्रश्न नहीं उठता। वस्तुतः जहाँ आत्मा से विमुख होना अपने प्रति घोरतम पाप है, वहाँ संसार से विमुख होना राष्ट्र के प्रति घोरतम पाप है। अपने और राष्ट्र दोनों के अभ्युदय को सुनिश्चित करते हुए जीवन चलाना ही सर्वोपरि मूल्य है। उसे निभाना ही सर्वोपरि जीवन कौशल।

सच्चाइयाँ जिन्हें पहचानकर अंगीकार करना है

1. पहला सत्य— आकांक्षा सतत सुख एवं आनंद की हो, या शक्तिशाली बनने की, अमरता की हो या दिव्य बनने

की, स्वतंत्रता की हो या ज्ञानार्जन की, सारी ही ऐसी आकांक्षाएँ सार्वकालिक, सार्वभौमिक ही नहीं, नितांत सार्वजनिक भी हैं, और ये प्रत्येक मनुष्य में पाई जाती हैं। इससे प्रमाणित होता है कि आकांक्षा करनेवाला तत्त्व प्रत्येक मनुष्य में अभिन्न रूप से एक ही होना होगा। ऐसी शाश्वतता तथा अभिन्नता रखनेवाला एक ही तत्त्व मनुष्यों में संभव है। वह है आत्म-तत्त्व।

2. दूसरा सत्य—परम तत्त्व को भले ही किसी ने देखा न हो, पर आदिकाल से आज तक विश्व भर के जिन असंख्य मानव रत्नों को उसकी अनुभूति हुई है, उनमें से प्रत्येक ने उसके जो-जो लक्षण एवं गुण बताए हैं, उनमें रंचमात्र भी अभिन्नता नहीं पाई जाती। साथ ही, मनुष्य की उपर्युक्त प्रत्येक मौलिक आकांक्षा उसी के किसी-न-किसी गुण से मिलती-जुलती है। इससे प्रमाणित होता है कि मनुष्य में उसी परम तत्त्व के गुणों को प्राप्त करने की प्यास सर्वव्यापी है।

3. तीसरा सत्य—उपर्युक्त दूसरे सत्य से यह भी प्रमाणित होता है कि जिसे परम तत्त्व, भगवान्, अल्लाह, गॉड आदि नामों से संबोधित किया गया है, उसका तथा मनुष्यों में आकांक्षा करनेवाले आत्म-तत्त्व का अवश्य ही कोई सीधा रिश्ता है। इससे तत्त्व-ज्ञानियों की इस घोषणा को कि आत्म-तत्त्व परम तत्त्व का ही अंश है, बहुत प्रामाणिक बल मिलता है।

4. चौथा सत्य—जो अद्‌भुत रस अपने बचपन की अथवा अपने पिता या पितामह के जीवन की कहानियों को सुनने से प्राप्त होता है, उतना ही अपूर्व रस हर उस कहानी में आता है, जिसका कैसा भी संबंध परमात्मा से हो। इससे किंचित् भी अंतर नहीं पड़ता कि वह कहानी बाइबिल से ली गई या कुरान से, गुरुग्रंथ साहब से ली गई या श्रीमद्‌भागवत से। जाति, धर्म और देश, सभी की सीमाओं को तोड़ते हुए, टेलीविजन सीरियल 'रामायण' की बढ़ती हुई विश्व-व्यापी लोकप्रियता, इसका एक छोटा सा प्रमाण है। यह रस की समानता इस बात का प्रमाण है कि हममें जिस स्तर की आत्मीयता अपने से अथवा पिता या पितामह से है, उसी स्तर की आत्मीयता अवश्य ही उस परमात्मा से भी है। अर्थात्—परमात्मा प्रत्येक मनुष्य का अपना ही रूप है। अर्थात् आत्म-तत्त्व उस परम तत्त्व का एक अभिन्न अंश है।

5. पाँचवाँ सत्य—जब आत्मा तथा परमात्मा का ऐसा आत्मीयता का नाता प्रमाणित हो जाता है, तो स्वीकार करना होगा कि जैसे हर जीव के बच्चे को अपनी माँ के समीप पहुँचने की एक ललक सदा रहती है, उसी तरह प्रत्येक आत्मा में भी परमात्मा को प्राप्त करने की जन्मजात ललक होती होगी। वस्तुत: यथार्थ भी यही है। मनुष्य के अंदर यदि अहंकार अपना अतिरिक्त प्रेरणा-स्रोत न सृजित करता, तो वह ललक निश्चय ही प्रत्येक मनुष्य को अपने पूर्ण वेग से स्वत: अनुभव होती रहती। वास्तव में यही आत्मा की मौलिक प्यास है और इसे ही तुष्ट करना मनुष्य का प्रमुख उद्‌देश्य भी है, और परम मूल्य भी। इसका सबसे सबल प्रमाण यह है कि जिसकी यह मौलिक प्यास तुष्ट हो गई उसकी समस्त अन्य प्यासें सदा-सदा के लिए स्वत: तृप्त हो जाती हैं। वह तो फिर निरंतर एक अपूर्व रस में डूबा रहता है। इसके विपरीत अहंकार की हर लालसा को पूरा करते हुए, अभूतपूर्व वैभव और ऐश्वर्य तथा हर संभव भोगों के सुखों को प्राप्त करने के उपरांत भी, सम्राट सोलोमन सरीखा महापुरुष अपने अंदर असीम बेचैनी पैदा करनेवाला खालीपन अनुभव करता है। उसका मूल कारण यही है कि अहंकार की लालसाएँ कितनी ही मनमोहक हों, वे हैं नितांत कृत्रिम, क्योंकि जो प्यास सर्वथा अनबुझ हो, वह असली या वास्तविक हो ही नहीं सकती। वस्तुत:, किसी प्यास की तुष्टि ही उसकी यथार्थता का प्रमाण है।

6. छठा सत्य—स्वयं आत्मा की अनुभूति करना, आत्मा को पूर्णता प्राप्त कराने में रत रहना, आत्मा को असीमता प्राप्त कराना, परमात्मा के अधीन संपूर्ण समर्पण करना, परमात्मा की अनुभूति करना अथवा परमात्मा के किसी भी

गुण को अपने अंदर दिव्यतम स्तरों तक सृजित करना, ये सारी ही बातें पर्यायवाची हैं। सबका गंतव्य आत्म-तत्त्व को परम तत्त्व में विलीन कराना ही है।

7. सातवाँ सत्य— मनुष्य के जीवन का प्रमुख उद्देश्य आत्म-तत्त्व को परम तत्त्व में विलीन कराना है। यही मनुष्य का सर्वोपरि साध्य है, सर्वोपरि शाश्वत मौलिक मूल्य भी।

प्रकृति के कुछ विधान एवं सिद्धांत

1. शांति की आकांक्षा आत्मा की मौलिक प्यास है। जैसे शिशु को अपनी माँ की गोद में परम शांति मिलती है, वैसे ही आत्म-तत्त्व को केवल अपना उद्गम प्राप्त करने में ही शांति प्राप्त हो सकती है।

2. जैसे यात्रा से पहले कितनी ही बेचैनी अथवा बदहवासी क्यों न हो, रेल पर बैठते ही वही चैन मिलता है, मानो गंतव्य पर पहुँच लिए। उसी तरह पूर्णता के मार्ग पर लगते ही पूर्णता प्राप्ति पर उपलब्ध होनेवाली परम शांति स्वत: प्राप्त होने लगती है।

3. पूर्णतया शांत होने पर जैसे झील का पानी चारों दिशाओं के दृश्य को प्रतिबिंबित करने लगता है, उसी तरह परम शांति प्राप्त करते ही, परम आनंद, जो आत्मा की शाश्वत मौलिकता है, स्वत: अंत:करण को आप्लावित करने लगता है।

4. पूर्णता वह स्थिति है, जिसमें किसी परिवर्तन की आवश्यकता न रह जाए। किसी तत्त्व की अपरिवर्तनीय शाश्वतता उसकी पूर्णता का प्रमाण है।

5. जैसे आत्मा अपनी प्यासों की तुष्टि होने पर धन्य होती है वैसे ही शरीर का प्रतिनिधित्व करनेवाला अहंकार शरीर की लालसाओं के पूरे होने पर धन्य होता है। गुणों की दृष्टि से आत्मा और शरीर एक-दूसरे के विलोम हैं।

6. अहंकार भौतिक समृद्धि तथा उसके माध्यम से राष्ट्रीय शक्ति के विकास का एकमात्र अमोघ साधन है। राष्ट्रीय संदर्भ में इसका योगदान परम मूल्यवान है।

7. दास की हैसियत से अहंकार से बड़ा मित्र कोई नहीं। पर स्वामी की हैसियत से वही सर्वनाश का हेतु बनता है।

8. पदार्थ-जगत् जिन नियमों के अधीन चलता है, अनुभूति-जगत् के नियम उसके ठीक विपरीत हैं। उदाहरणार्थ, पदार्थों का भंडार बटोरने से बढ़ता है, लुटाने से घट जाता है। अनुभूतिजन्य समस्त तत्त्व जैसे सुख, प्यार, सम्मान आदि बटोरने से घटते हैं और देने से बढ़ते हैं।

9. प्रत्येक जीव निरंतर अविच्छिन्न आनंद में जीवन बिताए, यह प्रकृति का विधान है। इसीलिए सृष्टि के समस्त प्राणी नितांत दु:ख से रहित और निरंतर सुखमय जीवन बिताते देखे जाते हैं। अपने उद्देश्य से विमुख होने के कारण मनुष्य ही एकमात्र प्राणी है जो सृष्टि में दु:खी देखा जाता है। दु:ख अप्राकृतिक अवस्था है।

10. यदि मनुष्य स्वेच्छा से दूसरों के दु:ख बाँटता रहे, तो वर्तमान ही नहीं, प्रारब्ध के दु:खों से भी निवृत्त होता है।

11. स्वेच्छा से, अवसर निकालकर दूसरों को सुख पहुँचाने से मनुष्य अक्षय सुख का भंडार सृजित करता है।

12. जीवनयापन का श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम साधन अंतत: साधन ही रहेगा। उसे जीवन का उद्देश्य अथवा 'साध्य' बना लेना घातक भूल होती है।

13. अपने कार्यक्षेत्र के समस्त कर्तव्यों को केवल संपूर्ण कौशल की नीयत से, संपूर्ण सामर्थ्य लगाकर करने पर मनुष्य समस्त अभावों से सर्वदा मुक्त रहेगा। ऐसा करने पर भौतिक जगत् में चमत्कारिक उपलब्धियाँ तथा आत्मा के लिए पूर्णता मिलना अनिवार्य है।

14. समय अथवा काल का जो जितना सम्मान करेगा, काल उसे उसी अनुपात में संसार में सम्मान दिलाता है।

15. प्रत्येक कार्यक्षेत्र का निर्माण जिस उद्देश्य से किया गया, केवल उसी उद्देश्य की पूर्ति ही सफलता का एकमात्र मानदंड है। ऐसी सफलता ही संसार में कीर्ति का हेतु होती है।

16. प्रकृति के सिद्धांतों तथा विधानों में अपवाद नहीं होता।

किसी भी सिद्धांत अथवा विधान की प्रामाणिकता उसके अनुरूप क्रिया करके घोषित परिणामों को प्राप्त करने में निहित है। इस दृष्टि से उपर्युक्त समस्त सिद्धांत अथवा विधान बिना अपवाद के प्रामाणिक हैं।

उपर्युक्त सच्चाइयों तथा प्रकृति के नियमों को जो मनुष्य विचार करके अपने विवेक से अंगीकार करेगा वह फिर अहंकार की छद्म चालों में नहीं आ सकेगा। अहंकार की छद्मता से मुक्त होते ही समस्त मानदंडों, आस्थाओं तथा मान्यताओं का वास्तविक सत्य में प्रतिष्ठित हो जाना अनिवार्य है।

मूल्यों की वास्तविक कसौटी

किसी भी वस्तु, विचार, व्यक्ति अथवा गतिविधि का मूल्य उनकी उपयोगिता पर आधारित होगा। उपयोगिता व्यक्ति की आवश्यकताओं पर आधारित होती है। आवश्यकताएँ व्यक्ति के अस्तित्व के उद्देश्य पर आधारित होंगी। उद्देश्य व्यक्ति की मौलिक आकांक्षाओं, मौलिक प्यासों पर आश्रित होगा। अब विदित हो चुका है कि मौलिक प्यासें दो प्रकार की होती हैं—

1. वास्तविक एवं अनिवार्य, 2. कृत्रिम एवं त्याज्य।

अत: किसी भी वस्तु, विचार, व्यक्ति अथवा गतिविधि के मूल्यांकन की एकमात्र कसौटी यही है कि वे मनुष्य की वास्तविक एवं अनिवार्य प्यासों को तुष्ट करने में किस स्तर का सहयोग देती हैं।

मौलिक मूल्य की यह कसौटी केवल व्यक्तिगत जीवन के लिए है। पर तीन बातें व्यक्ति से भी अधिक मूल्य की हैं—

1. जब किसी व्यक्ति के जीवन का अंकन उस व्यक्ति के मूल्यों पर आश्रित है, तो मूल्यों की सुरक्षा, ऐसा सर्वोपरि परम मूल्य बन जाना अनिवार्य है जो व्यक्ति के जीवन तथा उसके सारे मूल्यों से भी अधिक मूल्यवान हो।

2. मूल्यों की सुरक्षा व्यक्ति की स्वाधीनता पर आश्रित है। व्यक्ति की स्वाधीनता राष्ट्रीय स्वतंत्रता पर आश्रित है। अत: राष्ट्रीय स्वतंत्रता भी इतना ही सर्वोपरि परम मूल्य बन जाता है जो 'मूल्यों की सुरक्षा' के समकक्ष है।

3. मूल्यों का अंकन विवेक द्वारा होता है। विवेक आत्म-तत्त्व का वह भाग है जो अहंकार से आच्छादित नहीं है। अत: जो तर्क अथवा विचार व्यक्ति में आत्म-तत्त्व की सत्ता का बहिष्कार करे अथवा मनुष्य को केवल शरीर और मस्तिष्क ही मानकर चले, उसे वास्तव में विष के समान त्याज्य मानना होगा, क्योंकि ऐसे तर्कों और विचारों से मूल्यों की सुरक्षा भयंकर खतरे में पड़ सकती है।

इन तीन सर्वोपरि परम मूल्यों की बात समझ लेने के उपरांत अब उपर्युक्त कसौटी पर मात्र उदाहरण के लिए कुछ तत्त्वों के मूल्यों का निर्धारण करके, यह देखा जा सकता है कि इस कसौटी को मानकर कौन-कौन से तत्त्व, व्यक्ति आदि हमारे लिए वास्तव में मूल्यवान होने होंगे।

मौलिक कसौटी के आधार पर मूल्यावली निर्मित करना

1. राष्ट्रीय स्वतंत्रता, मूल्यों तथा आत्म-तत्त्व की सत्ता, इन तीनों को सुरक्षित रखना सर्वोपरि परम मूल्य है। इसके लिए राष्ट्र की भौतिक समृद्धि में सामर्थ्य भर योगदान देना अत्यंत मूल्यवान हो जाता है।

2. क्योंकि आत्मा की विभिन्न प्यासों को तुष्ट करना जीवन का परम मूल्य है अत: इसके लिए जीवित रहना

आवश्यक होगा। जीवन 'काल' से बनता है। अत: काल अत्यंत मूल्यवान तत्त्व बन जाता है।

3. जीवन तथा स्वस्थ शरीर बनाए रखने के लिए, जीवन को सुरक्षित रखनेवाले समस्त तत्त्व, जैसे—हवा, पानी, भोजन, सुरक्षित रहने की जगह, मौसमों से बचाव के लिए कपड़े आदि साधन, मूल्यवान हो जाएँगे।

4. इन सारे साधनों को जुटाने के लिए जीविकोपार्जन का साधन होना अनिवार्य है। अत: जीविका का साधन मूल्यवान हो जाएगा। जीवन-यापन के साधन का सदुपयोग, कर्तव्यक्षेत्र के दायित्वों को संपूर्ण कौशल से पूरा करने में निहित है। अत: दायित्वों की पूर्ति मूल्यवान हो जाएगी।

5. कुशलतम दायित्व पूर्ति तभी संभव है जब व्यक्ति दु:ख से रहित और सुख से परिपूर्ण हो। यह तभी संभव है जब व्यक्ति—

1. स्वेच्छा से दूसरों के दु:खों को बाँटकर अपने दु:खों से निवृत्त होता रहे, तथा

2. स्वेच्छा से दूसरों को सुख पहुँचाते हुए अपने सुख के भंडार को अक्षय बनाए रखे।

इन दोनों कामों के लिए दु:खी जन अथवा अभावों से ग्रस्त लोग अत्यंत मूल्यवान हो जाते हैं। क्योंकि अगर वे न हों तो व्यक्ति दु:ख किसके बाँटेगा अथवा सुख किसे पहुँचा पाएगा।

6. जीविका के साधन के योग्य बनने के लिए अपनी विभिन्न शक्तियों का विकास करना तथा यथासमय अपने भौतिक लक्ष्य का निर्धारण करना अत्यंत मूल्यवान बन जाता है। आदि-आदि।

एक अन्य उदाहरण लेकर उपर्युक्त कसौटी पर ही अपार धन, ऐश्वर्य, बृहद ख्याति, प्रभुसत्ता जैसे आधुनिक मूल्यों की परख करने से प्रकट होता है कि—

(1) स्वस्थ सुरक्षित जीवन, तथा अपने भौतिक जीवन के दायित्वों की पूर्ति को सुनिश्चित करने के उपरांत, अन्य सारे अतिरिक्त धन का कोई मूल्य नहीं रह जाता।

(2) ऐश्वर्य का किंचित् भी मूल्य नहीं बन पाता।

(3) ख्याति कितनी भी बृहद हो, उसका भी कोई मूल्य उपर्युक्त कसौटी पर नहीं बन पाता क्योंकि यह भी आत्मा की किसी मौलिक प्यास की तुष्टि के लिए अप्रासंगिक है।

(4) प्रभुसत्ता का उपयोग राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाने तक के लिए तो अत्यंत मूल्यवान होगा, परंतु उससे परे व्यक्ति स्वयं के लिए उसका भी कोई मूल्य नहीं बन पाता।

इस तरह, इससे प्रमाणित हो जाता है कि देखने में अत्यंत मनमोहक होते हुए भी इन उपलब्धियों का वास्तविक मूल्य या तो अत्यंत सीमित है, या फिर बिलकुल ही नगण्य। ऐसी ही हीन उपलब्धियों को जीवन भर बटोरने के उपरांत सोलोमन सरीखे मनुष्य इसीलिए जीवन की संध्या में अनुभव करते हैं कि उनके सारे प्रयास 'हवा को पकड़ने के सदृश थे'। किसी भी भुलावे में पड़कर जब मूल्यरहित तत्त्वों को ही कोई एकत्र करता रहेगा तो फिर अंत में भयंकर निराशा हाथ लगे तो विस्मय कैसा?

उपर्युक्त से स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक मूल्यों की कसौटी मिलने के उपरांत प्रत्येक विचार, व्यक्ति, वस्तु तथा गतिविधि का प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही वास्तविक मूल्यांकन करने में सक्षम है। ऐसी स्थिति में फिर उसकी बुद्धि में मूल्य, मान्यताएँ, आस्थाएँ गलत नहीं बन सकेंगी और उसके विवेक द्वारा फिर गलत मूल्यों के कारण गलत निर्णय होना असंभव हो जाएगा।

गलत मूल्यों के अतिरिक्त एक और कारण है जिससे कभी-कभी गलत निर्णय हो जाते हैं। वह तब होता है जब निर्णय तो अहंकार का हो पर मालूम ऐसा पड़े मानो वह निर्णय विवेक का है। ऐसा छद्म जाल बिछाना अहंकार के

लिए बहुत आसान काम होता है। अत: इस जाल से बचना बहुत ही आवश्यक होगा। कोई निर्णय विवेक का है अथवा अहंकार का, इसकी परख के लिए तीन-तीन प्रश्नों की दो निम्नलिखित कसौटियाँ बहुत प्रभावी सिद्ध होती हैं—

पहली कसौटी के तीन प्रश्न हैं, कि अंत:करण से प्रस्तावित वह कर्म कहीं,

(1) भय,

(2) प्रलोभन अथवा

(3) आलस्य से प्रेरित तो नहीं?

यदि इन तीनों प्रश्नों के उत्तर में स्पष्ट 'नहीं' आता है तो मानना होगा कि प्रस्तावित कर्म वस्तुत: विवेक से ही प्रेरित है। परंतु इनमें से एक का भी उत्तर यदि 'हाँ' आए तो यह प्रस्ताव अहंकार का मानना होगा।

इसी तरह दूसरी कसौटी के तीन प्रश्न हैं—

(1) कि इस प्रस्तावित कर्म को वे करें जिनके प्रति हमारे मन में सर्वाधिक श्रद्धा तथा प्यार है, तो क्या हमें अच्छा लगेगा?

(2) कि वही प्रस्तावित कर्म कोई हमारे प्रति करे, तो क्या वह हमें अच्छा लगेगा?

(3) कि वह प्रस्तावित कर्म यदि सभी लोग करने लगें, तो क्या वह जनहित में होगा? यदि इन तीनों प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में आता है तो मानना होगा कि वह प्रस्तावित कर्म वास्तव में विवेक से ही प्रेरित है। परंतु इनमें से एक प्रश्न का उत्तर भी यदि 'नहीं' में आता है, तो समझ लेना चाहिए कि अंत:करण की वह आवाज 'विवेक' की नहीं, 'अहंकार' की है।

उपर्युक्त दोनों कसौटियों पर परखने के उपरांत विवेक द्वारा जो भी निर्णय दिया जाएगा वह नितांत खरा और सत्य पर आधारित होने के कारण जीवनपर्यंत गलत सिद्ध नहीं हो सकता।

यहाँ एक परिस्थिति का उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण है। मूल्यों को परखकर धारण करने पर सामान्यतया व्यक्ति में अत्यंत शीघ्रता से निर्णय लेने की अद्भुत सामर्थ्य सृजित हो जाती है, पर कभी-कभी आपात स्थितियों में, परखा हुआ विवेक, अपने माने हुए शाश्वत मूल्य के विपरीत भी निर्णय दे सकता है। उदाहरणार्थ, हम घर में बैठे हैं, और एकाएक हमारा पड़ोसी दौड़ा आता है कि चार गुंडे हथियारों से लैस उसकी हत्या करने की नीयत से उसके पीछे आ रहे हैं अत: उसे शरण दी जाए। हम उसे तत्काल अपने घर में ऐसी जगह छुपा देते हैं, जहाँ कोई न पहुँच पाए। इतने में चार गुंडे हथियारों से लैस घर में घुस आते हैं और पूछते हैं कि यहाँ अमुक तो नहीं आया? अब जानते हुए कि झूठ बोलना गलत है, हमारा विवेक फिर भी बिना संकोच के झूठ बोलने के लिए कहता है और हम कह देते हैं कि यहाँ कोई नहीं आया। वस्तुत: ऐसे में झूठ बोलना ही पुण्य आँका जाएगा तथा सच बोलना पाप हो जाता क्योंकि शरणागत की सुरक्षा करना धर्म है।

'सत्यं वद्' जैसी शाश्वत मान्यता के विपरीत होते हुए भी सभी लोग उपर्युक्त परिस्थिति में झूठ बोले जाने का समर्थन करेंगे। इसमें शायद ही कोई मतभेद हो। स्पष्ट विदित हो रहा है कि जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ भी आ सकती हैं, जब अपने परखे हुए मूल्यों एवं मान्यताओं को त्यागना ही श्रेयस्कर बन जाए। स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ऐसा करना ही वांछनीय होगा इसका निर्णय कौन कर सकता है? तथा यह निर्णय किस आधार पर किया जाता है?

परम सत्य यही है कि हर परिस्थिति में, आत्मा का प्रतिनिधि होने के कारण, मनुष्य का सद्विवेक ही अंतिम

निर्णय देने का अधिकारी है। रही बात आधार की, तो वह आधार कोई अन्य नहीं, वे ही दो कसौटियाँ हैं, जिनका उल्लेख पूर्व में किया गया है। उन्हीं दोनों कसौटियों में निहित जो छह प्रश्न हैं, उनके उत्तर से हरएक को एक विश्वसनीय आधार उपलब्ध है, जिसके सहारे व्यक्ति न सिर्फ किसी परिस्थिति-विशेष में त्रुटिविहीन निर्णय ले सकता है, अपितु वह नवीन मान्यताओं का भी निर्माण कर सकता है।

विवेक के विकास की विधि

यूँ तो आत्म-तत्त्व का अंश होने तथा सत्य का स्वरूप होने के नाते विवेक के घटने या बढ़ने का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए था, क्योंकि सत्य शाश्वत है, घट-बढ़ नहीं सकता, परंतु जैसे सूर्य एक स्थान पर यथावत् रहते हुए हम संसारियों को उदय और अस्त होता लगता है, उसी तरह अहंकार के घटने-बढ़ने पर विवेक बढ़ता-घटता दिखता है। विवेक तो आत्मा का वह भाग है जिसे अहंकार आच्छादित नहीं कर पाया, अत: जब अहंकार घटता है, तो विवेक बढ़ जाता है और जब अहंकर बढ़ता है, तो विवेक घटता है। यही कारण है कि भिन्न लोगों के विवेक के स्तर में अंतर पाया जाता है। परस्पर लोगों में ही क्यों, एक ही व्यक्ति अहंकार के बढ़ने पर विवेकहीन कृत्य करता है तथा जब अहंकार घट जाता है तो विवेकपूर्ण बातें करता है। कुछ अल्प विवेक इसलिए भी दिखते हैं क्योंकि विवेक केवल बुद्धि के माध्यम से ही क्रियाशील होता है। अत: यदि कोई अल्प बुद्धिवाला है, तो उसका प्रकट विवेक तदनुसार अल्प ही दिखेगा।

विवेक के 'विकास' से तात्पर्य है, आत्मा पर से अहंकार के आवरण को घटाना। अहंकार पर चोट पड़ने से अहंकार सकुचा जाता है, अत: जो अपने अहंकार को क्षति पहुँचाता रहेगा, उसका अहंकार उतना ही घटता जाएगा तथा उसका विवेक उसी अनुपात में विकसित होता जाएगा। यह विधि नकारात्मक है। सकारात्मक रूप से विवेक का विकास तब स्वत: होता जाता है जब व्यक्ति विचारों में, वाणी से तथा कर्मों में, सत विवेक के अनुरूप ही क्रियाशील हो। विवेक का आदर करने में ही विवेक का विकास निहित है।

इसके विपरीत जब व्यक्ति अपने विवेक के अनुरूप नहीं चल पाता तब विवेक तत्काल घटने लगता है और जब कोई विवेक के प्रतिकूल आचरण करता है उस हालत में विवेक का ह्रस तीव्र गति से होने लगता है।

विवेक की विलक्षणता

विवेक वस्तुत: आत्मा का वह प्रकाश है जिसकी ज्योति में मनुष्य गलत-सही, भले-बुरे, की पहचान करता है। इसका लक्षण यह है कि इसका प्रकाश बहुत दूर तक नहीं जाता, पर जैसे सौ मीटर तक उजाला कर देनेवाली मोटर की हेड लाइट अगले सौ मीटरों को बराबर प्रकाशित रखती है, चाहे मोटर सैकड़ों मील चलती चली जाए, उसी तरह जीवन के मार्ग में व्यक्ति जैसे-जैसे अपने विवेक के अनुकूल आचरण करता चला जाता है, वैसे-वैसे उतना ही आगे का मार्ग विवेक सदा प्रकाशित रखता चला जाता है। अत: आरंभ में कोई कितना ही अल्प विवेकी क्यों न हो, केवल अपने विवेकानुकूल आचरण करते हुए, प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा को पूरी तरह प्रकाशित कर देने की सामर्थ्य रखता है। अर्थात् केवल अपने विवेक के प्रकाश के आधार पर प्रत्येक मनुष्य परम तेजोमय, परम ज्ञानमय स्थिति को प्राप्त करने का अधिकार रखता है। शर्त केवल विवेक के अनुकूल आचरण करते रहने की है।

इस आधार पर बहुत विश्वासपूर्वक यह कहा जा सकता है कि मानव के लिए आचरणविहीन विवेक, विवेकविहीन आचरण से कम गंभीर अपराध नहीं है।

विवेक की शक्ति की कुंजी, विवेक की सामर्थ्य में नहीं, उसके अनुरूप आचरण करने में निहित है।

3. बुद्धि

प्रकृति की सत्ता में बुद्धि मनुष्य की सेवा के लिए मानव की सबसे अद्भुत शक्ति है। यह तीन तत्त्वों के एक साथ सक्रिय होने पर क्रियाशील होती है, वे हैं—

1. मस्तिष्क, 2. विचार-शक्ति, 3. अहंकार अथवा विवेक

मस्तिष्क एवं विचार-शक्ति एक समय में या तो अहंकार या फिर विवेक, दोनों में से किसी एक के साथ ही संयुक्त हो सकते हैं। पल-पल, निमिष-निमिष में ये एक का साथ छोड़कर दूसरे के साथ होते रहें, यह तो संभव है, पर विवेक तथा विवेक-प्रतिकूल अहंकार दोनों को एक साथ लेकर क्रियाशील होना असंभव है।

यूँ तो संसार में यही मान्यता है कि बुद्धि की सारी क्रिया केवल मस्तिष्क से ही होती है, पर निम्नलिखित प्रतीकात्मक तीन दृष्टांतों के परिपेरक्ष्य में ऐसा स्वीकार कर पाना संभव नहीं हो पा रहा—

1. संसार स्वीकार करता है कि शतरंज का विश्व विजेता वही हो सकता है जिसकी बुद्धि अत्यंत प्रखर हो। अनातोले कारपोव तथा गैरी कास्पारोव शतरंज के विश्व विजेता रहे। इनका मस्तिष्क साक्षात् कंप्यूटर की तरह काम करता है। यदि भौतिक विज्ञान भी केवल मस्तिष्क का ही क्षेत्र है, तो कारपोव और कास्पारोव आइन्स्टाइन क्यों नहीं बन सके? अथवा आइन्स्टाइन शतरंज के विश्व विजेता क्यों नहीं बने? दूसरे शब्दों में, एक क्षेत्र में यदि किसी मस्तिष्क की असाधारण प्रखरता प्रमाणित हो चुकी है तो वह मस्तिष्कधारी अन्य विद्याओं में भी समान रूप से प्रवीण हो जाना चाहिए। पर संसार में ऐसा कुछ होते नहीं देखा जाता। जो जिस क्षेत्र में प्रवीण है, वह अन्य क्षेत्र में प्राय: अनाड़ी ही सिद्ध होता है। जो रसायनशास्त्र में प्रवीण है वह गणित या भौतिक विज्ञान में उससे आधी भी सफलता नहीं पाता। इसी से प्रमाणित होता है कि नितांत भौतिक ज्ञान के क्षेत्र में भी, केवल मस्तिष्क काम नहीं करता, कुछ अन्य शक्तियाँ भी सक्रिय रहती हैं। वह अन्य शक्ति चेतनामय अहंकार अर्थात् 'जीव' के अतिरिक्त कोई दूसरी हो ही नहीं सकती।

2. जब विचार शब्दों का चोला ओढ़ लेते हैं, तब तो मस्तिष्क भी उनको लेकर तर्क-वितर्क, विश्लेषण, निर्णय आदि करने में समर्थ हो जाता है, पर अनुभूतियों के विचार जो शब्दों में परिणत किए ही नहीं जा सकते, उनके संबंध में विचार-विनिमय, तर्क-वितर्क, विश्लेषण तथा निर्णय तो केवल चेतनामय अहंकार और विवेक की ही सत्ताओं में क्रमश: संभव हो सकता है। अंतिम निर्णय भले ही मस्तिष्क के माध्यम से वाणी में अवतरित हो, वह अलग बात है। मिसाल के लिए, कभी सुबह पाँच बजे के करीब जब चेतना-सी आती है तो एक आवाज हमसे कहती है, ''पाँच बज रहा है, अब उठो, व्यायाम करने का समय हो गया।'' तभी एक दूसरी आवाज कहती है कि ''इतनी प्यारी नींद आ रही है, अभी जरा सोने दो।'' तो जिस तरह हमारे विवेक और अहंकार, बिना हमारी अपनी वाणी की मदद के, आपस में बातचीत करते रहते हैं, उसी तरह यही दोनों शक्तियाँ, बिना हमारे मस्तिष्क की मदद के अपने-अपने क्षेत्र में विचार-विनिमय आदि सारी ही गतिविधियाँ करने में पूरी तरह सक्षम हैं। इतना ही नहीं, समस्त विचारों से संबंधित स्मृति-कोश भी चेतनामय अहंकार में ही रहता है, मस्तिष्क में नहीं। इतना अवश्य है कि चाहे 'अहंकार' और 'विवेक' के बीच तर्क-वितर्क के बाद लिया गया कोई निर्णय हो, या स्मृति-कोश से प्राप्त विचारों को प्रकट करना हो, अथवा विचारोपरांत किसी कर्म को करने के लिए कर्मेंद्रियों को दिए गए आदेश हों—सभी संवाद आते मस्तिष्क के ही माध्यम से हैं।

3. यह तीसरा दृष्टांत वास्तव में अद्भुत है। 19 जुलाई, 1985 को ग्राम शरीफपुर, तहसील छिबरामऊ, फर्रूखाबाद के निवासी छोटेलाल सिंह की पुत्रवधू, 22 वर्षीय सुमित्रा की मृत्यु हो गई। घर में कोहराम मचा था और शव को ले जाने की तैयारियाँ हो रही थीं। मृत्यु के लगभग 45 मिनट बाद सुमित्रा एकाएक फिर से जीवित हो गई। पूरी चेतना आने के बाद भी वह वहाँ किसी को भी पहचान नहीं रही थी। बस यही प्रश्न करती कि ''मैं कहाँ हूँ?'' ''तुम सब कौन हो?'' ''मुझे यहाँ कौन लाया?'' उसने अपने एकमात्र पुत्र को भी अपनी संतान स्वीकार करने से इंकार कर दिया था। उसका कहना था कि वह सुमित्रा नहीं शिवा थी, तथा उसके पिता रामसिया त्रिपाठी शिवनानारायण इंटर कॉलेज, इटावा में अध्यापक हैं, उसकी ससुराल डिबियापुर में है। इस 'शिवा' की आवाज तथा

बोली दोनों ही बिलकुल बदली हुई थीं। सुमित्रा बिलकुल निरक्षर थी, पर कागज-कलम मिलने पर जब इस 'शिवा' ने अपने पिता के नाम एक पत्र लिख डाला तो सारे घरवाले हैरत में थे। कुछ काल बाद जब शिवा के पिता, मामा व नाना उसे देखने आए, तो वह पिता को देखते ही उनसे लिपट गई थी। सारांश यह कि पुनर्जीवित सुमित्रा में, मृत्यु से पूर्व की सुमित्रा की कोई भी स्मृति उपलब्ध नहीं थी, जबकि शिवा के जीवन की सारी स्मृतियाँ उसके पास थीं। भले ही उसकी स्मृति कभी-कभी धुँधला अवश्य जाती थी। विदित है कि यदि मस्तिष्क की स्मृतियों का कोश होता, तो शिवा को सुमित्रा की स्मृतियाँ सुरक्षित मिलनी चाहिए थीं, पर वे सब थीं ही नहीं। इसके विपरीत अक्षर ज्ञान से लेकर शिवा के मायके और ससुराल की बहुत सी स्मृतियाँ इस नई शिवा में विद्यमान थीं। जब यह समाचार मैंने अखबार में पढ़ा, तो तत्काल इटावा के पुलिस अधीक्षक के माध्यम से एक उपाधीक्षक को भेजकर इस समाचार की सच्चाई की जाँच करवाई। सारी बातें सही पाई गईं। बाद को इसी वृत्तांत का अन्वेषण, मित्र प्रकाशन इलाहाबाद के लोगों ने कराया तथा मय चित्रों के इसका पूरा वृत्तांत अपनी दिसंबर, 1985 की 'मनोहर कहानियाँ' के अंक में निकाला था।

इस घटना में महत्त्व की बात केवल इतनी है कि सुमित्रा की मृत्यु के बाद सुमित्रा की कोई भी स्मृति उसके मस्तिष्क में बसी नहीं मिली। अर्थात् मस्तिष्क स्मृति-कोश का काम नहीं करता। इसके विपीरत इस एक घटना से यह पूरी तरह प्रमाणित हो जाता है कि स्मृतियाँ, जीव अर्थात् अहंकार धारण करता है। तर्क-वितर्क अहंकार करता है, विचार अहंकार करता है, विश्लेषण तथा अपने मूल्यों, अपने मस्तिष्क जैसे जटिल यंत्र की क्रियाओं को प्रदर्शित कर पाना संभव नहीं है। पर विभिन्न शक्तियों तथा विचारों के आदान-प्रदान के सीमित संदर्भ में, उपर्युक्त आधार पर मस्तिष्क का एक संभावित रेखाचित्र नीचे प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है—

मान्यताओं के आधार पर समस्त निर्णय अहंकार करता है। ठीक इसी प्रकार अपने मूल्यों के आधार पर यही क्रियाएँ करने की सामर्थ्य आत्मा के प्रतिनिधि विवेक में भी होती है।

मस्तिष्क वस्तुत: अहंकार तथा विवेक के बीच होनेवाले मतभेदों तथा मतभेदों से होनेवाले तनावों को अनुभव करता है। अंतत: जो भी निर्णय विजयी होता है उसके अनुरूप मस्तिष्क कर्मेंद्रियों को आदेश भेजता है।

ब्रह्मांडीय विचार सामान्यतया विवेक अथवा जीव (चेतन अहंकार) के माध्यम से प्राप्त होते हैं। वैसे ब्रह्मांडीय विचार-शक्ति की गम्यता सर्वत्र है अत: अपनी शक्ति से ये सीधे मस्तिष्क में पहुँचने की भी संभावना रख सकते हैं।

आत्म-बल तथा नैतिक शक्ति का अलग एक संपर्क-कक्ष मस्तिष्क में होना अनिवार्य है। इसी तरह संकल्प-विकल्प की शक्ति एकाएक बृहद् बन जाने की शक्ति, हतोत्साहित अवस्था में पड़े अचानक किसी उत्साहवर्धक सूचना के आने पर नई जान सी डालने की प्रेरक शक्तियाँ जीव से ही प्राप्त होती हैं। अत: दूसरी तरफ जीव का भी एक अलग संपर्क-कक्ष मस्तिष्क में होना अनिवार्य है।

इसके अतिरिक्त जहाँ प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय का अलग एक संपर्क-कक्ष मस्तिष्क में होता है उसी तरह प्रत्येक कर्मेंद्री का मस्तिष्क में अलग संपर्क-कक्ष होता है। विचार-मंथन मस्तिष्क में हो सकता है, परंतु निर्णय केवल विवेक अथवा चेतन अहंकार ही कर सकने की सामर्थ्य रखते हैं। विवेक के आदेशों का पालन कराने की शक्ति 'नैतिक शक्ति' से प्राप्त होती है तथा चेतन अहंकार के निर्णयों का अनुपालन अहंकार की शक्ति से होता है। अत: मस्तिष्क में क्रमश: ऐसे संपर्क-कक्ष होने होंगे जो एक ओर नैतिक शक्ति तथा अहंकार से संपर्क रखते हों तथा दूसरी ओर कर्मेंद्रियों से भी संपर्क रखते हों, क्योंकि आदेशों का अनुपालन करना कर्मेंद्रियों का काम है।

ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान को जीव के स्मृति-कोष के सुपुर्द करना तथा कर्मेंद्रियों को कम करने के लिए प्रेरित करना मस्तिष्क का ही काम है।

इसके अतिरिक्त शरीर के आंतरिक अंग-प्रत्यंगों तथा अनेक गतिविधियों को सतत नियंत्रित रखकर क्रियाशील रखने का काम भी मस्तिष्क का है।

समस्त मूल्य तथा मान्यताएँ क्रमश: विवेक तथा चेतन अहंकार में वास करती हैं।

रेखाचित्र से पूर्व दिए गए तीनों दृष्टांतों से यही निष्कर्ष निकलता है कि मस्तिष्क, मात्र एक यंत्र है तथा बुद्धि, केवल मस्तिष्क की सामर्थ्य नहीं है, उसमें विचार शक्ति तथा विवेक अथवा अहंकार का क्रमश: योगदान अनिवार्य है। मस्तिष्क-विचारशक्ति-विवेक के योग से वही बुद्धि सद्बुद्धि कहलाती है तथा मस्तिष्क-विचारशक्ति तथा विवेक-प्रतिकूल अहंकार के योग से दुर्बुद्धि कहलाती है।

बुद्धि के कुछ गुण

तीन तत्त्वों की समन्वित शक्तिस्वरूपा इस बुद्धि के कुछ प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं—

1. मनुष्य का अपने स्वीकार किए गए मानदंडों, आस्थाओं, मान्यताओं तथा मूल्यों को विवेक के पक्षधर के नाते उपयोग करती है।

2. जीव के स्मृति-कोश से प्राप्त स्मृतियों को व्यक्त करती है।

3. विश्लेषण, विचार-मंथन, तर्क-वितर्क तथा निर्णय पर काररवाई करना बुद्धि का काम है।

4. एक तरफ ज्ञानेंद्रियों से, दूसरी तरफ कर्मेंद्रियों से, तीसरी ओर अहंकार से तथा चौथी ओर विवेक से सूचना का आदान-प्रदान तथा नैतिक शक्ति एवं अहंकार से कर्मशील होने की प्रेरणा प्राप्त करने का काम मस्तिष्क करता है।

5. बुद्धि को क्रियाशील दो शक्तियाँ कर सकती हैं। जब यह विवेकानुकूल कर्म करने का संकल्प करती है, तो विवेकानुकूल अहंकार तथा नैतिक शक्ति दोनों इसे क्रियाशील करते हैं, पर जब यह विवेक के अनुकूल न होकर या विवेक के प्रतिकूल क्रियाशील होने का संकल्प करती है, तो उसके लिए उसका शक्ति-स्रोत केवल अहंकार होता है। इसी आधार पर बुद्धि क्रमश: सद्बुद्धि अथवा दुर्बुद्धि बनती है।

6. संपूर्ण प्रकृति से संबंधित प्राप्त ज्ञान के आधार पर, तर्क के आधार पर प्रकृति के अप्राप्त ज्ञान को अर्जित करने की अद्भुत सामर्थ्य बुद्धि रखती है। इसके विपरीत अनुभूतिजन्य अप्राप्त ज्ञान अर्जित करने में मस्तिष्क पूर्णतया असमर्थ है। जिसने आम नहीं चख रखा है उसे आम के स्वाद का ज्ञान प्राप्त कराने में मस्तिष्क ही नहीं, बुद्धि भी पूर्णतया असमर्थ है।

7. इसकी गति का आधार केवल तर्क है। तर्कहीन कोई भी बात बुद्धि स्वीकार करने में असमर्थ रहती है।

8. प्रेरणा चाहे विवेक से प्राप्त हो अथवा अहंकार से, संसार में उसका प्रत्यक्ष स्वरूप बुद्धि के माध्यम से ही प्रकट होता है।

9. अनुभूतिजन्य ज्ञान को प्रकट करने में बुद्धि काफी असमर्थ रहती है।

10. कर्म कराने की अपनी कोई सामर्थ्य मस्तिष्क में नहीं होती। वह केवल एक यंत्र मात्र है। हर व्यक्ति में विवेक और अहंकार में सतत स्पर्धा सी रहती है। अहंकार तो निर्णय भी करता है तथा मस्तिष्क से काम लेने की शक्ति भी रखता है। इसके विपरीत, दूसरी तरफ, निर्णय करने का काम तो विवेक करता है पर अपने अनुकूल मस्तिष्क से काम लेने की सामर्थ्य विवेक में नहीं, नैतिक शक्ति में होती है। जहाँ तक मस्तिष्क का संबंध है वह वैसे तो दोनों की ही दासता तटस्थता से करता है पर विवेक की अपेक्षा अहंकार के आदेशों का पालन कहीं अधिक तत्परता से करता है।

4. विचार

यदि शब्दों को शरीर माना जाए तो 'विचारों' का वही स्थान होगा जो आत्मा का है। अत: विचार के दो स्वरूप हैं। एक स्थूल जो शब्दों द्वारा प्रकट होते हैं। दूसरे, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार जो अनुभूतियों के रूप में अवतरित होते हैं। अत: प्रत्येक शब्द के पीछे विचार होगा यह तो अनिवार्य है। पर प्रत्येक विचार शब्दों का रूप धारण कर सके यह अनिवार्य नहीं।

'विचार-शक्ति' का सूक्ष्म परिचय

वस्तुत: विचार एक प्रकार की शक्ति है जो अत्यधिक सूक्ष्म है। 'विद्युत' एवं 'प्रकाश' से भी सूक्ष्म। प्रकाश को तो सूर्य से पृथ्वी पर आने में साढ़े सात मिनट लगते हैं, विचार तो तत्क्षण सूर्य में पहुँच जाता है। इसकी सूक्ष्मता इससे प्रमाणित होती है कि इसकी गति इंद्रियों की मोहताज नहीं। कोई विचार सुनने या पढ़ने पर हम तक पहुँचे वह तो कान और आँख के माध्यम से आता है। पर विचार तो सोते हुए व्यक्ति की ज्ञानेंद्रियों में स्वप्न के माध्यम से सीधा पहुँचने में समर्थ है। कितने ही ऐसे दृष्टांत मिलते हैं जब दिवंगत आत्माओं ने अपने प्रियजनों को संदेश भिजवाए अर्थात् अपने विचार व्यक्त किए। विदित है कि दिवंगत आत्माओं के पास शरीर नहीं होता, फिर भी विचार भेजने की सामर्थ्य रहती है। इससे प्रमाणित होता है कि न उत्पत्ति के लिए और न पहुँचने-पहुँचाने के लिए, विचार किसी भी अवस्था में इंद्रियों अथवा मस्तिष्क के आश्रित नहीं हैं। इनकी गम्यता आत्मा से लेकर मनुष्य के स्थूल मस्तिष्क तक है। ऐसी गति केवल उसी शक्ति की हो सकती है जो आत्मा के समकक्ष की सूक्ष्मता रखती हो। इतना ही नहीं, वह आत्मा की ही तरह अक्षय और अविनाशी भी है। अस्तु आत्मा की तरह यह भी एक अत्यंत प्रचंड शक्ति है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस तरह रेडियो तरंगें ब्रह्मांड में सर्वत्र व्याप्त रहती हैं, उसी तरह 'विचार-शक्ति' की तरंगें ब्रह्मांड में तैरती रहती हैं। ये तरंगें एक तरफ बुद्धि के माध्यम से प्रवेश करके ज्ञान के रूप में सीधी अवतरित होती हैं, तो दूसरी तरफ आत्म-तत्त्व के माध्यम से प्रवेश करके अनुभूति के रूप में मनुष्यों के अंदर व्याप्त हो जाती हैं।

यह बात इससे प्रमाणित होती है कि कभी ऐसे विचार एकाएक अवतरित हो जाते हैं, जिनका तात्कालिक संदर्भों से कोई दूर-दराज तक का संबंध नहीं होता। ऐसा जान पड़ता है, मानो वे विचार बलात् हमारे मस्तिष्क में अपने ही वेग से आए हैं। इसी तरह कभी-कभी अत्यंत प्रचंड वेग से कोई विचार अनुभूति के रूप में इस प्रत्यक्षता से अनुभव होता है कि वह कितना भी निराधार हो, नितांत सत्य की चमक रखता है। ऐसी अनुभूतियाँ पानेवाला उसे 'सत्य' के रूप में अंगीकार किए बिना नहीं रह सकता। वस्तुत: वह होता भी सत्य ही है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि 'विचारों' में अपनी स्वयं की भी मौलिक शक्ति होती है, जिसके द्वारा वे व्यक्तियों में बलात् प्रवेश करने में समर्थ होते हैं।

किस बुद्धि में किस स्तर का विचार प्रवेश करता है अथवा किस व्यक्ति को किस स्तर की अनुभूति एकाएक होती है, यह तो क्रमश: प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि की प्रखरता तथा आत्मा की निर्मलता के स्तर पर निर्भर करता है।

सामान्य विचार

विचार दो प्रकार के होते हैं—

1. बुद्धिजन्य, 2. अनुभूतिजन्य

बुद्धिजन्य विचार शब्दों में प्रकट किए जा सकते हैं पर अनुभूतिजन्य ज्ञान में विचार-शक्ति की तो गम्यता होती है, शब्दों की नहीं।

विचारों की शक्ति कहाँ निहित होती है?

संसार में शब्द तो सारे वही हैं, पर कभी वही शब्द प्रचंड प्रभाव डाल जाते हैं, तो कभी वे नितांत प्रभावहीन रहते हैं। उन शब्दों में शक्ति कहाँ से आती है इसका रहस्य जानना आवश्यक होगा। मूलत: विचारों की शक्ति तीन बातों पर निर्भर करती है—

1. उनकी उत्पत्ति किस व्यक्तित्व से हुई— बुद्धिजन्य विचारों की शक्ति व्यक्ति के ज्ञान के स्तर तथा बौद्धिक सामर्थ्य पर निर्भर करती है।

अनुभूतिजन्य ज्ञान को भी कुछ असाधारण लोग विचारों में व्यक्त कर सकने की सामर्थ्य रखते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का अपना स्तर होता है। पर जो व्यक्ति जितना अधिक निर्मल होगा, उतनी ही उसकी शक्ति अधिक होगी। जितना व्यक्तित्व सशक्त होगा, उतनी शक्ति उसके द्वारा दिए गए विचारों में पाई जाएगी। ऐसा व्यक्ति जब कोई बात कहता है तो वह सीधी हृदय में प्रवेश करती है। ऐसे लोगों की शक्ति ही आशीर्वचनों को फलीभूत कर देती है।

इसके विपरीत जिनकी कथनी-करनी में अंतर रहता है, वे कितने ही दिव्य विचारों को प्रतिपादित करते हों, उनका श्रोताओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

यूँ तो वोल्टेज विद्युत् शक्ति का माप है पर विचारों की शक्ति के लिए भी वोल्टेज शब्द का प्रयोग करना अनुपयुक्त न होगा। विचार देनेवाले की नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति के ऊपर विचारों की शक्ति निर्भर करती है। व्यक्तित्व का स्वयं का जो वोल्टेज होगा, उसके विचारों का वोल्टेज भी उसी के अनुरूप होगा।

2. उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई है— आत्मानुभूति के माध्यम से अवतरित होनेवाला विचार श्रोताओं की आत्मा को प्रकाशित करेगा।

हृदय से निकला विचार श्रोताओं के हृदय में प्रवेश करता है।

मस्तिष्क से पैदा होनेवाला विचार मस्तिष्क तक ही पहुँच पाएगा तथा केवल मुख से तोते ही तरह कहा हुआ विचार कानों तक ही सीमित रह जाएगा।

3. उसका आधार क्या है—बुद्धिजन्य विचार सदा ही किसी-न-किसी आधार से शुरू होता है तथा फिर तर्क के आधार पर उसका रूप दिव्य होता जाता है। ऐसे विचारों की शक्ति उसके आधार की सत्यता तथा प्रत्येक तर्क में जो भी निर्बलतम तर्क है उसकी शक्ति पर आश्रित रहती है।

अनुभूतिजन्य विचारों का आधार नहीं होता। उनकी सत्यता जीवन की गतिविधियों से ही प्रमाणित होती है।

विचारों का प्रभाव

प्राय: लोग सोचते हैं कि विचारों में हम जो चाहें सोचें, किसी का क्या लेते हैं। निस्संदेह अपने विचारों पर प्रत्येक व्यक्ति का एकाधिकार है, परंतु 'विचार-शक्ति' की असीमित गति, आत्म-तत्त्व की शक्ति के समकक्ष शक्ति, उसकी समग्र व्यापकता एवं उसकी अक्षयता का सूक्ष्म दर्शन प्राप्त होने पर यह विदित हो जाता है कि यह शक्ति जिधर से भी गुजर जाएगी, अपना प्रभाव छोड़े बगैर चली जाए, यह संभव ही नहीं है।

संभवत: बारूद के साथ असावधानी इतनी महँगी नहीं पड़ सकती जितनी कि विचारों के साथ की गई असावधानी पड़ सकती है। विचार-शक्ति किसी का आशातीत निर्माण भी कर सकती है और असावधानी बरतने पर सर्वनाश भी।

मनुष्य की संकल्प-शक्ति के पीछे जिस प्रचंड शक्ति का सतत योगदान रहता है, वह विचार-शक्ति ही है। इसी के कारण संकल्प-शक्ति की इतनी महिमा है।

इस शक्ति का उपयोग जिसने करने का अभ्यास कर लिया, वह कितना भी अयोग्य दिखता हो, उसके लिए फिर कुछ भी असंभव नहीं रह जाता। विचारों को एकाग्रता से केंद्रीकृत करने पर चामत्कारिक घटनाएँ तक घटित कराई जा सकती हैं। परंतु फिर भी लोगों को प्राय: यह विश्वास नहीं हो पाता कि केवल नित्य दो-चार बार किसी अमुक विचार पर एकाग्रता से मनन करने पर उस विचार को एक सत्य घटना में परिणत किया जा सकता है। वे कहते हैं कि यदि ऐसा होता, तो हर कोई मनोवांछित उपलब्धि पा सकता था। उन्हीं से जब प्रतिप्रश्न किया जाता है कि क्या उन्होंने इस शक्ति का प्रयोग करने का प्रयास किया? तो उत्तर में यही कहते हैं कि जो संभव ही नहीं है उस ओर प्रयास करना विवेकपूर्ण नहीं कहलाता। यथार्थ यह है कि एकाग्र चित्त से किसी भी लक्ष्य पर जो भी अधिक नहीं तो दो बार, एक बार प्रात: उठकर और एक बार सोने से पूर्व, अपने विचारों को केंद्रित करके उस लक्ष्य पर अपने को आसीन देखेगा, तो संसार की कोई शक्ति उसे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने से रोक नहीं सकती। हाँ, अपने में अविश्वास करनेवाला या संशयात्मक वृत्तिवाला कुछ भी नहीं पा सकेगा।

सर्वत्र देखा जाता है कि हर उपासक में अपने उपास्य के गुण स्वत: प्रस्फुटित होने लगते हैं। जो राम के उपासक हैं वे सर्वत्र अत्यंत विनम्र और विनयशील पाए जाएँगे, पर वैसी विनम्रता कृष्ण के उपासकों में नहीं मिलती। इस प्राकृतिक विधान के मूल में विचार-शक्ति का ही प्रभाव विद्यमान है। प्रत्येक उपासक अपने उपास्य के गुणों का ध्यान करता है, अर्थात् उन गुणों में उसका ध्यान कुछ क्षणों को नित्य ही केंद्रित होता है। बस, उसी के प्रभाव से वे ही गुण उसके स्वयं के व्यक्तित्व में प्रस्फुटित होने लगते हैं।

श्रेष्ठ पुरुष की पहचान बताई गई है कि कोई उसका कितना भी बुरा सोचे, वह सतत उसका भला ही सोचता है। कुछ लोग इस आचरण को परम उदार आचरण मानते हैं। वास्तविकता यह है यह आचरण परम स्वार्थ का आचरण है। यह परम स्वार्थ कैसे है, इसे समझना आवश्यक है।

वस्तुत: ऐसा करके व्यक्ति अपना तीन प्रकार से कल्याण करता है। पहला तो यह कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों का फल भोगता है और इस संदर्भ में किए गए विचार भी उतने ही ठोस कर्म होते हैं जितने किए हुए कर्म। अत: जो बुरा सोच रहा है वह अपनी सोच के अनुरूप फल पाएगा और जो भला सोच रहा है वह अपने। दूसरा यह कि दूसरे का भी अहित सोचने के लिए अपने मस्तिष्क में तो दुर्विचारों को ही अधिक समय स्थान देना अनिवार्य हो जाएगा, फलस्वरूप उसके अपने चरित्र में वे ही दुर्गुण प्रस्फुटित होने लगेंगे। इसके विपरीत वह व्यक्ति जो बुरा करनेवाले के प्रति भी सद्भावना रखता है, उसके अंदर अपनी सद्भावनाओं के ही अनुरूप सद्गुण प्रस्फुटित होंगे। तीसरा यह कि जो कोई विचार, किसी के प्रति छोड़ा जाता है, यदि वह उसे स्वीकार न करे, तो वह विचार अनिवार्य रूप से उसी के पास लौटकर आता है जिसने वह विचार छोड़ा था। इस प्राकृतिक विधान के अनुसार, बुरे विचारों को जब श्रेष्ठ पुरुष ग्रहण नहीं करते तो वे दुर्विचार तत्काल लौटकर बुरा सोचनेवाले के हृदय को ही बींध डालते हैं। किया गया शुभ विचार यदि वह दूसरा ग्रहण नहीं करता है, तो वह भी लौटेगा और लौटकर इसी तरह, उस शुभचिंतक के हृदय में आकर उसे और श्रेष्ठ बनाएगा। जिनको इस विधान में किंचित् भी संशय हो वे यदि केवल एक बार इसे व्यवहार में लाकर इसकी परख कर लेंगे तो अत्यंत विश्वास से कहा जा सकता है कि वे फिर जीवनपर्यंत इस सिद्धांत पर संशय नहीं कर सकेंगे।

जब युधिष्ठिर से यक्ष ने पूछा था कि संसार में सबसे बड़ा पाप क्या है? तो युधिष्ठिर का उत्तर था 'परनिंदा'। इस उत्तर के मूल में भी वही सिद्धांत विद्यमान है। निंदा करने पर व्यक्ति द्वारा दूसरे के दुर्गुणों पर अपने विचारों को केंद्रित करना अनिवार्य हो जाएगा। ऐसा होने पर वे ही दुर्गुण उसमें स्वयं प्रस्फुटित होने लगेंगे। और अपना ही अकल्याण करने से बड़ा पाप भला और क्या हो सकता है?

विचारों में अत्यंत प्रचंड शक्ति होती है, इस शक्ति का सदुपयोग करके व्यक्ति वास्तव में अपना अप्रत्याशित कल्याण कर सकता है इसमें किंचित् भी संशय नहीं। विचार-शक्ति का जो जितना सम्मान करेगा, यह प्रचंड शक्ति उसे विश्व में उतनी ही दिव्यता, उतना ही व्यापक सम्मान दिलाती है।

5. वाणी

(1) वाणी मनुष्य जाति का वह वरदान है जिसके माध्यम से वह अपने विचारों को, अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है। अपने को व्यक्त करने का अधिकार मानव का मौलिक अधिकार है।

आधुनिक जगत् में तो कुछ ऐसा प्रचलन हो गया है कि व्यक्ति जो जी चाहता है कहता रहता है और आवश्यक नहीं समझता कि जो कहे उस बात को पूरा करे। यह चलन मानो आधुनिकता का प्रतीक बनता जा रहा है।

'सत्यं वद्' अर्थात् 'सच बोलो' मानव के मौलिक मूल्यों में से एक अमूल्य मान्यता थी। इसका ह्रस जिस गति से बीसवीं शताब्दी में हुआ वह विस्मयजनक है। यह विडंबना ही है कि झूठ बोलकर व्यक्ति किसी दूसरे को धोखा देकर उसको कुछ नुकसान पहुँचा सकता है तथा अपने को कुछ भौतिक लाभ, पर इस व्यापार में जो चोट वह स्वयं अपने को मार लेता है, उसे यदि वह जानता तो संभवत: उसे यह पहचानने में देर न लगती कि यह सौदा उसके लिए कितना महँगा पड़ता है।

जिस प्रकार हाथ, पैर, उँगलियों आदि से युक्त संपूर्ण शरीर हमें जन्मजात मिला है, ठीक उसी प्रकार से 'सत्य' हमारे अंदर बसनेवाले उस सूक्ष्म आत्म-तत्त्व का मौलिक स्वरूप है। प्रत्येक झूठ, हमारे उस सूक्ष्म स्वरूप का उसी तरह विघटन कर जाता है जैसे कोई कुल्हाड़ी लेकर हर बार अपने शरीर के किसी भाग को काटकर अलग कर दे। जो काम कुल्हाड़ी हमारे शरीर पर करती, वही काम मुख से बोला हुआ झूठ हमारे उस सूक्ष्म स्वरूप के साथ करता है। अंतर केवल तीन होते हैं।

पहला यह कि कुल्हाड़ी जो अंग-भंग करेगी, वह सबको दिखता है, पर झूठ जिस अंग को तोड़ जाता है, वह किसी को नहीं दिखता। स्वयं झूठ बोलनेवाले को भी नहीं दिखता।

दूसरा यह कि यदि अंग कटे तो वह नुकसान, उस नुकसान से अपेक्षाकृत नगण्य होता है, जो भीतर के विघटन से होता है। शरीर तो कुछ दिनों में ठीक हो सकता है पर भीतर का विघटन यदि फिर सत्य से नहीं सँवारा गया तो विघटित ही पड़ा रहेगा।

तीसरा यह कि जब अंग-भंग होता है, तो और अन्य अंग-भंग न हों, उसके लिए व्यक्ति चौगुना सतर्क हो जाता है। पर अंदर के विघटन से जो सबसे भयंकर नुकसान है, वह यह कि विघटित अंत:करण, अगले विघटन को सहयोग प्रदान करता है, उसे रोकने की कोशिश करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

(2) जब झूठ बोलना स्वयं के लिए इतना विनाशकारी सिद्ध होता है तो स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि झूठ की पहचान कैसे की जाए।

इसके लिए जानना पड़ेगा कि 'सत्य' क्या है। फिर जो कुछ सत्य नहीं है वह सब झूठ की श्रेणी में आ जाएगा।

सत्य क्या है?

सत्य की परिभाषा है—''जो था, है और रहेगा वही सत्य है।''

इस परिभाषा के अंतर्गत हमारे व्यक्तित्व में केवल हमारा आत्म-तत्त्व ही सत्य है। हमें यह भी मालूम है कि हमारा विवेक उसी आत्म-तत्त्व का अंश है।

अत: ''परखी हुई मान्यताओं के आधार पर परखे हुए सच्चे विवेक का निर्णय ही सत्य है।''

उसी निर्णय के अनुकूल बोलने तथा आचरण करने को ही सत्य का चलन कहा जाएगा। उससे विमुख होकर कुछ भी करना झूठ ही माना जाएगा।

झूठ से हमारा ही कितना गंभीर नुकसान होता है यह जान लेने पर यह कहना संभवत: आवश्यक नहीं रह जाता कि पूर्व काल में 'प्राण जाई पर वचन न जाई' का चलन किसी मिथ्या आन या शान पर आधारित नहीं था। वस्तुत: वह अपने ही विघटन को रोकने, अपने ही कल्याण का मूल मंत्र था।

(3) वाणी दोस्त बनाती है, वाणी ही दुश्मन बनाती है।

(4) प्रकृति की दी हुई 'वाणी' वह शक्ति है, जो स्वयं में तटस्थ है। उसके द्वारा जो शब्द, जो भावनाएँ व्यक्त की जाती हैं, वे यदि स्वस्थ और विवेकपूर्ण हैं, तो वह वाणी का सदुपयोग होगा और 'वाणी' को सार्थकता प्रदान करेगा। ऐसा न होने पर वही 'वाणी' हमारी ही शत्रु बनकर कालांतर में हमारा ही अहित करती है।

6. कर्म

(1) 'कर्म' मनुष्य जाति को मिला वह सर्वोत्कृष्ट अमोघ वरदान है जिसकी गति के आगे समस्त ब्रह्मांड नमन करता है। 'गीता' में श्रीकृष्ण ने इसकी प्रचंड शक्ति का उल्लेख करते हुए स्वयं इसे अपने से भी बलवान स्वीकार किया। उन्होंने बताया कि समस्त ब्रह्मांड में ऐसा कुछ नहीं है जो उन्हें प्राप्त न हो, फिर भी 'कर्म' करने पर वे भी मजबूर हैं। विदित है कि जो साक्षात श्रीकृष्ण को 'मजबूर' करा सके वह उनसे अधिक बलवान होना ही होगा।

'कर्म' करने की मानवीय सामर्थ्य ही मनुष्य योनि को इतना अद्‌भुत बना देती है कि देवता भी इस योनि में जन्म लेने के लिए तरसते रहते हैं।

वस्तुत: 'कर्म' ही एकमात्र शक्ति है जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपना भाग्य विधाता बन सकता है।

'कर्म' की सबसे अलौकिक सामर्थ्य यह है कि मनुष्य इसके माध्यम से भौतिक जगत् में अभूतपूर्व चामत्कारिक उपलब्धियाँ तथा आध्यात्मिक जगत् में 'पूर्णता', दोनों को एक साथ प्राप्त करने का अधिकार रखता है। इसे जिसने साध लिया उसे फिर और कुछ भी साधने की न तो लालसा ही रहती है और न आवश्यकता। इससे किंचित् भी अंतर नहीं पड़ता कि कौन क्या कर रहा है, कितने महत्त्वपूर्ण अथवा महत्त्वहीन 'कर्म' में वह लगा है, मनुष्य के लिए महत्त्व का केवल इतना ही है कि संपूर्ण सामर्थ्य लगाकर जो भी अपने 'कर्म' को संपूर्ण कौशल से करेगा, वह स्वयं 'पूर्ण' बन जाता है। कर्म की मौलिक दिव्यता इसी में निहित है।

(2) मनुष्य की समस्त कर्मेंद्रियों द्वारा जो भी गतिविधियाँ होती हैं उसे 'कर्म' की संज्ञा दी गई है। इस परिभाषा के अधीन 'वाणी' भी 'कर्म' की एक गति है। कर्मफल के संदर्भ में तो किया गया विचार भी 'कर्म' ही माना जाता है।

मनुष्य जब तक जीवित है, उसे कुछ-न-कुछ करते रहना अनविर्य है। सामान्यतया, वह जो भी 'कर्म' करेगा, उसका प्रतिफल उसे भोगना ही होता है।

अत: यदि हम अप्रिय प्रतिफलों से बचना चाहते हैं, तो हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है कि हम हर 'कर्म' सोच-समझकर पूरे दायित्व से करें, और ऐसे 'कर्म' करें जिनका प्रतिफल अप्रिय न हो।

(3) कुछ लोगों में यह भ्रम है कि चार बुरे कर्म कर दिए, तो चार या छह अच्छे कर्मों को करने से वे बुरे कर्मों के फलों से मुक्ति पा सकते हैं। यथार्थ यह है कि व्यक्ति प्रत्येक चार बुरे कर्मों के फलों को एक ओर तथा प्रत्येक चार या छह अच्छे कर्मों के फलों को क्रमश: अलग-अलग भोगेगा। एक 'कर्म' दूसरे कर्म के फलों को काट सके

यह असंभव है।

चरित्र-निर्माण

निखिल विश्व इस बात को स्वीकार कर चुका है कि चरित्र शक्ति एक महाशक्ति है और इसके बिना जीवन में मनुष्य कुछ भी सार्थक कर्म नहीं कर सकता।

अत: प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य हो जाता है कि वह जाने कि चरित्र क्या है और उसका निर्माण कैसे होता है।

चरित्र क्या है?

परिभाषा—''चरित्र एक शक्ति है। किसी भी व्यक्ति की चारित्रिक शक्ति उसी स्तर की होगी कि जितने काल वह अपने विचार, वाणी और कर्म की एकरूपता में स्थित रहता है।''

अर्थात्, जो वह सोचता है, उसी के अनुरूप बोले और जो वह कहता है उसी के अनुरूप आचरण करे।

यह परिभाषा अच्छे-बुरे चरित्र की नहीं है। मात्र चरित्र की है। चरित्र अच्छा है अथवा बुरा यह व्यक्ति के विचारों पर निर्भर करेगा। अगर व्यक्ति के विचार समाज में मानी हुई मान्यताओं के अनुकूल चलनेवाले हैं, तो व्यक्ति सच्चरित्र कहलाएगा और यदि उनके प्रतिकुल चलनेवाले हैं, तो दुश्चरित्र कहलाएगा।

यदि विचार, वाणी, कर्म की एकरूपता है तो चाहे सच्चरित्र हो अथवा दुश्चरित्र, वह व्यक्तित्व होगा शक्तिशाली। चाहे 'राम' बने या 'रावण' पर होगा सशक्त, क्योंकि चरित्र-शक्ति तो विचार, वाणी और कर्म, इस 'त्रैत' को एकरूपता में साधने मात्र से ही सृजित होना शुरू हो जाती है।

अब यदि किसी ने यह निश्चय कर लिया है कि उसे शक्तिशाली बनना है, तो अन्य कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। केवल अपने विचारों के अनुकूल वचन बोले और जो कुछ कहता है उसी के अनुरूप आचरण करने के लिए अपने पर अनुशासन रखे। ऐसा करने पर वह दिन-प्रतिदिन शक्तिशाली बनता चला जाएगा।

विचार कभी विवेक के अधीन होकर चलते हैं, तो कभी विवेक से विमुख अहंकार के अधीन होकर।

अहंकार तीन प्रकार का होता है—सात्विक, राजसिक तथा तामसिक। इनमें से समस्त प्रकार का सात्विक तथा श्रेष्ठ प्रकार का राजसिक अहंकार विवेक से अनुमोदित होता है, पर निम्न कोटि का राजसिक तथा समस्त प्रकार का तामसिक अहंकार विवेक के प्रतिकूल होता है। इस अध्याय में जहाँ भी 'अहंकार' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका आशय केवल उस 'अहंकार' से है जो विवेक से विमुख है, अर्थात् जो निम्न कोटि की राजसिक तथा तामसिक वृत्तियों से प्रेरित है। अत: सामान्यतया 'सच्चरित्र' और 'दुश्चरित्र', इस पर निर्भर करेगा कि उपर्युक्त 'त्रैत' की साधना विवेक के अनुकूल है अथवा अहंकार के। इस वाक्य में, 'सामान्यतया' शब्द का प्रयोग केवल इसलिए किया गया क्योंकि कभी-कभी व्यक्ति विवेक के अधीन होते हुए भी गलत दिशा में पहुँच सकता है। वह गलत दिशा दो कारणों से संभव होती है—

(1) पहला तब, जब विवेक जिन मूल्यों के आधार पर निर्णय दे रहा है वे ही विकृत हों, असत् पर आधारित हों, तो उस दशा में विवेक के सारे निर्णय सर्वथा असत् की ओर ही ले जाएँगे।

(2) दूसरा तब, जब अहंकार की आवाज इस अंदाज से हमारी बुद्धि में प्रकट हो, जैसे वह विवेक की आवाज है।

अत: यदि हमें अपनी छवि में दिलचस्पी है और समाज के मानदंडों से हम अपने को आँकना नहीं चाहते, तो

मौलिक रूप से सच्चरित्र हम तभी बन सकेंगे, जब हमारे विचार परखे हुए मौलिक एवं शाश्वत मूल्यों पर आधारित विवेक के अनुकूल चलें तथा उस विवेक की वह आवाज परखे हुए 'सद्विवेक' की ही हो, न कि अहंकार अथवा मिथ्या विवेक की।

उपर्युक्त आधार पर समाज में मूलत: तीन प्रकार के 'चरित्र' संभव हैं—

(1) सच्चरित्र—जिसमें विचार, वाणी, कर्म, यह 'त्रैत' एकरूपता में स्थित रहते हों, और विचार, परखे हुए 'सद्विवेक' के अनुकूल चल रहे हों। ऐसा व्यक्ति एक शक्तिपुंज बनकर राष्ट्र और समाज के लिए परम उपयोगी होगा।

(2) दुश्चरित्र—जिसमें यह 'त्रैत' एकरूपता में तो रहते हों, परंतु विचार या तो अहंकार के अधीन, या फिर विकृत अथवा असत् मूल्यों के आधार पर निर्मित विवेक के अनुकूल चलते हों। ऐसा व्यक्ति भी शक्तिपुंज तो होगा पर वह राष्ट्र और समाज का घोर अहित करनेवाला होगा।

(3) चरित्रहीन—जिसमें विवेक, विचार, वाणी और कर्म में भिन्न रहे। अर्थात् जिसके विवेक और कथनी में अंतर रहे, अथवा कथनी और करनी में अंतर रहे, या विवेक और विचारों में परस्पर अंतर रहे आदि-आदि। ऐसा व्यक्ति मौलिक रूप से शक्तिविहीन और निर्बल होगा।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि एक दुश्चरित्र के अंत:करण में व्याप्त मूल्य जिस दिन सत्य पर आधारित हो जाएँगे, उसी दिन से वह एक दुश्चरित्र से सच्चरित्र बन जाएगा। एक जघन्य रत्नाकर डाकू से वाल्मीकि बन जाएगा पर चरित्रहीन तो निर्बल और पंगु ही बना रहेगा। वस्तुत: चरित्रहीन व्यक्ति राष्ट्र पर भार होता है।

कोई भी व्यक्ति चौबीसों घंटे सद्विवेक अथवा अहंकार के अधीन ही बिताए यह संभव नहीं है। अत: जीवन का अधिकांश काल तथा अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण निर्णय जो सद्विवेक के अनुकूल लेकर आचरण करता है, वह समाज में सच्चरित्र माना जाता है। जो अधिकांश काल तथा जीवन के महत्त्वपूर्ण निर्णय अहंकार के अधीन लेता है वह दुश्चरित्र माना जाता है। इसी के साथ जिसकी कथनी और करनी में अधिकांश तौर पर भिन्नता रहती है, वह चरित्रहीन माना जाएगा।

'चरित्र-शक्ति' के विकास की गति का आधार—किसी के चरित्र की शक्ति के विकास की गति दो बातों पर निर्भर करती है—

1. नित्य, सद्विवेक की अनुकूलता में व्यतीत होनेवाला काल कितना है? यह काल जितना अधिक बढ़ता जाएगा चरित्र की शक्ति का 'वोल्टेज' उतना ही अधिक बढ़ता जाएगा।

2. आचरण के प्रसंग का विषय कितने महत्त्व का है? दूसरे शब्दों में, अमुक आचरण से कौन से मूल्य विशेष को संरक्षण मिल रहा है? जितनी ही अधिकाधिक मूल्यवान मान्यता, मूल्य अथवा आस्था का विवेक द्वारा समर्थन होता होगा, चरित्र-शक्ति की गहनता में उतनी ही वृद्धि होती जाएगी। एक तरह से कहा जाए तो इस आधार पर 'चरित्र-शक्ति' का 'एंपियरेज' निर्भर करता है।

वैसे तो 'वोल्ट' और 'एंपियर' विद्युत् शक्ति को मापने के परिमाण हैं। 'चरित्र-शक्ति' के अंकन का परिमाण न होने के कारण, विद्युत् के परिमाणों का सहारा इसलिए लेना पड़ा कि संभवत: इनसे अधिक सटीक शब्दों से 'चरित्र-शक्ति' को इंगित करने का और कोई परिमाण संभव प्रतीत नहीं होता। उपर्युक्त दोनों आधारों में 'चरित्र-शक्ति' के अंदर जो गुणात्मक अंतर आता है, वह इन परिमाणों के माध्यम से अधिक सुलभता से समझा जा सकता है। पहले, अर्थात् वोल्टेज से, 'चरित्र-शक्ति' की तीक्ष्णता का परिचय मिलता है, तो दूसरे, अर्थात् एंपियरेज से,

उसकी गहनता का। पहले से, व्यक्तित्व की मौलिक शक्ति में वृद्धि होती है, तो दूसरे से, व्यक्तित्व के गांभीर्य में। पहली शक्ति, दूसरों को सहर्ष आदेश पालन के लिए तत्पर बनाती है, तो दूसरी, दूसरों में अनायास श्रद्धा और विश्वास के स्तर में वृद्धि कराती है।

मूल्यों का पारस्परिक महत्त्व

इस तरह चरित्र-शक्ति के सृजन की गति जब आचरण के प्रसंग के मौलिक महत्त्व पर आधारित है, तो आवश्यक हो जाता है कि मौलिक मूल्यों, मान्यताओं तथा आस्थाओं के तुलनात्मक महत्त्व के बारे में पर्याप्त जानकारी रखी जाए। जीवन में प्राय: ऐसे अवसर आते रहते हैं जब दो मौलिक मूल्यों में टकराव-सा हो जाता है, जब मनुष्य दोनों में से एक को त्याग कर ही दूसरे की सुरक्षा कर पाता है। ऐसे अवसर पर कौन सा मूल्य त्यागा जाए तथा कौन सा रखा जाए, इसका निर्णय तभी सुलभता से लिया जा सकता है, जब यह स्पष्ट ज्ञान हो कि मूल्यों का तुलनात्मक महत्त्व क्या है।

मूल्यों का निम्नलिखित महत्त्व-क्रम वैसे तो प्रामाणिक है, पर अच्छा होगा यदि व्यक्ति इनकी वास्तविकता को अपने विवेक के आधार पर भी पूर्व में बताई गई मूल्यों की कसौटी पर परखकर देख ले।

मूल्यों का महत्त्व-क्रम

धन से वस्तु, वस्तु से शरीर, शारीरिक गति से मानसिक गति, मानसिक गति से नैतिक गति, नैतिक गति से आध्यात्मिक गति, आध्यात्मिक गति से मूल्यों की गति (जिसमें स्वधर्म पालन, सत्य, प्यार, न्याय आदि आत्मा की समस्त मौलिक प्यासें आती हैं) तथा मूल्यों की गति से राष्ट्रीय सुरक्षा, हर काल, हर परिस्थिति में अधिक मूल्यवान एवं महत्त्वपूर्ण है।

अत: जहाँ किसी मूल्य का त्यागना अनिवार्य ही हो जाए, तो उस हालत में उपर्युक्त क्रम के आधार पर अधिक महत्त्व के मूल्य की सुरक्षार्थ कम महत्त्व के मूल्य को त्यागना श्रेयस्कर होगा। उपर्युक्त क्रम से स्पष्ट हो रहा है कि शरीर, अर्थात् जीवन से भी अधिक मूल्यवान बहुत से तत्त्व हैं जिनकी सुरक्षार्थ जीवन को भी दाँव पर लगाना श्रेयस्कर होता है, अथवा जिनके क्षतिग्रस्त होने पर, जीवन यदि बना भी रहे तो मूल्यरहित होकर रह जाता है।

'चरित्र-शक्ति' के ह्रस की गति

विवेक से विमुख आचरण 'चरित्र-शक्ति' का ह्रस कराता है। ऐसी विमुखता तीन प्रकार से संभव है—

1. पहली वह, जब कोई विवेक के अनुकूल कर्म तो कर रहा हो, पर विचार या वाणी उस कर्म में केंद्रित न हो। जैसे भूख लगने पर खाना तो विवेकानुकूल खा रहे हैं, पर खाते समय उस खाने के अलावा अन्य किसी विषय पर बात करने में लगे हों। या खाना खाते समय भले ही मौन बैठे हैं, पर विचार किसी अन्य समस्या पर केंद्रित हों। ऐसी परिस्थिति में विचार, वाणी तथा कर्म की एकरूपता नहीं रह पाती और तब चरित्र-शक्ति के सृजन की जगह उसका ह्रस होता रहता है। (हिंदू शास्त्रों में खाते समय बातें करने पर निषेधाज्ञा के मूल में शायद यही सिद्धांत है।) अत: विवेकानुकूल आचरण करना ही पर्याप्त नहीं है। जो भी करते हैं उसके पीछे यदि विचार तथा वाणी, दोनों का साथ नहीं है तो ऐसी परिस्थिति में चरित्र-शक्ति में होनेवाले ह्रस की गति सबसे कम होगी।

2. दूसरी वह, जब कोई विवेक के अनुकूल कर्म करने में असमर्थ रहे। इस परिस्थिति में ह्रस की गति काफी तेज होती है।

3. तीसरी वह, जब कोई विवेक के प्रतिकूल आचरण करे। इस परिस्थिति में ह्रस की गति अत्यंत तीव्र होती है। वस्तुत: विवेक के प्रतिकूल आचरण करने पर तो साथ में व्यक्तित्व का ही विघटन होता जाता है। नैतिकता की

दीवारें बहुत विशाल दिखती हैं, पर उनका उल्लंघन होने पर यदि कोई पीछे मुड़कर देखेगा तो वह दीवार नदारद मिलेगी। ऐसी अवस्था में, यदि तत्काल उपचार न किया जाए, तो एक बार उल्लंघन होने पर जो अनैतिक आचरण का मार्ग खुल सा जाता है, वह फिर व्यक्ति को किस रसातल तक पहुँचा सकता है, कहा नहीं जा सकता। इसीलिए जब कभी विवेक के अनुकूल चलना दुर्लभ हो जाए, तो उसके प्रतिकूल चलने से तो अपने को बचाना ही चाहिए।

एक बार विद्यार्थी काल में एक सहपाठी जो अनुपस्थित था, उसके नाम पर, मेरे पास बैठे एक सहपाठी ने हाजिरी के दौरान 'उपस्थित' की आवाज लगा दी। प्रोफेसर साहब को शायद पता था कि वह उपस्थित नहीं है। अत: वे वहीं ठिठक गए और आवाज की दिशा में रुख करते हुए उन्होंने पूछा कि 'उपस्थित' की आवाज किसने लगाई? सारी क्लास चुप रही। जब कोई उत्तर न मिला तो उन्होंने मुझे नाम से पुकारते हुए कहा कि, 'बताओ यह उपस्थित की आवाज किसने लगाई थी?' मैं खड़ा तो हो गया, पर बड़े धर्मसंकट में आ गया। सच बोलूँ तो सारे सहपाठियों का बुरा बनूँ, झूठ बोलना वैसे ही मुश्किल था। मैं मौन रहा। उन्होंने जब दुबारा पूछा तो यही कहकर जान बचाई कि ''मुझसे मत पूछिए, मैं उत्तर नहीं दे पाऊँगा।'' यदि सच नहीं बोल सकते थे तो कम-से-कम झूठ बोलने से तो अपने को बचाना ही था। अत: जहाँ विवेकानुकूलता दुर्लभ हो जाए, वहाँ विवेक के प्रतिकूल जाने से रोकने में पूरी चतुरता, पूरी सामर्थ्य लगानी ही चाहिए।

'चरित्र-शक्ति' का स्तर सतत परिवर्तनशील है

कोई यह सोचे कि उसके अंदर अमुक स्तर की चारित्रिक शक्ति सृजित हो गई है और वह उतनी ही बनी रहेगी, यह असंभव है। चारित्रिक शक्ति का स्तर निरंतर घटता-बढ़ता रहता है, क्योंकि मनुष्य पल भर भी अकर्मण्य नहीं रह सकता। जागृत अवस्था में हर मनुष्य यदि किसी कर्म में नहीं लगा है तो सोचने में निमग्न होगा। सोचना भी उतना ही ठोस 'कर्म' है, जितना कर्मेंद्रियों द्वारा कोई कर्म करना। अब यदि उसके विचार या कर्म, जिसमें वह व्यस्त है, विवेकानुकूल हैं, तब तो उसकी 'चारित्रिक शक्ति' बढ़ती जाएगी, पर यदि वे उसके विवेक से विमुख हैं, तो वह घटती जाएगी। इस तरह यह संभव नहीं रह जाता कि चरित्र की शक्ति किसी काल में भी यथावत् बनी रह सके। प्रकृति में स्थायित्व संभव ही नहीं है। जिस काल में वह बढ़ नहीं रही है, तो उसका घटना अनिवार्य होता है। अत: कोई यदि अपनी चारित्रिक शक्ति को किसी स्तर पर रखना चाहता है, तो वह तभी संभव है जब वह उसे बढ़ाता ही जाए। अन्य कोई विकल्प है ही नहीं।

विवेक की अनुकूलता का एक उदाहरण

हम छात्र हैं। हमारा विवेक कहता है कि छात्रावास तथा विद्यालय के कमरे, दरवाजे, खिड़कियाँ, पंखे इत्यादि बहुत ही गंदे हो रहे हैं, और उनकी सफाई होनी चाहिए। अब उच्चकोटि की सफाई के लिए फर्राश पर भी आश्रित रहना ठीक नहीं समझते और मन में तय करते हैं कि एक सफाई अभियान विद्यालय में प्रारंभ किया जाए। इस संकल्प पर मनन करने के उपरांत हम विभिन्न कक्षाओं के प्रमुख लड़कों से मंत्रणा करने निकले। उनसे सलाह करने के उपरांत निश्चय किया कि अगली तीन छुट्टियों पर स्कूल के समस्त विद्यार्थी, अपने-अपने घर से फटा-पुराना कपड़ा तथा जो साबुन ला सकें, वे साबुन भी लाएँ और विद्यालय को चमकाएँ। फिर एकमत होकर उन छुट्टियों में, छात्रावास और विद्यालय की सारी दीवारें, पंखे, किवाड़ तथा खिड़कियों के शीशे आदि चमका दिए गए। ऐसी स्थिति में, संकल्प करने से लेकर सफाई करने तक के संबंध में जितना भी काल हमने व्यय किया, उस समस्त काल में क्रमश: हमने विवेकानुकूल सोचा, जो सोचा उसके अनुकूल वाणी का इस्तेमाल किया तथा उसी के अनुकूल कर्म किया, तो जितना काल इन समस्त गतिविधियों में लगा उतने संपूर्ण काल में हमारी 'चारित्रिक शक्ति' में वृद्धि हुई। इस प्रकार, विद्यालय की सफाई द्वारा जो भला विद्यालय का हुआ, उससे कहीं अधिक भला हमने,

अपनी शक्ति में वृद्धि करके, स्वयं अपना कर लिया।

अत: विवेकानुकूल कर्म करके समाज के किसी वर्ग या अंग का जो भला हो जाता हो, वह उस भलाई के समक्ष कुछ भी नहीं है, जो व्यक्ति स्वयं अपने साथ कर लेता है। इतना ही नहीं, जब हम सशक्त होते हैं तो एहसास करना चाहिए कि हमारा राष्ट्र भी उस हद तक सशक्त हुआ। अत: अपनी शक्ति को बढ़ाना, राष्ट्र की शक्ति के संवर्धन के दिव्य यज्ञ में अपनी एक छोटी सी आहुति डालना है। यथार्थ यह है कि किसी भी भारतवासी द्वारा, माँ भारत को इससे दिव्य कोई अन्य भेंट नहीं दी जा सकती कि वह अपने को सशक्त बनाए।

विवेक की अवहेलना का दृष्टांत

हम विद्यार्थी हैं। हमारा विवेक कहता है कि यदि नकल करके हम पास हो जाएँगे तो उस विषय के ज्ञान में हम खोखले ही रह जाएँगे, अत: नकल करना हमारे हित में नहीं है। फिर भी हम इम्तहान में नकल करने का संकल्प करते हैं। नकल करने के लिए छोटी-छोटी पर्चियों पर 'नोट्स' बनाते हैं, तदुपरांत परीक्षा के दिन उन 'नोट्स' को इस्तेमाल करके नकल करते हैं, तो, संकल्प करने से लेकर नोट्स बनाने तथा नकल करने तक, क्रमश: हमने जितना समय व्यय किया उस समस्त काल में हमने विवेक के प्रतिकूल गतिविधि की। अत: इस संपूर्ण काल में हमारी 'चारित्रिक शक्ति' का अत्यंत तीव्र गति से ह्रस हुआ। उस विषय का ज्ञान खोखला रहा, वह नुकसान अपेक्षाकृत कुछ नहीं हुआ, जितना गंभीर नुकसान हमने अपनी 'शक्ति' का ह्रस करके स्वयं अपना ही कर लिया। वस्तुत: अपनी ही शक्ति को क्षीण करके हम राष्ट्र-शक्ति पर सीधा आघात करते हैं।

एक दूसरा दृष्टांत

हमारा विवेक बताता रहा है कि परनिंदा करके हम अपना ही बड़ा अहित करते हैं अथवा दूसरों की उन्नति से ईर्ष्या करना हमें भी गंभीर हानि पहुँचाता है। फिर भी यदि हम अपने को परनिंदा अथवा ईर्ष्या करते पाते हैं तो उस समस्त काल में हम अपनी चारित्रिक शक्ति का तीव्र गति से ह्रस करेंगे।

कुछ अवहेलनाएँ पूरी तरह से नहीं होतीं। आधी अवहेलना करने या पूरी अवहेलना करने का क्या प्रभाव होता है यह संभवत: आगे दिए गए दृष्टांतों से स्पष्ट हो जाएगा—

जब चरित्र की शक्ति का सृजन तथा पतन, विचार करने, बोलने तथा कर्म करने, इन तीन क्रियाओं पर निर्भर करता है तो उसके पतन के क्रमश: भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, बहुत से व्यक्ति कहते पाए जाते हैं कि बगैर मेहनत के आया हुआ पैसा रखना पाप है, अथवा कहीं यदि रिश्वत की चर्चा चल रही हो तो उसे बेहिचक बुरा बताते हैं तथा उस वृत्ति की भर्त्सना भी करते हैं। पर वे ही लोग जरा सा मौका पाने पर बिना मेहनत के कुछ रुपए बनाने में या रिश्वत लेने में पीछे नहीं रहते। ऐसे दृष्टांतों में हम पाते हैं कि व्यक्ति ने विचार विवेकानुकूल किया, वाणी भी विवेकानुकूल बोली, पर कर्म के क्षेत्र में आने पर विवेक के विपरीत हो गया। तो ऐसे में, जितने समय में वह सोचता रहा तथा बोलता रहा, उतने समय में उसकी चारित्रिक शक्ति बढ़ी, पर जिस क्षण उसने रिश्वत का पैसा लिया तथा जब तक उस पैसे का प्रयोग किया, तब उसने उस समस्त काल में अपनी चारित्रिक शक्ति का पतन किया। संभवत: इसीलिए कहा गया कि कमाई पसीने की है या पाप की, उस पैसे का तदनुसार असर सारे परिवार पर पड़ता है।

चारित्रिक शक्ति के पतन का एक दूसरा उदाहरण सामने आ सकता है। जैसे समाज में महिलाओं के समक्ष हम सौजन्यपूर्ण व्यवहार करते हैं। बातों में भी यही कहते हैं कि परस्त्री अपनी माँ अथवा बहन के सदृश है। पर विचारों में, किसी महिला को देखकर यदि मन में दुर्भावना आने दी, तो जहाँ हमने कर्म और वाणी में विवेक की अनुकूलता का परिचय दिया, वहाँ पर विचार में विवेक की प्रतिकूलता में स्थित हो गए। ऐसी परिस्थिति में चारित्रिक शक्ति का

पतन तो उसी क्षण से शुरू हो जाएगा, जिस क्षण से हमारे विचार विवेक के प्रतिकूल चल पड़े, और तब तक होता रहेगा, जब तक हम उन विचारों में निमग्न रहेंगे।

उपरोक्त दोनों दृष्टांतों में अंतर केवल इतना ही है कि पहलेवाला व्यक्ति समाज में दुराचारी कहलाएगा, क्योंकि समाज तो किए हुए कर्म को ही देखता है, पर दूसरा, समाज में शायद सज्जन ही माना जाता रहे। पर चारित्रिक शक्ति में पतन दोनों का ही समान होगा इसमें संशय नहीं।

अक्सर यह पूछा जाता है कि इन दोनों में बड़ा पापी कौन हुआ?

यह प्रश्न पूछना अथवा इस पर मनन करना वस्तुत: अपने साथ ही घात करना है। निर्बल होते हुए, अगर हमारी दृष्टि केवल अपने से अधिक निर्बलों पर ही जाती रही, तो बलवान बनना तो दूर, हमारे अंदर बलवान बनने की भावना तक न जग सकेगी। ऐसी दिशा में सोचना, अन्य किसी के लिए नहीं, स्वयं अपने लिए अत्यंत घातक होता है। फिर, जब राष्ट्र की शक्ति उसके सदस्यों की चारित्रिक शक्ति के ही अनुपात में होती है, तो राष्ट्र को तो दोनों ही निर्बल बना रहे हैं। इसमें कौन राष्ट्र को कम निर्बल कर रहा है, या कौन ज्यादा, यह बहस नितांत खोखली है।

अजीब विडंबना है कि खोखली होते हुए भी, समाज में प्राय: यही बहस जोर-शोर से चलती दिखती है। इनकम टैक्स की चोरी करनेवाला अपने को रिश्वत लेनेवाले सरकारी कर्मचारियों से उतना ही अच्छा मानता है, जितना एक चोर अपने को काले बाजारवालों से। एक तस्कर अपना कृत्य कम पापमय मानता है, अपेक्षाकृत उसके, जो जनता की सेवा के नाम पर अपना घर भर रहा है। एक मजदूर नेता हड़ताल कराना कदापि गलत नहीं मानता पर तालाबंदी को पाप मानता है। एक अनाचारी मिल मालिक मजदूरों का हक मारना पाप नहीं समझता, पर हड़ताल को देशद्रोह की संज्ञा देता है। ये विवाद उतने ही खोखले हैं, जितने शायद वे लोग, जो इस प्रकार की बहस में लगे रहते हैं। राष्ट्र की शक्ति को तो सभी क्षति पहुँचाते हैं। कोई अपनी माँ को विष देकर मारे अथवा कोई उसे गोली से उड़ा दे, दोनों हत्यारों में कौन बड़ा पापी है, इस बहस में क्या किसी को भी कोई सार दिख सकता है?

वास्तविकता तो यह है कि माँ भारत तो उतनी ही शक्तिशाली अथवा शक्तिहीन होगी, जितना उसका प्रत्येक पुत्र एवं पुत्री है। जो भी अपनी चारित्रिक शक्ति का पतन कर रहा है वह इस माँ की शक्ति को क्षीण कर रहा है।

इतना ही नहीं, प्रकृति का यह विधान है कि हमारे अंदर जैसे-जैसे शक्ति कम होती जाती है, वैसे-वैसे हमारे अंतरतम में एक बेचैनी बढ़ती जाती है। अंतरतम की शांति और व्यक्तित्व की शक्ति में एक अकाट्य सीधा रिश्ता है। जब व्यक्ति की शक्ति बढ़ती है तो अंत:करण की शांति उसी अनुपात में बढ़ती है और जब शक्ति घटती है तो शांति भी तदनुसार घटेगी।

हम देखते हैं कि इनसान बीमारी के बाद चिड़चिड़ा हो जाता है। हालाँकि बीमारी में केवल शरीर की ही शक्ति क्षीण होती है, लेकिन फिर भी व्यक्ति के अंतरतम की शांति का स्तर घट ही जाता है, तभी वह छोटी-छोटी बातों पर धैर्य खो बैठता है और चिड़चिड़ा हो जाता है। चरित्र शक्ति तो महाश्क्ति का स्वरूप है, अत: उसका तो थोड़ा सा घटना या बढ़ना ही अंतरतम की शांति के स्तर पर बहुत वृहद असर पैदा करेगा। अंतरतम की शांति क स्तर जितना बढ़ता जाता है, उसी के अनुरूप अंतरतम में शांति से जनित आनंद की अनुभूति भी स्वत: व्याप्त होने लगती है। अत: जो व्यक्ति अपने अंत:करण की शांति और आनंद को महत्त्वपूर्ण समझते हैं उन्हें इस शक्ति के सृजन के लिए कृतसंकल्प होना ही होगा।

कम-से-कम इतना तो हर एक को स्पष्ट रूप से समझना ही होगा कि भारत माँ को शक्तिशाली बनाना किन्हीं इने-गिने लोगों के हाथ में नहीं, वरन् प्रत्येक भारतवासी के हाथ में है। अत: हमारी अपनी शक्ति का जो स्तर आज है और आनेवाले दिनों में होता जाएगा, माँ भारत की शक्ति का स्तर भी उसी के अनुरूप बनेगा। जापान, जर्मनी, इजराइल जैसे छोटे-छोटे देश इतने सशक्त केवल चंद लोगों की सामर्थ्य से नहीं बने। संपूर्ण राष्ट्र का चरित्र जब बलवान हो जाता है तो देश का क्षेत्रफल अप्रासंगिक हो जाता है। उस राष्ट्र की गरिमा और गौरव के लोहे को पूरा विश्व मानने लगता है, भले ही वह देश कितना ही छोटा क्यों न हो।

चरित्र की इस परिभाषा को सुनकर अकसर समाज में बहुत चरित्रवान लोग यह सोचकर बेचैन से हो उठते हैं कि यदि सचमुच चरित्र की परिभाषा यही है, तो वे तो अत्यंत चरित्रहीनों में गिने जाने चाहिए। यह परिभाषा ध्रुव सत्य है, इसमें तनिक भी संशय नहीं, परंतु किसी को हतोत्साहित होने का फिर भी कोई कारण नहीं बनता।

सत्य तो यह है कि जो अपनी चारित्रिक शक्ति के निर्माण के लिए कृत संकल्प है, वह अपने पिछले जीवन काल में कितना भी गिरा हुआ क्यों न हो, इससे उसके आगामी उत्थान पर तनिक भी असर नहीं पड़ता। पिछली गिरावट का आगामी उत्थान से कोई भी, किसी किस्म का रिश्ता ही नहीं है। गिरावट या उत्थान का रिश्ता तो केवल काल से है और जीवन का जो क्षण चला गया उससे किसी भी व्यक्ति का फिर कैसा, कौन सा रिश्ता रह जाता है? हाँ, उस काल में बुरा कर्म किया था, उससे जनित संस्कार तथा उससे जनित बदनामी हमारे व्यक्तित्व के साथ अवश्य जुड़ी रह जाती है। परंतु जिसे अपनी शक्ति को बढ़ाना है, उसको तो बदनामी अथवा नेकनामी के प्रति उदासीनता रखनी ही होगी। माँ भारत को इससे बिलकुल कोई सरोकार नहीं कि कौन नेकनाम था या कौन बदनाम। वह तेजस्विनी तो अपने बेटों को केवल शक्तिशाली देखना चाहती है। अत: कोई कितना ही बदनाम क्यों न रहा हो, वह बेटा भी आज से अभी, इसी क्षण से शक्ति का अर्जन शुरू कर सकता है और शक्तिशाली बन सकता है। जघन्य रत्नाकर डाकू से एक व्यक्ति महर्षि वाल्मीकि बन सकता है, तो फिर कोई भी अन्य व्यक्ति कितना भी गिरा हुआ क्यों न हो, महर्षि वाल्मीकि न सही, एक शक्तिशाली सपूत तो बन ही सकता है।

अगर किसी के मन, वचन और कर्म में दिन भर में सौ या दो सौ बार भेद आ जाता है तो ऐसे व्यक्ति को भी हतोत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है। मन, वचन और कर्म नितांत एकरूप हो जाएँ और निरंतर एकरूप बने रहें, यह मानव के लिए संभव भी नहीं है। उस स्तर का एकीकरण और वह भी निरंतर, केवल उस परम शक्तिमान में ही संभव है जिसे कुछ भगवान्, कुछ अल्लाह, कुछ गॉड अथवा अन्य नामों से पुकारते हैं। गलती करना मनुष्य का ही लक्षण है। अत: हमसे गलती तो होगी, हम गिरेंगे अवश्य, पर उससे हतोत्साहित होने की कदापि जरूरत नहीं है।

देखना यह है कि हम क्यों गिरते हैं? वे कौन सी शक्तियाँ हैं जो हमें, हमारी विवेक की अनुकूलता में स्थित नहीं रहने देतीं? क्या कारण है कि हमें जिस दिशा में विचार करना चाहिए, उस दिशा में विचार नहीं कर पाते और जिस दिशा में हमें विचार नहीं करना चाहिए, बलात् अपने को उसी दिशा में विचार करते पाते हैं? हमें जिस समय जो कहना चाहिए कहने से चूक जाते हैं और जो नहीं कहना चाहिए, वह हमारे मुँह से निकल पड़ता है। हमें जो करना चाहिए, वह हम नहीं कर पाते और जो नहीं करना चाहिए, अपने को वही करता हुआ पाते हैं। स्पष्ट है कि जो भी अनर्थकारी शक्तियाँ व्यक्ति को उसके विवेक की अनुकूलता में चलने से रोकती हैं अथवा उसे विवेक की प्रतिकूलता में बलात् खड़ा कर देती हैं, वे ही मनुष्य जाति की असली दुश्मन हैं। विदित है कि केवल उन्हीं शक्तियों के प्रभाव में आकर मनुष्य अपने विवेक के अनुकूल नहीं चल पाता और क्रमश:, निर्बल, निर्बलतम होता चला जाता है। उल्लेखनीय है कि जहाँ निर्बलता होगी, वहाँ दरिद्रता, अशांति, ईर्ष्या, द्वेष तथा इनसे जनित दु:ख और अशांति सर्वदा व्याप्त रहेगी।

अत: अनिवार्य हो जाता है कि सर्वप्रथम हम उन अनर्थकारी शक्तियों को पहचानें तथा फिर वह रास्ता भी ढूँढ़े, जिससे वे सदा-सदा के लिए परास्त की जा सकें। ऐसा करने पर, हम फिर नितांत स्वाभाविक रूप से हर काल में अपने मन, वचन, कर्म, तीनों क्रियाओं में अपने विवेक की अनुकूलता में स्थित रहने में सक्षम हो सकेंगे और शनै:-शनै: अपने को सशक्त बनाते चले जाएँगे।

विवेक से विमुख करनेवाली शक्तियाँ

संपूर्ण मनुष्य जाति की शत्रु अर्थात् मनुष्य को अपने विवेक की अनुकूलता से बलात् डिगा देनेवाली, केवल तीन ही दुष्ट शक्तियाँ हैं। वे हैं—

1. भय, 2. प्रलोभन और 3. आलस्य।

जीवन में कभी भी हमने कोई भी गलती की हो, उसे बारीकी से परखने पर पता चलेगा कि प्रत्येक के मूल में जो कारण बना, वह इन्हीं तीनों में से एक या इनके मिश्रित प्रभाव का फल था।

यहाँ भय का स्वरूप व्यापक है। जैसे चोट का भय, बुढ़ापे या मृत्यु का भय, मानहानि का, प्रियजन की नाराजगी का, बीमारी का, किसी भी भौतिक हानि का, विवाद तथा आलोचना का, अपमान का, विरोध का, दु:ख का, भविष्य का, अज्ञात का भय आदि-आदि समस्त भय इसके अंतर्गत आएँगे। हाँ, सात्विक भय, जैसे अहंकार के बढ़ने का भय अथवा कानून के उल्लंघन या नजरों में गिरने सरीखे भय इसमें शामिल नहीं हैं।

इसी प्रकार प्रलोभन का भी स्वरूप व्यापक है। पाँचों इंद्रियों के विषयों को पाने का प्रलोभन, धन का, सांसारिक प्रतिष्ठा अथवा मान का, बदला लेने का प्रलोभन, प्रभुत्व का, खोखली सफलता का, पद व ख्याति का तथा विभिन्न शक्तियों को अनधिकार पाने का प्रलोभन सरीखे समस्त प्रकार के तामसिक और राजसिक प्रलोभन इसके अंतर्गत आएँगे। इसमें भी सात्विक प्रलोभन, जैसे भगवत्-प्राप्ति, पूर्णता-प्राप्ति, परम शांति, परम आनंद-प्राप्ति, परम पद-प्राप्ति इत्यादि आत्मा की समस्त मौलिक प्यासों की तुष्टि के प्रलोभन इसमें नहीं शामिल होंगे।

तीसरे शत्रु आलस्य का रूप तो सभी को विदित है। वह आलस्य शारीरिक हो, मानसिक हो अथवा नैतिक, तीनों ही रूप में आलस्य हमें गिराता है। आलस्य का तो कोई भी रूप सात्विक नहीं होता।

शारीरिक आलस्य से तो सब ही परिचित हैं पर मानसिक आलस्य का रूप सबको स्पष्ट नहीं हो पाता। उसे एक दृष्टांत देकर स्पष्ट करना आवश्यक होगा। उपनिरीक्षकों के चयन के हेतु साक्षात्कार परिषद् के एक सदस्य, हर लड़के की मनोवैज्ञानिक शक्ति को परखने के लिए कुछ प्रश्न किया करते थे। उन्हीं में से एक प्रश्न था कि ''एक बर्तन में नौ किलो पानी आता है और दूसरे में पाँच किलो। बस, ये ही दो बर्तन हैं, तो तुम नदी से ठीक छह किलो पानी कैसे लाओगे?'' कितने ही अभ्यार्थी ऐसे आए, जिन्होंने प्रश्न सुनने के तीन-चार सेकिंड में ही कह दिया कि ''यह हमसे नहीं होगा।'' अर्थात् अपने मस्तिष्क पर थोड़ा सा भी जोर लगाना उनकी सामर्थ्य के बाहर था। यह दृष्टांत मानसिक आलस्य का है। जब व्यक्ति किसी भी समस्या से जूझने के लिए मन पर किंचित् भी जोर आने पर तत्काल हार मानकर बैठ जाए, ऐसी प्रवृत्ति को ही मानसिक आलस्य कहा जाता है। इसी प्रकार, किसी नैतिक कर्म को करने के लिए विवेक कहे, पर न तो भय, न प्रलोभन और न ही शारीरिक अथवा मानसिक आलस्य बाधक बन रहा हो, परंतु फिर भी हम नहीं करें, तो वह नैतिक आलस्य होगा। दृष्टांत के लिए हम रात्रि में मोटर से आ रहे हैं। शहर से पाँच-छह मील पहले एक आदमी लहूलुहान पड़ा है। रात का समय होने के कारण बदमाशों के भयवश हम भी न रुके, घर आए, घर पर टेलीफोन भी है, विवेक कहता है कि पुलिस कंट्रोल रूम को यह सूचना दे देनी चाहिए कि अमुक दूरी पर एक आदमी घायल पड़ा है। फोन पर सूचना देने के उपरांत नाम भी बताने के लिए हमें कोई बाध्य नहीं करनेवाला है। फिर भी हम फोन नहीं करते, तो यह नैतिक आलस्य ही होगा।

भय, प्रलोभन तथा आलस्य जीवन में किस तरह सक्रिय होते हैं यह कुछ अन्य दृष्टांतों से संभवत: और स्पष्ट हो जाएगा—

एक पुलिस अधिकारी है। किसी अपराध की विवेचना में वह इस नतीजे पर पहुँचा कि यह अपराध 'क' ने किया है। 'क' किसी अत्यंत प्रभावी नेता का निकट संबंधी है। यदि उस पर हाथ डाला, तो उस पुलिस अधिकारी का तत्काल तबादला हो सकता है। ऐसा सोचकर वह फिर अभियुक्त को नहीं पकड़ता क्योंकि तबादले से प्रतिष्ठा भी गिरेगी और बच्चों की शिक्षा में भी व्यवधान होगा। बच्चों की शिक्षा ठीक चले इसका प्रलोभन भी है। अत: भय अधिक तथा किंचित् प्रलोभन के कारण वह अपने विवेकानुकूल चलने में असमर्थ रहे। इसी दृष्टांत में यदि वह उस नेता से किसी अच्छी नियुक्ति की आशा लगाकर उसके निकट संबंधी को गिरफ्तार न करके उस पर एहसान करता

है, तो उस हालत में पतन का कारण भय कम, प्रलोभन अधिक हो जाएगा।

चोरबाजारी, टैक्स की चोरी, रिश्वतखोरी, लूटपाट, हत्याएँ, बलात्कार इत्यादि समस्त अपराध प्रलोभन के वशीभूत होकर किए जाते हैं, भले ही नीयत लाभ उठाने की हो अथवा बदला लेने की।

बहुत से अधिकारी जो अत्यंत ईमानदार हैं, प्राय: भयवश कर्तव्य से विमुख हो जाते हैं। किसी दोस्त ने अथवा संबंधी ने ऐसी सिफारिश करी, जिसे करने के लिए विवेक गवाही नहीं दे रहा, पर मित्र तथा संबंधी की नाराजगी का भय उन्हें विवेक के प्रतिकूल आचरण करने पर बाध्य कर देता है।

हम रास्ते में चले जा रहे हैं कि एक ट्रक एक व्यक्ति को टक्कर मारता चला गया। वह व्यक्ति गंभीर रूप से घायल अवश्य है, पर साँस ले रहा है। हमारा विवेक कहता है कि इसे तत्काल अस्पताल पहुँचाओ। हमारा अपना लड़का इस प्रकार घायल पड़ा है, तो क्या हम नहीं आशा लगाएँगे कि जो भी उस स्थान पर हो, उसे हमारे लड़के को तत्काल अस्पताल पहुँचाना चाहिए? पर सब देखते हुए, समझते हुए हम जड़वत् खड़े तमाशा देखते रहते हैं। विवेकानुकूल चलने में भय बाधक हो रहा है। ऐसा करने पर पुलिस कहीं हमारे ही पीछे न लग जाए? यदि पुलिस से बचे, तो अदालत में न जाने कितनी बार हाजिरी लगानी पड़ेगी? कौन पड़े इस झमेले में। समय बर्बाद होने का भय भी है और नैतिक आलस्य भी, सो दोनों ही बाधक हो रहे हैं।

हमारी हर गति विवेकानुकूल हो, इसके लिए अनिवार्य हो जाता है कि हम इन तीनों अनर्थकारी शक्तियों पर विजय प्राप्त करें। अत: प्रश्न उठता है कि इन तीनों शक्तियों को परास्त करने की विधि क्या है?

पतन करनेवाली तीनों दुष्ट शक्तियों पर विजय पाने की विधि

बड़ी विचित्र बात है कि भय, प्रलोभन और आलस्य, इन तीनों शक्तियों में, आपस में किंचित् भी, कैसी भी समानता नहीं है, परंतु तीनों का दमन करने की विधि अलग-अलग न होकर केवल एक ही है।

अर्थात् हम इन तीनों में से किसी भी शक्ति द्वारा परास्त किए गए हों, इन पर विजय प्राप्त करने की क्रिया एक ही है।

सर्वप्रथम तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि शक्तिविहीन जीवन जीना हर प्रकार के दरिद्र और दु:खों को न्यौता देना है, अत: हमें सशक्त बनना ही होगा। जिस क्षण यह संकल्प मन में व्याप्त हो जाएगा तो फिर इन दुष्ट शक्तियों पर विजय प्राप्त करना कोई मुश्किल काम नहीं रह जाता।

जब भी हम भय, प्रलोभन अथवा आलस्य से ग्रस्त होकर अपने विवेक की अवहेलना करनेवाले हों, उस समय यह आशा लगाना कि हम अपने को झकझोरकर विवेक की अनुकूलता में ले आएँ, तो प्राय: निराशा ही हाथ लगेगी। वैसे, कई मानव-रत्न इस अस्वाभाविक, किंतु फिर भी नितांत संभव क्रिया को भी करने में जहाँ-तहाँ सफल होते रहे हैं। परंतु हम इनसान हैं और गलती करना इनसान का ही लक्षण है। अत: मान लिया कि एक ऐसी स्थिति आई, जब हम किसी भय अथवा प्रलोभन से इतनी बुरी तरह से ग्रस्त हैं कि हमें होश ही नहीं है और हम वह गलत कृत्य कर बैठते हैं।

प्रकृति के एक विलक्षण नियम के अंतर्गत, अपने विवेक से विमुख होकर कैसा भी कृत्य करते ही, तत्काल इस बात का एहसास होता है कि हमसे गलत काम हो गया। बस, उस क्षण अपने को पकड़ना होगा और की गई गलती की स्वीकारोक्ति अपने से करवानी होगी। अपने आप से यह कहलवाना होगा कि ''मैंने गलती की।'' शर्त केवल इतनी है कि यह स्वीकारोक्ति नितांत निष्ठा, अत्यंत विनम्र भावना, तथा हृदय की गहराइयों से करनी है।

केवल इतना भर करने से भय, प्रलोभन तथा आलस्य, तीनों पर शनै:-शनै: स्वत: विजय प्राप्त होती जाती है।

यह क्रिया देखने में जितनी आसान नजर आ रही है, वस्तुत: उतनी आसान है नहीं। कम-से-कम पहली बार तो नहीं। प्रथम बार इस क्रिया को करने में बहुत प्रयास करना पड़ेगा, क्योंकि जब स्वीकारोक्ति करने चलेंगे, तो पता चलेगा कि यह स्वीकारोक्ति हमें नहीं, हमारे अहंकार को करनी है। और अहंकार ऐसी कोई भी स्वीकारोक्ति करने के लिए और वह भी निष्ठा और विनम्रता से, कभी राजी नहीं होता। परंतु यदि भय, प्रलोभन तथा आलस्य जैसी घोर अनर्थकारी शक्तियों पर विजय प्राप्त करने का हमारा संकल्प दृढ़ है, तो अपनी अदालत में अहंकार को हर तरफ से घेरना ही होगा। चारों ओर से घिरने पर हमारा अहंकार अपने सारे अस्त्र चलाएगा। वह समझाएगा कि कैसे अमुक परिस्थिति उसके बूते के बाहर थी, अत: उससे वह मजबूर था। वह बताएगा कि कैसे अमुक व्यक्ति इस सारी गलती का मूल कारण है, वह नहीं। और जब हम इन सारी दलीलों को पूरी तरह अनसुना करके फिर आग्रह करेंगे कि स्वीकारोक्ति की जाए, तो वह फिर रुदन करके हमारी करुणा को जगाने का प्रयास करेगा। गलती के लिए पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त तक करने का वचन देगा। पर उसकी सारी दलीलें, सारी युक्तियों को पूरी तरह अनसुना करने में ही इस क्रिया की सफलता का मूल है। अंत में वह यह भी कहेगा कि यदि ऐसा ही है, तो इस दुनिया में जीना दूभर हो जाएगा। वह इसमें तरह-तरह की धमकियाँ देगा। भयावह भविष्य की झलकियाँ दिखाएगा जिससे हम घबराकर उसे छोड़ दें। पर अपनी अदालत में नितांत निर्भयता एवं निर्ममता से उससे स्वीकारोक्ति कराने के संकल्प से किंचित् भी नहीं हिलना है। बराबर स्मरण रखना है कि इस मौके पर हमारा जरा सा भी डिगना महाअनर्थकारी साबित होगा। अंत में जब अहंकार देखेगा कि उसकी एक भी चाल नहीं चली, तो खीझकर स्वीकारोक्ति तक कर लेगा। पर खीझकर स्वीकारोक्ति से काम नहीं चलनेवाला। अत: उसे फिर तब तक मजबूर करना होगा, जब तक वह अपना सारा क्रोध, सारी प्रतिक्रिया त्याग कर, नितांत निष्ठा और विनम्र भाव से स्वीकारोक्ति नहीं कर लेता। अंत में जब वह पूरी ईमानदारी, सच्चाई और विनयपूर्वक स्वीकारोक्ति कर लेता है, तब उसे तत्काल मुक्त करके, बीती हुई सारी बात को विस्मृत करने का प्रयास करना ही श्रेयस्कर होगा। वह गलती दुबारा नहीं की जाएगी, इस प्रकार के किसी संकल्प की भी आवश्यकता नहीं है। मन में किसी भी प्रकार का बोझ न मानकर बस आगे कर्म में लग जाना होगा।

अब अगर आगे चलकर अहंकार फिर उसी भय अथवा प्रलोभन आदि से ग्रस्त होकर पुन: वही गलती कर बैठता है, तो फिर उसके साथ वही व्यवहार करके निष्ठा और नम्रता से पुन: स्वीकारोक्ति करानी होगी। जितनी बार अहंकार वह गलती करता जाता है, उतनी बार उसके साथ यही क्रिया करनी है।

ऐसा करने पर हम पाएँगे कि जितने वेग से हम भय अथवा प्रलोभन का शिकार पहली बार हुए थे, दूसरी बार उसका आधा भी वेग नहीं रहा। तीसरी बार स्थिति संभवत: ऐसी रही कि चाहते, तो अपने को रोक भी सकते थे, पर फिर भी अहंकार को जाने दिया। तब अहंकार को पता चला कि यह तो गुनाह बेलज्जत निकला। इस तरह, सामान्यतया चौथी नहीं, तो पाँचवीं बारी में वह स्थिति अवश्य आ जाएगी, जब भय तथा प्रलोभन अपने पूरे वेग से प्रहार करते होंगे, पर अहंकार उनके प्रति चामत्कारिक रूप से उदासीन बना रहेगा। उस दशा में बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के, नितांत स्वाभाविक रूप से अहंकार भी हमारे साथ अपने विवेक की अनुकूलता करता पाया जाएगा।

इस तरह हमारे व्यक्तित्व से वह एक कमजोरी जड़मूल से सदा के लिए हमसे दूर हो जाएगी। इसी अभ्यास द्वारा अपनी एक-एक कमजोरी को अपने व्यक्तित्व से निकालते रहने पर शनै:-शनै: हमारा व्यक्तित्व निखरता चला जाएगा और हम नितांत स्वाभाविकता से अधिकांश काल अपने विवेक की अनुकूलता में बने रहेंगे। ऐसा होने पर हमारे अंदर उस अद्‌भुत महाशक्ति 'चरित्र' का सृजन होने लगेगा। इस अलौकिक शक्ति की अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति

को उतनी ही यथार्थता से अनुभव होगी, जितनी यथार्थता से व्यायाम करके वह अपनी शारीरिक शक्ति का अनुभव करता है।

यदि नितांत सच्चाई, ईमानदारी तथा निर्ममता से यह अभ्यास किया जाए तो शक्ति-प्रजनन की यह अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति को हफ्ते-दस दिन में ही होने लगेगी।

इस प्रक्रिया से अपनी कमजोरियों से मुक्ति पाने में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि वह कमजोरी हमारे व्यक्तित्व को ऐसे छोड़ जाती है, जैसे एक पकी हुई पत्ती पेड़ से स्वत: सदा के लिए गिर जाती है। अंत:करण में कोई दमनात्मक गतिविधि नहीं करनी होती। हृदय पर कोई आघात नहीं हो पाता। मन में कोई गाँठ अथवा कोई मनोवैज्ञानिक ग्रंथियाँ नहीं बन पातीं। वह कमजोरी हमारे व्यक्तित्व के अंतरतम की गहराइयों से निकल जाती है। कभी भी, फिर उस कमजोरी का बृहद्-से-बृहद् रूप भी हमारे सामने आकर खड़ा हो जाए, तो भी वह हमें किंचित् भी प्रभावित करने में असमर्थ रहेगा। वस्तुत: वह कमजोरी हमारे संस्कारों से ही पुन: कभी न लौटने के लिए चली जाती है।

तीन चेतावनियाँ

(1) गलती होने पर, क्या दूसरों से, क्या अपने से, तत्काल अपनी गलती को स्वीकार करना तो नितांत वांछनीय है, इतना ही नहीं, गंभीर गलतियों का तटस्थता से विश्लेषण करके आगे के लिए सबक लेना भी नितांत वांछनीय क्रिया है, परंतु उसके कारण अपने को नीच, कुकर्मी, कमजोर, जलील आदि कहकर, दूसरों से तो दूर, अपने में भी अपनी निंदा करना, बहुत ही भयंकर भूल होगी। सतत स्मरण रखना है कि आत्म-निंदा, आत्महत्या से भी बड़ा पाप है। इतना ही नहीं, बड़ी-से-बड़ी गलती करके फिर रोना, पश्चात्ताप करना अथवा प्रायश्चित्त करना नितांत निरर्थक क्रियाएँ हैं। वस्तुत: आत्म-निंदा, रुलाना, पश्चात्ताप करना अथवा प्रायश्चित्त आदि क्रियाएँ केवल हमारा अहंकार ही हमसे कराता है। अहंकार का यही अद्‌भुत चातुर्य है कि पकड़े जाने पर वह यह सारा नाटक ऐसी चतुरता से करता है कि देखनेवालों को विश्वास हो जाए कि व्यक्ति अपने किए पर पछता रहा है। इस प्रक्रिया में अहंकार दूसरों को तो छलता ही है, हमें भी ऐसा छलता है कि हमें पता नहीं चल पाता। यह सब नाटक करके वह स्वयं अछूता का अछूता बना रहता है। उसकी अपनी शक्ति किंचित् भी क्षीण नहीं होती। फलस्वरूप दुबारा फिर भय अथवा प्रलोभन के आवेश में वह वही गलती फिर से कराने की पूरी सामर्थ्य रखता है। अत: अहंकार के इस छलावे से सदा सतर्क रहना है।

(2) इसी तरह स्वीकारोक्ति करते समय अहंकार एक छलावा और करने का प्रयास करता है। वह चाहता है कि उसकी स्वीकारोक्ति के साथ-साथ हम उस गलती को दुबारा न करने का भी 'संकल्प' कर लें। उसे अच्छी तरह पता होता है कि हमारे अंदर अभी इतनी श्क्ति सृजित नहीं हुई है कि अगली बार ही हम उस भय, प्रलोभन अथवा आलस्य का मुकाबला करके उस पर विजयी हो सकें। ऐसी दशा में ऐसा 'संकल्प' करने के उपरांत यदि भय अथवा प्रलोभन हमें परास्त कर देते हैं, तो हमारी संकल्प-शक्ति, हमारे आत्म-बल तथा हमारे आत्मविश्वास पर अहंकार बहुत गहरी चोट कर जाएगा। उसे पता है कि उसे घेरकर उससे स्वीकारोक्ति कराने में ये ही शक्तियाँ सबसे सक्रिय भाग लेती हैं। अत: उन पर कुठाराघात करके वह अपने लिए आगे चलकर एक निरंकुश जीवन जीने का साधन बनाता है। अत: कितना भी प्रलोभन वह दिलाए, गलती की स्वीकारोक्ति के समय, आगे उस गलती को न करने का संकल्प नहीं करना चाहिए। यदि किसी भावावेश में संकल्प कर ही लिया जाता है, तो जीवन रहे या जाए, वह संकल्प नहीं टूटना होगा। ऐसे संकल्प करने से सबसे बड़ा अनर्थ यह होता है कि उस भय अथवा प्रलोभन को फिर हमें बलपूर्वक परास्त करना पड़ता है। अर्थात्—अंतर्जगत् में अहंकार तो उस भय तथा प्रलोभन से आसक्त

पड़ा रहता है, पर बाह्य आचरण द्वारा हम उसका दमन करते हैं। ऐसी दशा में वह भय तथा प्रलोभन आगे कभी भी फिर उभर सकते हैं। इस तरह संकल्प द्वारा अपनी कमजोरी दूर करने से वह कमजोरी जड़मूल से हमसे दूर नहीं हो पाती। इसीलिए इस बात पर बल दिया गया है कि भले ही कुछ विलंब हो जाए पर 'गलती को दुबारा न करने के संकल्प' के जाल से अपने को बचाना परम आवश्यक है।

(2) जहाँ तक प्रायश्चित्त का प्रश्न है तो यह व्यक्ति का मिथ्या अहंकार है कि वह अपने कुकृत्य का प्रायश्चित्त कर सकता है। किस कर्म का प्रायश्चित्त कितना करना है, उसका हिसाब केवल प्रकृति के ही पास है, फिर कोई प्रायश्चित्त करे या न करे, प्रकृति तो प्रत्येक कर्म का भुगतान कालांतर में स्वत: ही करा लेगी। प्रकृति का काम स्वयं करने का मिथ्या अहंकार करना भूल होगी। प्रायश्चित्त करने से व्यक्ति न तो अपनी खोई हुई शक्ति को पुनर्जीवित कर पाता है और न अहंकार अथवा उसकी सहयोगी शक्तियों—भय, प्रलोभन तथा आलस्य—पर ही कोई प्रहार कर पाता है। अत: प्रायश्चित्त वस्तुत: अपनी शक्ति को और क्षीण करनेवाली एक वृथा क्रिया है।

निष्ठा और विनम्रता से गलती की स्वीकारोक्ति करने मात्र से भय, प्रलोभन तथा आलस्य सरीखी प्रचंड शक्तियाँ, क्यों व कैसे स्वत: परास्त हो जाती हैं?

इस प्रक्रिया के पीछे कोई बहुत गहन रहस्य नहीं है। इसके मूल में केवल एक यथार्थ यह है कि भय, प्रलोभन तथा आलस्य से प्रेरित कर्मों से प्राप्त होनेवाला रस अहंकार की मौलिक खुराक है। अहंकार को यह खुराक जितनी मिलती जाएगी उसकी भूख भी उसी अनुपात में बढ़ती चली जाएगी। पेट की भूख की सीमा होती है पर अहंकार की भूख सीमाविहीन है। जैसे मोटर की 'हेड लाइटें' कहने को तो लगभग सौ मीटर आगे का मार्ग ही प्रकाशित करती हैं, पर जब उस प्रकाश का लाभ उठाकर जो भी उस फासले को पूरा करना चाहेगा, तो वही लाइट सतत अगले सौ मीटर प्रकाशित रखती चली जाएगी, चाहे व्यक्ति हजारों-लाखों किलोमीटर चलता चला जाए। ठीक उसी तरह जैसे-जैसे अहंकार की तात्कालिक भूख व्यक्ति मिटाता जाता है, उसमें उतनी ही भूख और बनती चली जाती है। उसकी इस भूख का अंत संभव ही नहीं है। वस्तुत: वह इतना व्यापक रूप रखने की सामर्थ्य रखती है कि व्यक्ति फिर उसकी खुराक जुटाने में जीवन के अंतिम दिन के अंतिम क्षण तक भी प्रयास करता रहे, तो भी वह भूख उस अंतिम क्षण में भी यथावत् ही विद्यमान रहेगी। आदि काल से आज तक मनुष्य अहंकार के इसी छलावे की भूख को मिटाने के लिए अपना शरीर, अपनी बुद्धि, अपनी आत्मा, यहाँ तक कि अपने मूल्यों को भी बेचता रहा है तथा कुछ दृष्टांत तो ऐसे भी आए, जहाँ उसने अपने राष्ट्र तक को बेच डाला, पर वह उस भूख को न मिटा पाया। जब अहंकार का दमन नहीं किया जाता, तो व्यक्ति उसका दास ही बनकर जीवन बिताता है और अपने को भय, प्रलोभन तथा आलस्य से जनित दुर्बलताओं से जकड़ा हुआ पाता है।

मनुष्य के सौभाग्य से अहंकार जितना प्रचंड है, उतना ही संवेदनशील भी है। पोषण होने पर जितना व्यापक रूप धारण करने की सामर्थ्य रखता है, पकड़े जाने पर तथा अपनी गलतियों की स्वीकारोक्ति करने पर उसी गति से सिमटता भी है।

उपर्युक्त स्वीकारोक्ति की क्रिया में अहंकार की इसी संवेदनशीलता का लाभ उठाया जाता है। प्रत्येक बार अपनी वासना के पोषण हेतु जब-जब उसने विवेक से विमुख होकर मनुष्य से कर्म करवा लिया, तब-तब उसे पकड़कर जब स्वीकारोक्ति कराई गई, तो वह सकुचाता गया। सकुचाने पर उसकी भूख की सामर्थ्य भी सकुचाई। भूख की जब सामर्थ्य नहीं रहती, तो फिर भूख मिटानेवाली सामग्रियों में भी कोई रुचि नहीं रह जाती। तभी भय, प्रलोभन तथा आलस्य अपने पूर्ण वेग से भी उपस्थित रहे आएँ, फिर भी उनके एकमात्र ग्राहक, अहंकार, के पास भूख ही नहीं रह जाती जो उनसे प्रेरित कर्मों को कराने के लिए वह शरीर को आदेश कर सके। इस तरह फिर व्यक्ति बिना किसी

भी प्रयास के, स्वाभाविक रूप से अपने विवेक की अनुरूपता में सहजता से बना रहता है।

अब संभवत: उस विचित्रता का भी रहस्य उद्घाटित हो गया होगा कि तीन नितांत भिन्न-भिन्न अनर्थकारी शक्तियों का दमन एक ही क्रिया से कैसे संभव होता है। भय, प्रलोभन तथा आलस्य ये शक्तियाँ अवश्य तीन थीं, पर उन तीनों का हमारे अंदर मूल ग्राहक तो एक अहंकार ही था। अत: स्वीकारोक्ति की क्रिया द्वारा केवल अहंकार पर प्रभावी प्रहार होने से तीनों ही शक्तियाँ स्वत: निष्फल होकर रह जाती हैं।

विवेक की अनुरूपता में बने रहने पर क्या-क्या होता है?

विचार, वाणी तथा कर्म द्वारा विवेक की अनुकूलता में बीतनेवाला काल जैसे-जैसे बढ़ता जाएगा, उसके फलस्वरूप एक साथ कई बातें घटित होती हैं। उनकी जानकारी होने पर ही चरित्र-शक्ति के चामत्कारिक प्रभावों का परिचय मिलता है। तभी पता चलता है कि समस्त ब्रह्मांड में यह शक्ति समस्त शक्तियों की सम्राज्ञी 'महाशक्ति' क्यों कहलाती है। वस्तुत: जैसे पारस पत्थर के सान्निध्य में आकर सामान्य लोहा स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही चारित्रिक शक्ति का सृजन करके नर वास्तव में अद्भुत शक्ति का अधिकारी बन, एक देव पुरुष तथा नारायण बन जाता है और नारियाँ देवी स्वरूप साक्षात् दुर्गा।

इस घटनाक्रम में घटित होनेवाली गतिविधियाँ

1. नैतिक शक्ति का सृजन होता है— जैसे-जैसे व्यक्ति अपने विचार, वाणी तथा कर्म में अपने विवेक के अनुरूप बितानेवाला काल बढ़ाता जाता है, उसकी चारित्रिक शक्ति का सृजन होता चला जाता है। विवेक, विचार, वाणी तथा कर्म इन चार दिव्य शक्तियों की एकरूपता व्यक्तित्व में उस अलौकिक चुंबकीय शक्ति का सृजन करती हैं जिसे संसार 'नैतिक शक्ति' के नाम से पुकारता है। इस तरह चारित्रिक शक्ति वस्तुत: 'नैतिक शक्ति' ही है। इस शक्ति के सृजन में एक ओर विवेक, जो आत्म-तत्त्व का ही भाग है, का योगदान है और दूसरी ओर आचरण के माध्यम से शरीर, अर्थात् प्रकृति के तत्त्वों का योगदान है। फलस्वरूप, इस शक्ति के दिव्य स्तरों का अधिकारी भौतिक जगत् तथा आध्यात्मिक जगत्, दोनों का ही सम्राट बनता है। निर्भर केवल इस पर करता है कि व्यक्ति ने यह शक्ति किस स्तर की सृजित की। ऐसा व्यक्ति संसार में अद्भुत यश और कीर्ति अर्जित करते हुए अपनी आत्मा के मौलिक उद्देश्य 'पूर्णता' को सहज में ही प्राप्त करता है। इसी आधार पर समस्त ब्रह्मांड में यह शक्ति, शक्तियों की सम्राज्ञी, का पद प्राप्त करती है। ऐसी अद्भुत सामर्थ्य अन्य किसी शक्ति में नहीं पाई जाती।

2. विवेक का विकास होता है— व्यक्ति अहंकार से विमुख हुए बिना, विवेक के अनुकूल रह नहीं सकता। अहंकार से विमुख होने पर अहंकार सिमटता, सकुचाता है। जैसे-जैसे वह सिमटता जाता है, आत्मा का उतना-उतना भाग अहंकार के आवरण से बाहर आता जाता है अर्थात् विवेक का विकास स्वत: होता जाता है। विवेक का विकास होने पर व्यक्ति के अंदर जटिल-से-जटिल समस्याओं के मूल में पहुँचकर उनका समाधान ढूँढ़ने तथा त्रुटिविहीन निर्णय लेने की अद्भुत सामर्थ्य अर्जित होती जाती है।

3. निर्भयता का सृजन— मनुष्य में विभिन्न प्रकार के 'भयों' का पोषण केवल अहंकार ही करता है। जैसे-जैसे अहंकार सिमटता जाता है, वैसे-वैसे 'भय' का पोषण भी कम होता जाता है। सच्चाई और ईमानदारी से, इस शक्ति के सृजन के अभ्यास के हफ्ते-दो हफ्ते में ही व्यक्ति को स्वयं विभिन्न प्रकार के भयों से मुक्त होने की अनुभूति होने लगती है। शनै:-शनै: वह स्थिति आती है जब व्यक्ति के अंदर मृत्यु अथवा अन्य कैसे भी भय का अंश मात्र भी नहीं रह जता। जैसे बरसात में जब झींगुर अपनी कर्कश ध्वनि को अचानक बंद करता है, तभी एकाएक एहसास होता है कि कितनी तीक्ष्ण ध्वनि हमारे कानों को बेधे डाल रही थी, उसी तरह जिस क्षण मनुष्य इन 'भयों' से मुक्त होता है, तभी व्यक्ति को एकाएक अनुभूति होती है कि वह उस क्षण तक विभिन्न भयों के कितने बड़े बोझ को

ढोता रहा था। सरेशाम से झींगुर अपनी कर्कश ध्वनि निकालते रहते हैं, और यदि कोई उसकी ओर विशेष ध्यान न दिलाए, तो व्यक्ति को जैसे वह कर्कशता अनुभव ही नहीं हो पाती, इसी तरह प्रारंभिक जीवन से ही अनेक भयों से ग्रस्त रहने के कारण व्यक्ति को उनके बोझ का तब तक आभास तक नहीं हो पाता, जब तक वह उनसे मुक्त नहीं होता। झींगुर की कर्कशता तथा भयों से जनित बोझ, दोनों ही एकाएक समाप्त होने पर ही अपनी असहनीयता की अनुभूति कराते हैं। वस्तुत:, विभिन्न प्रकार के भय हमारे मस्तिष्क में एक प्रकार का मानसिक 'शार्ट सर्किट' बनाए रखते हैं, जिनके कारण हमारे व्यक्तित्व की मौलिक शक्ति निरंतर रिसती रहती है। मानसिक शक्ति का रिसना मस्तिष्क के लिए भारी पड़ता है। उस भार की अनुभूति तभी होती है, जिस क्षण वह रिसना एकाएक बंद हो जाता है।

'भयों' से दिन भर में कितनी अपार शक्ति का अपव्यय होता है इसका अनुमान तो तभी लगता है जब वह अपव्यय बंद होता है। इस तरह शक्ति का अपव्यय रुकते ही, वही शक्ति संचित होना शुरू हो जाती है, और जब चरित्र शक्ति के सृजन के साथ-साथ दूसरी तरफ अतिरिक्त शक्ति का संचय भी होने लगता है तो व्यक्ति को दोहरी शक्ति प्राप्त होने की अनुभूति होती है। अपूर्व शक्ति संचित होने का दूसरा अर्थ है सामर्थ्य में अपूर्व वृद्धि, अपूर्व सामर्थ्य आते ही जीवन के दायित्वों का बोझ एकाएक हल्का प्रतीत होने लगता है और इस तरह भयों के दूर होने पर व्यक्ति को एक अद्‌भुत हल्केपन की अनुभूति होती है।

चारित्रिक शक्ति और निर्भयता में परस्पर एक अकाट्य सीधा रिश्ता है। जैसे-जैसे चारित्रिक शक्ति बढ़ती है, उसी अनुपात में विभिन्न भय घटते जाते हैं और निर्भयता उभरती आती है। वस्तुत:, चारित्रिक शक्ति का विकास किस गति से हो रहा है, इसका एक त्रुटिविहीन मापदंड, व्यक्ति के अंदर सृजित होता हुआ निर्भयता का स्तर है।

4. प्रलोभनों से मुक्ति—इसी तरह अहंकार के घटने से व्यक्ति अनेक प्रकार के प्रलोभनों से भी मुक्त होता जाता है। लोभ से मुक्त होते ही वह समस्त प्रकार की ईर्ष्याओं, द्‌वेषों तथा चिंताओं से भी मुक्त होता जाता है। ईर्ष्या, द्‌वेष तथा चिंता, ये तीनों भी व्यक्तित्व की अपार शक्ति के रिसाव का कारण बनते हैं। इन सबके कारण शक्ति का रिसना बंद होने पर और भी अतिरिक्त शक्ति का संचय व्यक्तित्व में होने लगता है।

5. आलस्यों से मुक्ति—भय और प्रलोभन की तरह आलस्य का भी जनक अहंकार ही है। अहंकार के क्षीण होने पर समस्त प्रकार के आलस्य भी शनै:-शनै: प्रभावहीन होते चले जाते हैं। फलस्वरूप, व्यक्ति में अभूतपूर्व शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक स्फूर्ति का सृजन होता जाता है और धीरे-धीरे वही निरालस्यता उसकी प्रकृति का अंग बन जाती है।

6. परम शक्ति के स्त्रोत से संयुक्त होना—विवेक, विचार, वाणी तथा कर्म की एकरूपता का मतलब है जिस काल में व्यक्ति इस एकरूपता में स्थित है, उस काल में व्यक्ति की समस्त कर्मेंद्रियाँ, ज्ञानेंद्रियाँ तथा मस्तिष्क पूर्ण रूप से विवेक से संयुक्त हैं। विवेक स्वयं आत्म-तत्त्व का ही अंश है और आत्म-तत्त्व, परम तत्त्व का ऐसा अंश है जो स्वयं ही परम तत्त्व का पूर्ण स्वरूप है। अत: जैसे किसी बिजली के तार से संयुक्त होते ही एक निर्जीव तार में वही शक्ति आ जाती है, जो पावर हाउस में है, वैसे ही विवेक से संयुक्त होते ही मनुष्य की समस्त इंद्रियों में साक्षात् परम शक्तिमान की शक्ति का संचार होने लगता है। इसीलिए दीर्घ काल तक जो व्यक्ति उस एकरूपता में स्थित रहता है, उसके चेहरे पर एक अद्‌भुत तेज, अनोखी कांति तथा उसके संपूर्ण व्यक्तित्व से एक अद्‌भुत आभा प्रस्फुटित होती रहती है जिसे सारे दर्शक देखकर अनुभव करते हैं। कोई भी मनुष्य चौबीसों घंटे निरंतर एकरूपता में बना रहे, यह असंभव है, पर ऐसे व्यक्ति जो दीर्घ-से-दीर्घ संभव काल में एकरूपता में रहते हैं, वे जिस काल में उस एकरूपता में नहीं भी रहते, उनके चेहरे का तेज उस काल में उतना उद्‌दीप्त न भी रहे, फिर भी तेजस्वी बना ही

रहता है। वह तेज, वह आभा जिस तरह सारे मनुष्यों को ही नहीं, समस्त पशुओं और पक्षियों तक को समान रूप से प्रभावित करती है, उसी से प्रमाणित होता है कि जिस शक्ति का प्रभाव उस व्यक्तित्व में उद्‌भासित होता है, वह कोई अन्य शक्ति नहीं, उसी अद्‌भुत आत्म-तत्त्व की शक्ति है जिसका अंश प्रत्येक प्राणी में व्याप्त है।

जब शरीर का अंग-प्रत्यंग उस परम शक्तिमान की शक्ति से सिंचित होता है, तो वह संपूर्ण शरीर एक अनोखी स्वस्थता में रहता है।

7. एक अलौकिक सरूर की अनुभूति— विवेक की अनुरूपता तीन विभिन्न माध्यमों से व्यक्तित्व में शक्ति का संचार करती है। पहला—चरित्र शक्ति के सृजन से, दूसरा—भय, ईर्ष्या, द्‌वेष, चिंता आदि में शक्ति के अपव्यय के रुकने से तथा तीसरा—साक्षात् परम शक्तिमान की शक्ति से संयुक्त होने पर। इन तीनों सूत्रों से प्राप्त होनेवाली शक्ति अर्जित करने पर व्यक्ति के अंदर अभूतपूर्व शक्ति सृजित होती है। शक्ति कैसी भी हो, उसका नशा, उसका सरूर हो जाना नितांत स्वाभाविक है। अत्यंत बलवान शरीर अथवा पद या धन की शक्तिवालों के नशे से तो प्राय: संसार परिचित ही है, पर उपर्युक्त तीनों सूत्रों से प्राप्त होने पर जो अपूर्व शक्ति सृजित होती है उससे एक ऐसा अद्‌भुत सरूर पैदा होता है जिसे परम आनंद का नशा कहा जाए, तो अधिक उपयुक्त होगा। वह ऐसा नशा होता है जो एक दफे चढ़ता है तो जीवनपर्यंत नहीं उतरता। शर्त केवल इतनी ही है कि व्यक्ति चरित्र की शक्ति के सृजन के लिए सतत प्रयासशील बना रहे।

8. मनुष्य के चित्त को परम शक्तिमान के सामीप्य में लाना— बुद्‌धि तीन प्रकार की होती है। एक वह, जब मस्तिष्क और विचार-शक्ति अहंकार से संयुक्त हों तथा दूसरी वह, जब मस्तिष्क और विचार-शक्ति विवेक से संयुक्त होते हैं। तीसरी वह, जब मस्तिष्क और विचार-शक्ति केवल प्राण-शक्ति से संचालित हों, एक तटस्थ यंत्र का काम करती है, जो विचार-विनिमय, तर्क-वितर्क, विश्लेषण तथा निर्णय लेने की सामर्थ्य रखती है। पहली दुर्बुद्‌धि कहलाती है, दूसरी सद्‌बुद्‌धि। दूसरे शब्दों में पहलीवाली बुद्‌धि ही संसार में 'मन' के नाम से जानी जाती है तथा दूसरी 'चित्त' के।

जब विचार, वाणी, कर्म, अहंकार के अधीन होकर क्रियाशील होते हैं, तो व्यक्तित्व में जो चुंबकीय शक्ति सृजित होती है वह 'अहंकार' ही है। अहंकार की यह चुंबकीय शक्ति फिर 'मन' को शरीर की ओर आकृष्ट करती है और मन को शरीर के साथ और अधिक संबद्‌ध रखने का प्रयास करती रहती है। इसके विपरीत जब विवेक की अनुकूलता में व्यक्ति अधिकाधिक रहता है, तो जो 'नैतिक शक्ति' सृजित होती है उसकी चुंबकीय शक्ति 'चित्त' को आत्म-तत्त्व की ओर आकृष्ट करती है और उसका सामीप्य दिलाकर उसी से संबद्‌ध बनाए रखने का प्रयास करती है। 'नैतिक शक्ति' के सृजन से व्यक्ति का 'चित्त' नितांत स्वाभाविक रूप से उस आत्म-तत्त्व की अनुभूति करने के लिए खिंचता है। इस तरह दिव्य स्तरों की नैतिक शक्ति के सृजन से आत्मानुभूति स्वत: हो जाना अनिवार्य है।

9. शक्तिपुंज बनना— अधिक-से-अधिक काल तक अपने विवेक की अनुकूलता में स्थित रहने पर तीन सूत्रों से शक्ति का सृजन होने पर व्यक्ति शनै:-शनै: एक शक्तिपुंज बनता जाता है, जो फिर जहाँ भी लगेगा, असाधारण क्षमता से काम करेगा। 'निरंतर शक्ति का सृजन' करनेवाले ऐसे ही व्यक्तियों को समाज में 'ह्यूमन डाइनमो' कहा जाता है। थकान किसे कहते हैं, वह जीवन-पर्यंत नहीं जान पाता।

10. स्वयं शांतिमय तो संसार में शांति— मनुष्य के मस्तिष्क में सारे तनाव, सारी अशांति के मूल में विवेक और अहंकार का पारस्परिक संघर्ष कारण रहता है। परस्पर एक-दूसरे के विपरीत होने के कारण, शरीर और मस्तिष्क से, दोनों की माँगें एक-दूसरे के विपरीत ही रहती हैं और शरीर तथा मस्तिष्क एक समय में केवल एक की ही माँग पूरी कर पाते हैं। फलस्वरूप दूसरा रुष्ट होकर आंतरिक जगत् में तनाव की स्थिति पैदा करता है।

निरंतर अभ्यास से जब अहंकार का ही मूल से शमन होता जाता है, तो अहंकार की माँगें स्वत: समाप्त सी होती जाती हैं और इस तरह विवेक, बिना विशेष विरोध के शरीर की सत्ता चलाता है। जब विरोध समाप्त हो जाता है, तो अंत:करण में अपूर्व शांति क वास हो जाता है। प्रकृति का यह विधान है कि जो स्वयं में संतुष्ट रहता है, वह संसार से भी संतुष्ट रहता है। अत: ऐसा व्यक्ति फिर जहाँ रहता है अपने चारों ओर शांति के वातावरण का निर्माण करता है। वह समाज में स्वभावतया शांति का दूत बनकर जीता है।

चरित्र एक महाशक्ति क्यों है?

जिस एक क्रिया को करने से किसी के व्यक्तित्व में एक साथ उपर्युक्त दस गतिविधियाँ घटित होने लगें, तो अनायास एक सामान्य से भी अति सामान्य व्यक्ति में, अभूतपूर्व असामान्यतया तथा अद्‌भुत असाधारणता का उदय होना स्वाभाविक हो जाता है। इसी शक्ति को व्यक्ति जब प्रचुर मात्रा में अर्जित कर लेता है तो उसके लिए कैसा भी भौतिक अथवा आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त करना चामत्कारिक रूप से सहज हो जाता है। इस शक्ति की सबसे विलक्षण बात यह है कि इसके सृजन के लिए किसी कुल विशेष, जाति विशेष अथवा वर्ग विशेष में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं और न ही इसके सृजन के लिए मनुष्य किसी भी वस्तु, व्यक्ति अथवा परिस्थिति पर आश्रित है। इसका सृजन, जिस अवस्था में, जिस काल में, जिस जगह से चाहें, उसी जगह, उसी क्षण से प्रारंभ किया जा सकता है। केवल एक मनुष्य शरीर तथा इस श्क्ति को अर्जित करने का मानसिक संकल्प, दो ही तत्त्व इसके सृजन के लिए पर्याप्त हैं।

इतनी सहजता से संपूर्ण मनुष्य जाति को उपलब्ध होनेवाली, तीनों लोकों को अपने अधीन बनाने की सामर्थ्य रखनेवाली यह प्रचंड शक्ति, शक्तियों की सम्राज्ञी 'महाशक्ति' कही जाए, तो सर्वथा उपयुक्त ही होगा।

प्रकृति की चक्रलीला

प्रकृति में स्थायित्व संभव ही नहीं है।

प्रत्येक जीव यदि निर्बल है, तो प्राकृतिक नियमों के अधीन नित्य-प्रतिदिन निर्बलतर, निर्बलतम होता हुआ विनाश को प्राप्त होता है। यदि स्वस्थ और सशक्त है, तो नित्य-प्रतिदिन वह तब तक और सशक्त होता जाता है, जब तक आयु उसे जीर्ण-शीर्ण करके निर्बल होने के अंतिम कुचक्र में डालकर नष्ट नहीं कर देती।

विदित है कि इस नियम के अधीन ही प्रकृति अक्षम का विनाश तथा सक्षम का पोषण करके सृष्टि में जीवों की संख्या का संतुलन कायम रखती है। संभवत: प्रकृति की इसी चक्रलीला को देखकर स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि ''शक्ति ही जीवन है, निर्बलता मृत्यु।''

प्रकृति का यह नियम कितना अपवादरहित है यह इसी से प्रमाणित होता है कि जो मनुष्य जितना शक्तिहीन होता है, वह उतना ही अशांत और बेचैन रहता है। वह जितना बेचैन और चिंतित रहता है, उतना ही और श्क्तिहीन होता जाता है। इस तरह 'अक्षम का विनाश' करनेवाले प्रकृति के कुचक्र में फँसकर वह जब तक नष्ट नहीं हो जाता, तब तक अपनी शक्तिहीनता से जनित निराशा, निरुत्साहिता, दौर्बल्य और दरिद्रता के दलदल में फँसता चला जाता है। मन का असहनीय भारीपन उसके जीवन का अभिन्न अंग बन जाता है। जीवन उसके लिए केवल दु:खों की अंतहीन शृंखला ही बनकर रह जाती है।

इसके विपरीत, सभी प्रकार की शक्तियों के सृजन के अपने जन्मसिद्‌ध अधिकार का प्रयोग करके, जो भी यदि केवल इस महाशक्ति चरित्र का ही सृजन अपने अंदर करना प्रारंभ कर दे, तो कुछ ही दिनों में वही जीवन, अनंत उत्साह, असीम पुरुषार्थ और अंतहीन आनंद से परिपूर्ण हो सकता है।

कोई यदि फिर भी अपने प्राप्त अधिकारों का उपयोग न करे, तो उसकी दयनीय दशा का उत्तरदायित्व उसके स्वयं के अलावा और किसी का भी हो पाना संभव नहीं रह जाता। संभवत: इसीलिए प्रारंभ में कहा गया था कि ''शक्ति ही जीवन है, निर्बलता एक निंदनीय अपराध''।

एक चेतावनी

सामान्य मनुष्यों के स्वभाव की विचित्रता के कारण, संसार में यह एक नियम सा बन गया है कि जिसके पास कैसी भी शक्ति आ जाए, उस पर प्रहार करने के लिए बहुत से लोग उद्यत रहते हैं। यदि व्यक्ति सचेत नहीं है, तो ऐसे प्रहारों से निपटने में व्यक्ति की अपनी सृजनात्मक क्रियाओं में व्यवधान पड़ना सामान्य सी बात हो जाती है। फिर नैतिक शक्ति के दिव्य स्तरों पर पहुँचने पर संसार के लोग ही नहीं, अपने अहंकार से भी अपनी सुरक्षा करना बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाता है। उस अवस्था में अहंकार अपना रूप ऐसा बदल-बदलकर आता है कि उसे पहचान पाना भी कभी-कभी दुर्लभ हो जाता है, क्योंकि तब वह प्रकट होता है अपनी चारित्रिक निर्मलता के अहंकार के रूप में, अपनी सात्विक वृत्ति अथवा एक कभी न थकनेवाले लोक-सेवक के अहंकार के रूप में। वास्तविकता इतनी है कि अहंकार का कैसा भी स्वरूप हो, वह मनुष्य का पराभव करके ही रहता है। अत: यदि व्यक्ति सचेत नहीं है, तो अत्यंत सामर्थ्यवान होने के नाते संसार उसे कोई क्षति न भी पहुँचा पाए, वह अपने ही अहंकार द्वारा मिट्टी में मिलाया जा सकता है।

इसमें संदेह नहीं कि प्रारंभ में हमारा सात्विक अहंकार चरित्र शक्ति का सृजन करने में एक बलवान सहयोगी होता है, पर एक स्तर तक उसका उपयोग करने के उपरांत, उस पर यदि सतर्क निगाह नहीं रखी गई, तो वह निश्चय ही हमारा सर्वनाश कर देगा।

संसार के तथा अपने अहंकार के प्रहारों से बचने के लिए समस्त शक्तिधारियों को प्रकृति ने एक अमोघ शस्त्र, एक अभेद्य कवच दे रखा है। वह है 'विनम्रता' का कवच। जैसे-जैसे शक्ति का सृजन बढ़ता जाए, वैसे-वैसे उसी के अनुरूप अपने अदंर विनम्रता भी बढ़ाते जाने से मनुष्य पूरी तरह सुरक्षित बना रहता है।

अहंकार किस तरह प्रहार करता है तथा विनम्रता किस तरह सुरक्षा करती है, इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण दरगाह अजमेर शरीफवाले मानव-रत्न, ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती की जीवनी से मिलता है। अद्वितीय नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति के अधिकारी हो जाने पर एक दिन, वजू करते वक्त धरती से आसमान तक, एक साक्षात् अल्लाह प्रकट हुआ। उसमें से आवाज आई कि ''मोइनुद्दीन, हम तुमसे बहुत खुश हैं, आज से हमने तुम्हारी नमाज माफ कर दी।'' विदित है कि साक्षात् अल्लाह से ऐसा हुक्म पाकर, कोई भी खुशी और फख्र से फूला न समाएगा, पर विनम्र मोइनुद्दीन में ऐसी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। उन्होंने सोचा कि जब स्वयं हजरत मोहम्मद की नमाज कभी माफ नहीं हुई, तो मैं ऐसी कौन सी हस्ती हो गया कि अल्लाह मुझ पर ऐसा करम करेंगे। तत्काल समझ गए कि अल्लाह के नूर के छलावे में निश्चय ही यह शैतान उन्हें छलने आया है। उन्होंने उससे कहा कि ''तुम अल्लाह नहीं शैतान हो, जो मुझे बहकाने आए हो।'' इस जवाब को सुनकर शैतान परास्त हो, मनुष्य का शरीर धारण करके प्रकट हुआ और बहुत विनम्रतापूर्वक बोला कि ''मोइनुद्दीन, तुम एक भक्त ही नहीं, बहुत बड़े आलिम भी हो अर्थात्—पूर्ण विवेकी हो, इसीलिए तुम अपने इल्म से मेरे उस वर से बच गए जिससे न जाने कितने पीर और आलिमों को मैंने शिकस्त दी। मैं सच में शैतान ही हूँ और तुम्हें बहकाने ही आया, पर तुम सच में महान् हो। तुम्हें कोई नहीं बहका सकता।'' विनम्रता के प्रतीक मोइनुद्दीन ने फिर उत्तर दिया कि ''न मैं महान् हूँ और न आलिम, मुझे तो मेरे अल्लाह ने बचाया।'' हारकर शैतान बोला, ''यह मेरा दूसरा और आखिरी वार था जिससे आज तक कोई नहीं बचा।'' यह कह वह गायब हो गया। अर्थात्—अपने दूसरे वार द्वारा यदि उनका अहंकार उन्हें

यह समझाने में सफल हो जाता कि वे वास्तव में पूर्ण विवेक हैं, वास्तव में इतने महान् हैं कि साक्षात् शैतान भी उनसे परास्त हो गया, तो भी अहंकार अर्थात् शैतान का काम बन जाता। पर जहाँ असीम शक्ति और सामर्थ्य के साथ-साथ असीम विनम्रता भी वास करती है, वह फिर किसी का शिकार नहीं बन सकता। किसी ने सच कहा है कि तुम भगवान् की तरफ आधा कदम बढ़ाओगे, तो वह तुम्हारी तरफ दो बढ़ाता है। और तब जिसे साक्षात् भगवान् का सान्निध्य उपलब्ध हो उसका एक क्या, हजार शैतान भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

इसमें संशय नहीं कि जब अत्यंत दिव्य स्तर की श्क्ति का सृजन हो लेता है, तो उसी स्तर की विनम्रता का कवच तभी संभव होता है, जब व्यक्ति हृदय से स्वीकार करे कि उसकी संपूर्ण शक्ति केवल उस परम पिता, परम आत्मा की कृपा का प्रभाव है। इस दृष्टि से नास्तिकों के लिए, श्रेष्ठता अथवा सात्विकता के अहंकार का खतरा काफी गंभीर बना रहता है क्योंकि वे भगवान् के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं कर पाते।

परंतु प्रत्येक नास्तिक भी अपनी श्रेष्ठता के अहंकार से तब बच सकता है, जब वह एक अन्य शाश्वत सत्य स्वीकार कर ले। वह यह कि हमारे अंदर नैतिक शक्ति का अथवा अन्य कोई भी गुण कितने भी विराट स्तर का क्यों न हो, संसार में असंख्य ऐसे लोग हैं जिनमें कोई-न-कोई अन्य गुण हमसे कहीं अधिक मात्रा में विद्यमान हैं। हम कितने भी सत्यनिष्ठ हों अथवा कितने भी श्रेष्ठ प्रशासक हों, न जाने कितने ऐसे होंगे जो हमसे कहीं अधिक कुशलता से जूता सी सकते हैं, सफाई कर सकते हैं, खेती कर सकते हैं आदि-आदि। वास्तविकता यही है कि हम कितने भी श्रेष्ठ हो लें, अंतत: हम असंख्य लोगों से असंख्य बातों में अत्यंत लघु हैं। जब तक व्यक्ति इस सत्य को अंगीकार करता रहेगा, यदि वह नास्तिक भी है, तो भी विनम्रता का कवच उसे सदा उपलब्ध रहेगा।

अहंकार का एक दूसरा रूप

जिन लोगों में यह चरित्र-शक्ति सामान्य से थोड़ी भी अधिक सृजित हो जाती है, उनमें ईमानदारी, न्याय तथा सत्य के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा और श्रद्धा पैदा हो जाना स्वाभाविक हो जाता है।

ऐसे कई वास्तव में ईमानदार पुलिस कर्मचारियों को मैंने परेशानियों में आते देखा है। वे बहुधा यही कहते सुने जाते हैं कि ''आजकल ईमानदारी का जमाना नहीं है। हमें तो हमारी ईमानदारी ने मरवाया।''

इस संदर्भ में तीन अत्यंत महत्त्व की बातें हैं जिनका ध्यान रखना बहुत आवश्यक होगा—

1. पहली यह कि ईमानदारी कोई गुण नहीं है। वस्तुत: बेईमानी के अवगुण का न होना ही ईमानदारी है। उच्च से उच्चकोटि की भी हो, ईमानदारी केवल बेईमानी के अवगुण के अभाव का नाम है। फिर भी ईमानदार अधिकारी तथा कर्मचारियों में न जाने क्यों एक विचित्र अहंकार जागृत हो जाता है, मानो ईमानदारी से काम करके वे सारे समाज पर एहसान कर रहे हैं, अथवा यह कि उनको छोड़कर शेष सब बेईमान हैं। इस अहंकार का रूप कोई भी हो, वह उस व्यक्ति को मिट्टी में मिलाएगा इसमें संशय नहीं। ईमानदारी कष्ट दिलाए, यह तो संभव ही नहीं है। कष्ट में डलवाता है अहंकार और लोग इल्जाम 'ईमानदारी' पर लगाते हैं।

ऐसे इल्जाम कोई बेईमान लगाए, तो समझ में भी आ सकता है, पर जब कोई ईमानदार व्यक्ति अपनी ईमानदारी को इल्जाम लगाता है, तो विस्मय होता है। ऐसा लगता है मानो वह ईमानदारी का नहीं, बेईमानी का पुजारी है। विदित है कि जब कोई अपने पर आई विपत्ति का इल्जाम अपनी ईमानदारी पर डालेगा, तो निश्चय ही सामान्य लोगों की श्रद्धा और निष्ठा ईमानदारी पर से तो उठेगी ही। आखिर जो तत्त्व व्यक्ति पर विपत्तियाँ पहुँचवाए, उसके प्रति किसका विश्वास जग पाएगा? अत: वह इस तरह ईमानदारी के साथ घात करता है, उसकी सेवा नहीं। फिर वास्तव में यह कथन सत्य भी नहीं, क्योंकि विपत्तियों का कारण ईमानदारी का अहंकार है, ईमानदारी नहीं। तीसरी बात, ईमानदार होकर व्यक्ति केवल अपना ही भला करता है और अपना भला करने के लिए यदि कुछ दाम भरना

पड़ता है, तो उसको उसे सहर्ष ही भरना चाहिए, न कि विलाप करके।

इसी तरह न्याय और सत्य की सेवा में लगा व्यक्ति प्राय: यह कहता पाया जाता है कि वह ''टूट भले ही जाए पर झुकेगा नहीं।''

औरों की क्या कहें, ऐसी आस्था मेरी स्वयं की भी थी। उस अहंकार के संबंध में मेरे पुलिस प्रशिक्षण महाविद्यालय के प्रधानाचार्य की हैसियत से गुरु, श्री मिराज उद्दीन अहमद, जो हर दृष्टि से एक अत्यंत श्रेष्ठ पुलिस अधिकारी थे, ने मुझे प्रकाश दिखाकर उसे दूर किया था। वह कैसे हुआ उसे बताना वांछनीय होगा।

एक अत्यंत जघन्य डाकू के गिरोह से सात घंटे की मुठभेड़ के बाद, सरगना गंगा सिंह तथा अन्य छह साथी मारे गए तथा सात अन्य गिरफ्तार हुए। उत्तर प्रदेश शासन ने मेरे तथा एक उप-निरीक्षक और एक सिपाही के लिए वीरता के पुलिस पदक की संस्तुति की। पर भारत सरकार ने केवल मुझे ही पदक दिया। अधीनस्थों को पदक न मिलने पर मुझे बहुत वेदना हुई। मैंने इसके विरुद्ध भरपूर प्रयास किए पर असफल ही रहा। फिर एक अन्य मुठभेड़ में केवल हम तीन पुलिस अधिकारी, वास्तव में अपनी जान पर खेलकर, एक अपहृत बालक को डाकुओं के चंगुल से बचाकर लाए। उसमें एक डाकू वहीं मारा गया था तथा दो गिरफ्तार हुए। निर्णय लिखते समय जिला जज ने पूरा डेढ़ पन्ना हम पुलिस अधिकारियों के साहस और वीरता की प्रशंसा में लिखा। उत्तर प्रदेश शासन ने हम तीनों के लिए वीरता का राष्ट्रपति पुलिस पदक, जो पुलिस में सर्वोच्च पदक होता है, की संस्तुति की। पर जब घोषणा हुई तो तीनों को केवल वीरता का पुलिस पदक दिया गया। पदक देने में यह दूसरी बार अन्याय हुआ। अत: मैंने इस अन्याय का विरोध करने हेतु अपने आई.जी. को बहुत विनम्रता से स्मरण दिलाया कि यदि इस तरह अन्याय सहते गए, तो यह तो होता ही रहेगा। अन्याय हुआ, वे इससे पूरी तरह सहमत थे। अत: जब मैंने प्रस्ताव रखा कि मैं इस दूसरे पदक को स्वीकार नहीं कर पाऊँगा, तो मुझे बताया गया कि ऐसा करना अनुशासनहीनता होगी और इससे नौकरी चली जाएगी। जब घर में भाइयों तथा माँ से सलाह की, तो सबकी राय यही हुई कि नौकरी भले ही चली जाए पर अन्याय के विरुद्ध कदम तो उठाना ही होगा। मैं अपना पत्र आई.जी. को भेजने ही वाला था कि एकाएक ध्यान आया कि अपने पूज्य गुरु मिराज साहब से भी सलाह कर लूँ। उनका जो उत्तर आया, उसने जीवनभर के लिए मेरी आँखें खोल दीं। उन्होंने लिखा—

''...तुम कहते हो कि नौकरी जाती है तो जाए, पर अन्याय के विरुद्ध विरोध तो करना ही पड़ेगा। तुम 'एक' अन्याय के विरोध के लिए उस नौकरी को खोने के लिए उद्यत हो, जिसके माध्यम से तुम जीवन में सैकड़ों-हजारों अन्याय होने से रोकोगे। क्या एक अन्याय के लिए इतने अन्यायों को रोकने के साधन को खोना विवेकपूर्ण होगा?''

यह उत्तर पाते ही मेरा रोष न जाने कहाँ गायब हो गया। अन्याय के विरुद्ध युद्ध में एक मोर्चे पर हार उतना महत्त्व नहीं रखती जितनी अन्याय के विरुद्ध युद्ध जारी रखना। यह निर्णय लेकर न जाने क्यों मेरे हृदय में अपूर्व शांति व्याप्त हो गई।

तभी जाना कि न्याय अथवा सत्य क सेनानी हर मोर्चे पर विजयी हो, यह महत्त्वपूर्ण अवश्य है, पर इतना नहीं कि उस युद्ध में वह सेनानी काम आ जाए। ऐसा होने पर न सिर्फ एक सेनानी कम होता है, इससे अन्य सेनानियों का उत्साह और साहस भी टूटता है। अत: विवेकीजन ऐसी परिस्थितियों में अपने अहंकार से नहीं, विवेक से काम लेते हैं। सात्विक अहंकार तो झुकने के बजाय टूटने की ही सलाह देता है, क्योंकि शहीद होने पर ख्याति मिलेगी, पर अपने लिए प्राप्त होनेवाली नामवरी और ख्याति से न्याय और सत्य के पक्ष में युद्ध जारी रखना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

कुछ लोग ऐसे निर्णयों को भ्रांतिवश 'अन्याय से समझौता' करना भी मान सकते हैं, पर यह समझौता नहीं है।

किसी भी 'समझौते' की पहचान है कि निर्णय या तो भय या प्रलोभन अथवा आलस्यवश लिया जाए, पर जहाँ ये तीनों कारण निर्णय में नहीं हों, वह समझौता नहीं, विवेक का निर्णय होता है।

इसी वृत्तांत में यदि यह जानकारी होने पर कि विरोध करने से नौकरी चली जाएगी तथा नौकरी जाने के भय से विरोध करने का मार्ग त्यागा गया होता, तो निश्चय ही वह 'समझौता' ही होता। कायरता होती। पर जिस नीयत से वह मार्ग त्यागा गया वह व्यक्तिगत भय, प्रलोभन अथवा आलस्य से प्रेरित न था, इसलिए वह समझौता नहीं रह जाता।

ऐसे निर्णय लेने के उपरांत एक और कसौटी है, जिससे परखा जा सकता है कि कोई निर्णय समझौता रहा अथवा विवेकपूर्ण कर्म।

जब भी व्यक्ति समझौता करेगा, तो उसके उपरांत उसके मन में एक असहनीय बेचैनी पैदा होना अनिवार्य है। पर जब कोई मूल्य किसी बड़े मूल्य की सुरक्षार्थ त्यागा जाता है, तो अंत:करण में एक अद्‌भुत शांति और आह्लाद व्याप्त होता है।

निर्णय से पहले यदि गलती भी होती है, तो निर्णय के उपरांत अपने अंतर्जगत् की गति से भी उस निर्णय की त्रुटियुक्तता अथवा त्रुटिविहीनता प्रमाणित हो जाती है।

अपने बारे में जहाँ व्यक्तिगत भय, प्रलोभन अथवा आलस्य से प्रेरित निर्णय लेना निस्संदेह कायरता का द्योतक होगा, वहाँ अपनी सुरक्षा का ध्यान उस सीमा तक अवश्य रखना होगा कि हमारी दशा देखकर लोग हमारी राह पर चलने से कतराने न लगें। यदि हम सच्चाई और न्याय के मार्ग पर चल रहे हैं, तो राष्ट्र का कल्याण इसी में है कि इस मार्ग पर सैकड़ों-हजारों-लाखों लोग चलने के लिए प्रेरित हों।

लाखों के प्रेरणा-स्रोत बनना तभी हितकर हो सकता है, जब हमारा विवेक इतना सतर्क रहे कि अपनी दुर्दशा कराकर उन्हीं लाखों को हतोत्साहित करने का कारण कभी न बनने पाए। इसके लिए हर परिस्थिति का विश्लेषण एक समग्र दृष्टि से करना अनिवार्य हो जाता है।

चरित्र शक्ति से जनित अहंकार का तीसरा रूप

निर्धारित कसौटी पर परखने के उपरांत धारण किए गए मूल्य तथा विवेक को परखने की कसौटी पर परखी हुई विवेक की आवाज पर लिया गया निर्णय, निर्विवाद रूप से सत्य पर आधारित होता है। फिर भी इतने अमोघ विवेक के अधिकारी को भी दूसरों के संबंध में अपना मत व्यक्त करने का मुक्त अधिकार नहीं बन पाता। अपार चारित्रिक शक्ति के होते, ईमानदारी से बनाया हुआ मत व्यक्त करने में भी क्यों गंभीर सतर्कता अनिवार्य है, इसे समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि निर्मलता और सच्चाई के होते, चरित्रवान व्यक्ति बहुधा अत्यंत शीघ्रता से दूसरों के बारे में अपना मत व्यक्त करते पाए जाते हैं।

किसी व्यक्ति के बारे में मत, उसके विचारों, वचनों तथा उसके आचरण के आधार पर बनता है। तीनों ही बातों पर बहुत बड़ा प्रभाव इस बात का भी पड़ता है कि वह विचार, वचन तथा आचरण, किन परिस्थितियों तथा किन अन्य व्यक्तियों के संपर्क में घटित हुए थे। अत: उन परिस्थितियों तथा उन दूसरे लोगों द्‌वारा किए गए आचरण की नाजानकारी होते हुए, किसी भी व्यक्ति विशेष के विचार, वचन अथवा आचरण के आधार पर मत बनाने में गंभीर त्रुटि की संभावना हो सकती है। ऐसा होने पर अन्याय हो जाना अनिवार्य है। ऐसे में जहाँ वांछित से श्रेष्ठ मत व्यक्त किया जाए, वह तो फिर भी क्षम्य हो सकता है, पर किसी के संबंध में यदि वांछित से विपरीत मत व्यक्त किया जाता है, तो वह गंभीर अन्याय हो सकता है।

दूसरों के आचरण का, व्यक्ति विशेष के आचरण पर कितना प्रभाव पड़ता है, इसकी स्पष्ट जानकारी एक छोटा सा प्रयोग करने से आसानी से हो सकती है।

प्रयोग

जब हम किसी अत्यंत उदार हृदयी मित्र के साहचर्य में हैं, तो हमारे आचरण का स्वरूप क्या होता है, इसे स्मरण रखकर, यदि फिर अपने उस आचरण से उसकी तुलना करें जो हम किसी अत्यंत कृपण मित्र के साहचर्य में करते हैं, तो कुछ-कुछ इस बात का परिचय मिल सकता है कि हम तो वही थे, पर दो भिन्न प्रकार के व्यक्तियों के साथ हमारे ही आचरण में अंतर क्यों आया? विदित है कि हमारे आचरण में भिन्नता, क्रमशः उन दोनों व्यक्तियों के अपने-अपने गुणावगुणों के कारण ही आई।

अब यदि उन दोनों से कोई हमारे बारे में अलग-अलग उनका सच्चा मत ले, तो दोनों ही मत अत्यंत भिन्न होंगे। हम तो वही थे, तो हमारे बारे में दो भिन्न मत कैसे आए? विदित है कि उस भिन्नता का मूल कारण क्रमशः उन दोनों व्यक्तियों के अपने-अपने गुणावगुणों में निहित है।

इस प्रयोग से जो बात विदित हो रही है, वह केवल इतनी कि जब हम किसी के बारे में मत व्यक्त करते हैं, तो वह उस व्यक्ति के उस रूप का वर्णन होता है जो उस व्यक्ति का हमारे गुणावगुणों से अंतरक्रिया करने पर प्रकट हुआ था। वही उसका वास्तविक स्वरूप हो, यह आवश्यक नहीं। अपने पैंतीस साल के सेवाकाल में यह बात बार-बार उभरकर आती रही कि अधीनस्थ कर्मचारी तो वही रहा, पर विभिन्न अधिकारियों द्वारा दिए गए वार्षिक मंतव्यों में हरदम भिन्नता रही। कभी-कभी तो जमीन-आसमान की विभिन्नता देखने को मिली। उस कर्मचारी का वास्तविक स्वरूप क्या था, उसका सच्चा ज्ञान संभवतः उनमें से किसी भी अधिकारी को नहीं हो पाया हो, यह नितांत संभव है। प्रत्येक अधिकारी का मंतव्य, स्वयं अपने तथा उस कर्मचारी के अहंकारों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया का ही स्वरूप था। अतः किसी के बारे में सही मत तभी उभरकर आ सकता है, जब हम अपने अहंकार के योगदान को यथासंभव निकालकर उसका अंकन करें। पर ऐसा कर पाना असंभव सा ही है। अतः जब भी कभी कोई विपरीत मंतव्य प्रकट करना पड़े तो बहुत सावधानी बरतना परमावश्यक होगा। संभवतः यही कारण रहा जो हिंदू शास्त्रों ने 'परनिंदा' करने को महापाप घोषित किया।

महाशक्ति चरित्र के सृजन से प्राप्त होनेवाली उपलब्धियाँ

इस शक्ति के सृजन करते ही पूर्व में लिखी जो दस गतिविधियाँ एक साथ घटित होती हैं, उनसे व्यक्तित्व में निर्भयता, निर्लोभता, निरालस्यता आदि उपलब्धियाँ तो होती ही हैं, उनके अतिरिक्त क्या और उपलब्धियाँ होती हैं उन्हें जान लेना उपयुक्त ही होगा।

(1) भौतिक क्षेत्र में आशातीत चामत्कारिक सफलताएँ—सामान्य जन जब क्रियाशील होते हैं, तो केवल अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति का ही प्रयोग करते हैं। इस शक्ति का अधिकारी, अपने विवेक के अनुरूप अपने विचार, वाणी तथा कर्म को रखने का अभ्यस्त होने के कारण जब भी कर्म करने उतरता है, तो उसके कर्म के पीछे उसका संपूर्ण व्यक्तित्व ही क्रियाशील होता है, उसकी विचार-शक्ति तथा विवेक अर्थात् आत्म-तत्त्व की असीम शक्ति का भी पूरा योगदान उसे उपलब्ध होता है। अब इस शक्ति का अधिकारी अल्प काल में ही चामत्कारिक सफलता अर्जित कर लेता है। सामान्य व्यक्तित्व और सशक्त चरित्रवाले व्यक्तित्व में उतना ही अंतर है, जितना उन सूर्य की किरणों में होता है, जो सामान्यतया तो छितरी हुई पड़ती हैं, पर उन्हीं को जब एक 'लेन्स' से केंद्रीकृत कर दिया जाता है, तो फिर वे जहाँ पड़ती हैं, अग्नि प्रज्वलित करती चली जाती हैं। सामान्य व्यक्ति का विवेक, विचार, वाणी, कर्म अलग-अलग होने के कारण, व्यक्तित्व छितरा हुआ होता है, जबकि उन्हीं चारों का

एकीकरण होने पर, चरित्र शक्तिवाला व्यक्ति जहाँ भी अपने को लगाता है, एक तीर की तरह जाता है। इसीलिए सामान्यजनों के मुकाबले, एक सशक्त व्यक्तित्व द्‌वारा प्राप्त होनेवाले फलों में जमीन-आसमान का अंतर आ जाता है।

इस तरह इस शक्ति के अधिकारी के लिए भौतिक जगत् में चामत्कारिक सफलताएँ तथा असाधारण उपलब्धियाँ अर्जित करना एक सामान्य सी बात हो जाती है।

(2) वाणी में अद्‌भुत शक्ति— एकीकृत व्यक्तित्व का वोल्टेज अत्यंत विराट होता है। भाषा में शब्द तो वही होते हैं, पर वाणी की शक्ति व्यक्तित्व के वोल्टेज पर निर्भर करती है। तभी विवेकानंद सरीखा व्यक्तित्व जब 'शिकागो' की सभा में 'माई ब्रदर्स एंड सिस्टर्स ऑफ अमेरिका' कहता है, तो एकबारगी सभाकक्ष में बैठा प्रत्येक नर-नारी यह साक्षात् अनुभव करने लगता है कि जो भव्य पुरुष माइक पर बोल रहा है, वह वस्तुत: उसका सगा भाई ही है और ऐसे दिव्य भाई को पाकर प्रेमविभोर होकर समस्त नर-नारी कई मिनट तक तालियाँ बजाते रह जाते हैं और कितनों की तो अश्रुधाराएँ ही बह पड़ती हैं।

यही शक्ति जब दिव्य स्तरों तक अर्जित हो जाती है, तो क्राइस्ट सरीखा व्यक्ति जब समुद्री तूफान को शांत होने का आदेश देता है, तो उसे शांत होना पड़ता है अथवा कृष्ण सरीखा व्यक्ति जब जयद्रथ के वध के लिए सूर्य को कुछ काल के लिए अस्त होने का आदेश करता है, तो सूर्य को अस्ताचल में जाना पड़ जाता है।

सामान्य मनुष्य जब यह शक्ति कुछ ही स्तर तक अर्जित कर लेते हैं, तो उनकी एक आवाज पर हजारों न्योछावर होने के लिए तत्पर हो जाते हैं। युद्‌ध में, डाकुओं का सामना करने में तथा भयंकर परिस्थिति में चरित्रवान् नेतृत्व के अधीन, अधीनस्थ कार्यकर्ता निर्भय हो, प्राणों की बाजी लगाने पर उद्यत हो जाते हैं।

भौतिक जगत् में चाहे जो कार्यक्षेत्र हो, मनुष्य को अन्य मनुष्यों से ही काम लेना अनिवार्य होता है। जब वाणी में शक्ति होती है, तो उस व्यक्ति को सहयोग तथा अपनी आज्ञाओं का पालन अत्यंत सहजता से उपलब्ध रहता है और उसके कार्य द्रुत गति से होते हैं।

(3) नितांत नास्तिक अथवा केवल भौतिक सुखों को भोगने की इच्छा रखनेवालों को इस शक्ति के अर्जित करने से क्या मिलेगा? यदि कोई नितांत नास्तिक है और घोर भौतिकवाद में ही विश्वास करता है, तो ऐसे व्यक्ति के लिए तो इस शक्ति को अर्जित करना अत्यंत आवश्यक है।

भौतिक विषयों में भी, जिस पराकाष्ठा का सुख, विवेक-मन-वचन-कर्म को एकरूपता में रखनेवाला अभ्यासी भोग सकता है, उसकी साधना न करनेवाला, उस स्तर के सुख के आस-पास भी नहीं पहुँच सकता।

ऐसा क्यों है? इसे समझना होगा।

मन-वचन-कर्म को एकरूपता में रखनेवाला अभ्यासी जैसा अंदर है, वैसा ही बाहर। उसका व्यक्तित्व अत्यंत निर्मल होता है। वह एक साफ धुले, निर्मल शीशे की तरह होता है। अब यदि ऐसा कोई शीशा किसी लाल कंबल के ऊपर रख दिया जाए, तो वह सारा काँच एक कोने से दूसरे कोने तक लाल रंग में रँगा दिखता है। फिर वही शीशा उठाकर यदि हरे कंबल पर रखा जाए, तो एक कोने से दूसरे कोने तक वह हरे रंग में रम जाता है तथा इसी प्रकार जिस भी रंग की वस्तु पर उसे रखा जाएगा, वह शीशा संपूर्ण रूप से उसी रंग में पूरी तरह रम जाता है।

ठीक उसी प्रकार, विवेक-मन-वचन-कर्म को एकरूपता में रखने का अभ्यासी जब किसी भौतिक विषय को भोगने चलता है, तो उसका शरीर ही नहीं, अंतरतम तक का तत्त्व उस भोग के सुख का अनुभव करता है। इस तरह उस विषय भोग में जितना रस वह पाता है, उतना दूसरा पा ही नहीं सकता। इतना ही नहीं है, अंत:करण की

गहराइयों तक संपूर्णता से भोगने के पश्चात् जब वह व्यक्ति उस विषय से हटता है, तो उसकी निवृत्ति भी उतनी ही संपूर्ण होती है। अत: उस विषय को भोगने के उपरांत उस विषय की वासना का थोड़ा भी अंश उसके व्यक्तित्व में नहीं रह जाता। जैसे लाल रंग के कंबल से जब शीशा उठा, तो फिर तनिक भी लालिमा उस शीशे में बसी नहीं रही तथा जब हरे रंग पर बैठा, तो पिछले रंग का कोई अंश उस नए रंग को अपनाने में बाधक नहीं हुआ। उसी प्रकार इस शक्ति का अधिकारी जब एक विषय का पूर्ण भोग करके दूसरे विषय का भोग करने उतरता है, तो दूसरे विषय को भी उसी पूर्णता से भोगता है। पुन: जब वह पूर्णता से भोगेगा, तो निवृत्ति भी पूर्णता से ही होती है। इस तरह भौतिक प्यासों की तुष्टि जिस स्तर की वह प्राप्त करता है, दूसरा कर ही नहीं सकता।

इसके विपरीत जिसके विवेक-विचार-वाणी-कर्म एकरूपता में रहने के अभ्यस्त नहीं हैं, उस व्यक्ति के लिए भौतिक विषयों को पूर्णता से भोग पाना संभव ही नहीं है और जब भोग पूर्णता से नहीं हो पाता, तो निवृत्ति भी पूर्णता से नहीं हो पाती। अत: जब एक विषय से पूरी निवृत्ति नहीं होती, तो मन की वासना उसी विषय में अटकी सी रह जाती है। फलस्वरूप वह जब अगले विषय को भोगने चलता है, तो पिछले विषय की वासना उसके भोग को और अपूर्ण बनाती है तथा अगले विषय से निवृत्ति भी और अधिक अपूर्ण रहती है। इस तरह वह व्यक्ति हर विषय को पूर्णता से भोगने की प्यास लिए, सभी विषयों को एक बढ़ती हुई अपूर्णता से ही भोगता है, जिसके फलस्वरूप उसे निवृत्ति में एक बढ़ती हुई अपूर्णता ही हाथ लगती है और वह विषय-भोगों के अनंत चक्र में फँसेन के उपरांत भी उन्हें भी पूरी तरह भोगने में असमर्थ रहता है। अत: जहाँ वह किसी विषय-भोग में सुख और आनंद लेने चला था, वहाँ एक अनबूझ प्यास ही हाथ लगती है, जिससे वह और अधिक बेचैन और अशांत होता जाता है। इसीलिए जहाँ-तहाँ संसार में, विशेषकर पाश्चात्य सभ्यताओं में, हम देखते हैं कि कितने ही प्राणी समस्त विषयों के भोग में लिप्त तो देखे जाते हैं, पर तृप्त नहीं। असंख्य भोगों को भोगने के उपरांत, शांति और चैन की जगह, केवल अशांति और बेचैनी ही उनके हाथ लगती है।

अत: जो वास्तव में खाने-पीने और मौज उड़ाने के भौतिकवाद में विश्वास करते हैं, उनके लिए तो विवेक, मन, वचन और कर्म में एकरूपता लाने का अभ्यास करना अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक हो जाता है।

(4) समाज में असाधारण सम्मान, प्रतिष्ठा और यश-प्राप्ति का साधन—मानव एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने पर हर व्यक्ति की एक नितांत स्वाभाविक लालसा रहती है कि लोग उसकी प्रशंसा करें। अत: प्रशंसा के प्रलोभन के वशीभूत होकर वह अकसर अन्य लोगों के सामने अपना वह रूप प्रदर्शित करता है जो उन परिस्थितियों में उसका होना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि जो रूप वह प्रदर्शित कर रहा है, वही उसका असली रूप भी हो। अत: शनै:-शनै: वह अपने ही बनाए इस जाल में फँसता सा जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिए दो ही विकल्प रह जाते हैं। या तो वह अपने अंदर के रूप को उसी के अनुरूप ढाले जिस रूप का प्रदर्शन उसने कर रखा है, या फिर उस रूप तक न पहुँच पाने की अपनी हार को स्वीकार कर, अपने असली रूप को ही प्रदर्शित करे। जो व्यक्ति इन दोनों ही विकल्पों को ठुकराता है, वह अपने लिए समस्याओं के वे बीज बोता है, जिनकी जब फसल तैयार होती है, तो वह अपने को कहीं का नहीं पाता। वास्तविकता यह है कि हमारी बहुत सी समस्याएँ हमारे इन्हीं दो रूपों को बनाए रखने के कारण पैदा होती हैं। यही नहीं, दो रूपों को धारण करनेवाला व्यक्ति हर समय अंतरतम में एक घोर संघर्ष में फँसा रहता है। विदित है कि जो स्वयं से ही संघर्ष कर रहा हो उसका दूसरों के साथ व्यवहार सौहार्दपूर्ण हो, फिर संभव नहीं रहता। इसके विपरीत जिसके भीतर और बाहर के रूप में अंतर नहीं है, उसका स्वयं से कोई संघर्ष नहीं रहता। अत: वह समाज में सहज रूप से सबके प्रति सौहार्द रखता है और सब उसके प्रति भी वैसा ही सौहार्द रखते हैं। इसी के साथ-साथ उस व्यक्ति को समाज में असाधारण सम्मान और प्रतिष्ठा भी मिलती

है। जो सम्मान और प्रतिष्ठा बहुत से लोग लाखों-करोड़ों रुपए खर्च करके भी अर्जित नहीं कर पाते, एक सशक्त चरित्रवाला सहज में ही प्राप्त कर लेता है।

(5) अनंत पुरुषार्थ उसका आभूषण बनता है—हमें जीवन में कुछ व्यक्ति ऐसे देखने को मिलते हैं, जिन्हें देखकर मन में यह धारणा बनती है कि यह व्यक्ति किसी भी परिस्थिति का मुकाबला करने में सक्षम है। कैसी भी समस्या आ जाए, उससे निपटकर, अपने कर्तव्य को निभाना, उसके लिए बाएँ हाथ का खेल सा मालूम पड़ता है। मानो वह हर परिस्थिति को अपने अधीन बनाने की क्षमता रखता हो। उसमें एक अनोखा पुरुषार्थ दिखता है तथा उसमें एक ऐसा आत्मविश्वास व्याप्त रहता है कि जिसे देखकर उसके समकक्ष लोग अचरज करते हैं कि वैसा ही आत्मविश्वास उनके अंदर क्यों नहीं जागृत हो पाता। इसी के साथ-साथ उसमें एक अद्‌भुत विश्वसनीयता भी होती है, जिसके फलस्वरूप वह सहज में सबका विश्वासपात्र बन जाता है। सांसारिक दृष्टि से ऐसा व्यक्ति चाहे निम्नतम स्तर का कर्मचारी हो अथवा बड़ा अधिकारी, उसका यश, उसकी कीर्ति अपने दायरे में इतनी फैलने लगती है कि उसके छिटकने पर वह एक अनोखा आत्म-गौरव अनुभव करता है।

उपरोक्त लक्षणों से युक्त व्यक्तित्व समाज में जहाँ-तहाँ हर जगह मिलते हैं। यदि हम ऐसे समस्त व्यक्तियों का बारीकी से विश्लेषण करें, तो सबमें एक लक्षण अनिवार्य रूप से पाएँगे। वे सभी अत्यंत सशक्त चरित्र के व्यक्ति पाए जाएँगे।

अत: समाज में यदि हम सम्मान, प्रतिष्ठा, यश, कीर्ति, विश्वनीयता आदि प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसा बनना चाहते हैं कि जिसके पुरुषार्थ के आगे जीवन की कैसी भी समस्या, कैसी भी असंभव दिखनेवाली परिस्थिति सुगम बन जाए, तो उसकी एकमात्र कुंजी यही है कि हम जीवनपर्यंत विवेक, मन, वचन और कर्म में एकरूपता के काल को निरंतर अधिकाधिक बढ़ाते हुए एक अत्यंत सशक्त चरित्र क निर्माण अपने अंदर करें।

(6) वह प्राप्त होता है कि जिसके बाद फिर और कुछ भी पाने को शेष नहीं रहता—संसार के हर शाश्वत दर्शन में, समस्त दिव्य शास्त्रों में, प्रत्येक संप्रदाय में जिस बात पर अद्‌भुत मतैक्य है, वह यह कि मानव, प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट रचना है और प्रत्येक मानव के जीवन का प्रमुख उद्‌देश्य 'पूर्णता' प्राप्त करना है। मनुष्य को प्रकृति द्‌वारा जो विशिष्ट अधिकार दिए गए हैं उनके विश्लेषण से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि मानव प्रकृति की उत्कृष्टतम रचना है और मानव जीवन का प्रमुख उद्‌देश्य आत्मा के लिए असीमता प्राप्त करना है। 'आत्मा' के लिए असीमता प्राप्त करना, 'पूर्णता प्राप्त करना', 'आत्मानुभूति होना', 'निर्वाण प्राप्त करना', 'ब्रह्मलीन होना', 'परम पद प्राप्त करना' आदि ये सारे वाक्य अभिन्न रूप से एक ही गति के सूचक हैं।

पूर्णता क्या है?

कोई भी चीज यदि अंशों में विभाजित है, तो उन सभी अंशों को समन्वित करने पर वह चीज पूर्ण हुई मानी जाती है।

विदित है कि यदि पूर्णता प्राप्ति मानव जीवन का उद्‌देश्य है, तो यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि मनुष्य कई अंशों में बँटा पड़ा होगा तथा उन अंशों को समन्वित करके एकीकृत करने पर ही वह पूर्ण हो सकेगा। इस दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि मानव के लिए पूर्णता प्राप्ति का दायित्व शरीर से संबंधित नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्य शरीर कहीं से भी खंडित नहीं पाया जाता। स्पष्ट है कि पूर्णता प्राप्ति का तात्पर्य केवल मनुष्य के अंतर्जगत् में पाई जानेवाली समस्त शक्तियों को ही समन्वित करने से होगा। इस दृष्टि से देखने पर मनुष्य में जो शक्तियाँ सक्रिय हैं वे हैं—

1. विवेक-शक्ति, 2. बुद्‌धि की शक्ति अर्थात्—विचार-शक्ति, 3. वाणी की शक्ति, 4. शरीर की शक्ति अर्थात्—

कर्म की शक्ति तथा 5. अहंकार की शक्ति।

इन पाँचों में अहंकार शक्ति नितांत कृत्रिम और अवास्तविक शक्ति है। अर्थात् समन्वित करनेवाली शक्तियों में इस कृत्रिम शक्ति की गणना न की जाए, तो हमारे समन्वय में किंचित् अंतर नहीं पड़ेगा।

अत: पूर्णता प्राप्ति से तात्पर्य केवल विवेक, विचार, वाणी और कर्म इन चारों को ही समन्निवत करने से हो सकता है। वस्तुत: इन्हीं चारों को अखंड रूप से निरंतर समन्वित रखने को ही पूर्णता कहते हैं।

महाशक्ति चरित्र के सृजन के लिए भी इन्हीं चारों को समन्वित रखने के काल को निरंतर बढ़ाए जाने का ही विधान है। विदित है कि जो भी इन चारों को निरंतर समन्वित रखने में सफल हो जाएगा, उसके लिए निश्चय से कहा जा सकेगा कि उसने पूर्णता प्राप्त कर ली। वास्तव में पूर्णता प्राप्त करने से तात्पर्य केवल उन गुणों को प्राप्त करने से है, जो उस परम पूर्ण परमात्मा में सतत उपलब्ध हैं। वे गुण क्या हैं, उनमें भी आदि काल से आज तक संसार-भर में निरपवाद रूप से मतैक्य रहा है। वे प्रमुखत: हैं अमरत्व, चिन्मयता, परम शांति, परम आनंद आदि।

अत: मानव का मौलिक उद्देश्य—परम शांति, परम आनंद तथा अमरतत्व की प्राप्ति। यही वह स्थित है कि जिसे प्राप्त करने पर अन्य कुछ प्राप्त करने को नहीं रह जाता।

पर मनुष्य की सबसे बड़ी विषमता यही है कि यह चौबीसों घंटे निरंतर चारों शक्तियों को समन्वित रख सके यह असंभव है। जब मानव केवल कुछ काल के लिए समन्वित स्थिति में रहने के लिए समर्थ पाया जाता है, तो फिर स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या फिर पूर्णता प्राप्ति केवल स्वप्न ही है या यह कोई प्राप्य स्थिति है?

मनुष्य प्रकृति की उत्कृष्टतम रचना क्यों व कैसे?

मनुष्य शरीर की उत्कृष्टता का मूल रहस्य यही है कि प्रकृति के एक अद्भुत विधान के अनुकूल जो अमरतत्व, चिन्मयता, परम शांति, परम आनंद आदि उस परम तत्त्व को पूर्णत्व की स्थिति में बने रहने पर उपलब्ध हैं, मनुष्य को वही परम गतियाँ केवल पूर्णता-प्राप्ति के मार्ग पर सतत लगे रहने में ही उपलब्ध हो जाती हैं। मनुष्य शरीर की उत्कृष्टता का दूसरा रहस्य यह है कि समस्त ब्रह्मांड में एकमात्र मनुष्य ही सृष्टि की वह रचना है जो स्वयं अपनी प्रेरणा से कर्म करके अपने को पूर्णता के मार्ग पर लगाने का सामर्थ्य रखता है। किसी भी अन्य योनि के जीव दानव-देव-गंधर्व आदि किसी में यह सामर्थ्य नहीं है। इसी अद्भुत सामर्थ्य को प्राप्त करने के लिए ही देवता भी मनुष्य शरीर प्राप्त करने के लिए तरसते ही रहते हैं।

इन दो अद्भुत वरदानों के आधार पर मनुष्य कितना भी अपूर्ण क्यों न हो, जिस क्षण से वह अपने परखे हुए विवेक के अनुरूप विचार, वाणी और कर्म को समन्वित रखने के लिए 'प्रयासशील' हो जाएगा तथा जब तक वह इस प्रकार सतत प्रयासशील बना रहेगा, वह निरंतर उसी परम शांति और परम आनंद में डूबता-उतराता रहेगा जो साक्षात् परमात्मा को पूर्ण रहने पर उपलब्ध हैं। जिसे वह परमानंद उपलब्ध हो जाए, उसे फिर अन्य कुछ पाना भी शेष नहीं रह जाता।

जिन मानव-रत्नों को आत्मा को तुष्ट करनेवाले उस परमानंद का अनुभव एक बार हो जाता है, उन्हें फिर संसार का सारा धन, ऐश्वर्य, प्रभुसत्ता, ख्याति आदि सारी उपलब्धियाँ तृण से भी कम महत्त्व की दिखती हैं।

अत: मनुष्य सतत प्रयासशील न भी बना रहे, पर अपनी जागृत अवस्था के अधिकांश काल में भी यदि वह प्रयासशील बना रहेगा, तो भी वह दु:खों से रहित तथा निरंतर आनंद से परिपूर्ण, असीम, अनंत पुरुषार्थ से युक्त जीवन बिताने का अधिकार प्राप्त कर जाएगा।

माँ की पुकार

माँ भारत का कहना है कि ''ऐ वत्स! जिस महाशक्ति के सृजन में अपने शरीर के अतिरिक्त और कोई भी लागत न लगती हो और बदले में अनेकानेक चामत्कारिक उपलब्धियों के साथ अंततः वह परम गति भी प्राप्त हो जिसे पाना मनुष्य का मौलिक उद्देश्य है, उस महाशक्ति के सृजन में फिर अब विलंब क्यों?''

''अब सोचने-विचारने का समय नहीं। उठ और चल पड़ अपने को एक परम शक्तिपुंज बनाने के मार्ग पर! जब मेरा प्रत्येक बेटा एक शक्तिपुंज बनेगा, तो मेरी क्या गति होगी, उसे सोचकर ही मैं आत्म-विभोर हुई जाती हूँ। मैं उस दिन की राह देख रही हूँ, जब मेरा हर बेटा एक शक्तिपुंज बनकर मेरा ही नहीं समस्त विश्व का भार हरनेवाला महामानव बनेगा।''

❑❑❑